नागरिकशास्त्र के सिद्धान्त

लेखक

सत्यकेतु विद्यालंकार डी लिट् (पेरिस)
(मंगलाप्रसाद पारितोषिक विजेता)

U. G. C. TEXT BOOKS

प्रकाशक
सरस्वती सदन, मसूरी

'६६१]   [मूल्य ४) रुपये
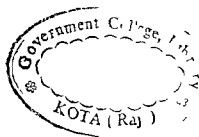
प्रकाशक
सरस्वती सदन,
मसूरी (उत्तर प्रदेश)

द्वितीय सशोधित सस्करण १९६१

मुद्रक
श्री गोपीनाथ सेठ
नवीन प्रस, दिल्ली

प्रस्तावना

नागरिकशास्त्र एक अत्यन्त उपयोगी विज्ञान है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है जो समाज मे रहता है, और समाज मे रहकर ही अपनी उन्नति करता है। अत उसके लिए यह जानना बहुत आवश्यक है, कि सामाजिक जीवन के कौन-कौन से विविध रूप हैं, और उनके प्रति उसके क्या कर्तव्य हैं। परिवार, ग्राम, नगर, राज्य आदि मनुष्य के सामाजिक जीवन के भिन्न भिन्न रूप हैं। उनका अग होने के कारण मनुष्य को जहां अनेक अधिकार प्राप्त होते हैं, वहाँ उनके प्रति उसके अनेक कर्तव्य भी हो जाते हैं। अपने इन कर्तव्यो और अधिकारो को जाने बिना मनुष्य न अपनी वैयक्तिक उन्नति कर सकता है, और न दूसरों की उन्नति मे हाथ ही बँटा सकता है। नागरिकशास्त्र मनुष्य के इन्ही कर्तव्यो और अधिकारो का प्रतिपादन करता है और साथ ही यह भी बताता है कि समाज मे रहते हुए मनुष्य को अपना व्यवहार व आचरण किस प्रकार का रखना चाहिए। इसी कारण नागरिकशास्त्र का अध्ययन सबके लिए बहुत उपयोगी और आवश्यक है।

स्वराज्य की स्थापना के बाद भारत के विद्यार्थियों के लिए नागरिकशास्त्र का अध्ययन करना और भी अधिक आवश्यक हो गया है। सदियो की गुलामी के बाद भारत अब स्वतन्त्र हुआ है, और हम लोगो को यह अवसर मिला है कि हम अपने देश की उन्नति कर सकें। यह उन्नति तभी सम्भव है, जबकि भारत के सब निवासी अपने कर्तव्यो को समझें, और उनके पालन के लिए कटिबद्ध हो जाएँ। हमारे सामाजिक जीवन के विविध रूप कौन से हैं, राज्य को मनुष्य के सामुदायिक जीवन का सर्वोत्कृष्ट रूप क्यो माना जाता है, राज्य का क्या प्रयोजन है, लोकतन्त्र शासन प्रणाली क्यो उपयोगी है और उसे किस प्रकार सफल बनाया जा सकता है—इन सब बातो को जाने बिना हम स्वतन्त्र भारत के प्रति अपने कर्तव्यो का कदापि पालन नहीं कर सकते। भारत की स्वतन्त्रता तभी स्थायी होगी और हमारा देश तभी उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो सकेगा, जबकि भारत के सब नागरिकों को अपने अधिकारों और कर्तव्यो का ज्ञान होगा और वे अपने अधिकारो की रक्षा करने और कर्तव्यो के पालन के लिए जागरूक और कटिबद्ध होंगे।

आज जो बालक हैं, देश की बागडोर कल उन्ही के हाथो मे होगी। इस कारण विद्यार्थियो के लिए यह आवश्यक है कि वे उन सब बातो का भली भाँति ज्ञान प्राप्त कर लें, जो उन्हे भारत का उत्तम नागरिक बनने म सहायक होंगी।

यह पुस्तक विद्यार्थियो के लिए ही लिखी गई है। उत्तर प्रदेश के हाई स्कूल और इन्टरमीडिएट बार्ड, और राजस्थान, बिहार, मध्यप्रदेश आदि के शिक्षा बोर्डो ने एफ० ए० व हायर सेकेण्डरी कक्षाओ के लिए नागरिकशास्त्र का जो नया पाठ्यक्रम तैयार किया है, उसी के अनुसार इस पुस्तक को लिखा गया है। यह ध्यान मे रखा गया है, कि पुस्तक की भाषा सरल हो और विषय के प्रतिपादन का ढग रुचिकर हो। मुझे विश्वास है, कि विद्यार्थी इस पुस्तक को उपयोगी पाएँगे और इससे "नागरिकशास्त्र" का यथोचित ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

सत्यकेतु विद्यालकार

विषय-सूची

पहला अध्याय

नागरिकशास्त्र और उसका क्षेत्र

(Meaning of Civics and its Scope)

मनुष्य और समाज

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह ससार मे अकेला आता है, पर अकेले रहकर जीवन नही बिताता। उसका पालन पोषण समाज मे होता है, और बडा होकर वह समाज मे ही रहता है। इसीलिए उसके अच्छे-बुरे कामो का दूसरो पर भी असर पडता है। एक आदमी ने केला खाया और उसके छिलके को सडक पर फेंक दिया, किसी अन्य मनुष्य का पैर उस पर पड गया, और वह गिर पड़ा। गांव के लोग कुएँ व तालाब का पानी पीते हैं। किसी घर मे कोई आदमी हैजे से बीमार पडा। उसके घरवाले बीमार के कपडे धोने तालाब पर गये। परिणाम यह हुआ कि हैजे के कीटाणुओ से तालाब का पानी विषाक्त हो गया। जिन लोगो ने उस पानी को पिया, वे बीमार हो गये और सारे गाँव मे हैजा फैल गया। क्योकि हम समाज मे रहते हैं, इसलिए यह स्वाभाविक है कि हमारे कामो का असर दूसरो पर भी पडे। यदि हम गाँव या शहर मे न रहकर जगल मे अकेले रहते, तो हम जहां चाहे केले के छिलके फेंकते, जहाँ चाहे अपने मैले कपडे धोते। पर क्योकि हम समाज मे रहते हैं, अन्य बहुत से आदमी हमारे साथ निवास करते हैं, अत हमे यह सोचना पडता है कि हम कोई ऐसा कार्य न करें, जिससे दूसरो को नुकसान पहुँचे। हमे यह सोचने की आवश्यकता होती है, कि हम अन्य लोगो के साथ किस प्रकार का बर्ताव करे और किस प्रकार सबके साथ मिल-जुलकर रहे।

क्योकि मनुष्य अन्य बहुत-से मनुष्यो के साथ मिलकर रहता है, इसी कारण उसे 'सामाजिक प्राणी' (Social being) कहा गया है। मनुष्य की सामाजिकता के दो कारण हैं—

(१) यह मनुष्य का स्वभाव है, कि वह समाज मे रहे। जैसे बोलना, विचार करना और वाणी द्वारा अपने विचारो को प्रकट करना मनुष्य की प्रकृति (Nature) है, वैसे ही अकेले न रहकर समुदाय बनाकर रहना भी मनुष्य की प्रकृति है।

(२) जीवन की आवश्यकताएँ भी मनुष्य को इस बात के लिए विवश करती हैं, कि वह समुदाय मे सगठित हो। अकेला रहता हुआ मनुष्य न अपनी रक्षा कर

सकता है और न जीवन की आवश्यकताओं को ही पूरा कर सकता है। कला, विज्ञान, साहित्य, दर्शन आदि की उन्नति कर उत्कृष्ट प्रकार के जीवन को बिता सकने का प्रश्न तो समाज के अभाव में उत्पन्न ही नहीं होता।

इसमें संदेह नहीं, कि समाज में रहने के कारण मनुष्य अपने जीवन को बहुत सुखी, सम्पन्न व समृद्ध बना सका है। पर जब हम समाज में रहते हैं, तो हम पर बहुत-सी जिम्मेवारियाँ भी आ जाती हैं, हमारे बहुत-से कर्तव्य भी हो जाते हैं। हमें पग-पग पर यह सोचना पड़ता है कि हमारे कार्य का दूसरों पर क्या प्रभाव पड़ता है। इसी दृष्टि से हमें अपने कार्यों को नियन्त्रित व मर्यादित करने की आवश्यकता होती है।

समाज में रहने के कारण यह भी स्वाभाविक है, कि हमारा दूसरों से अनेक बातों के सम्बन्ध में संघर्ष हो। इस संघर्ष के प्रधान कारण निम्नलिखित होते हैं—

(१) यह सम्भव है, कि एक आदमी की किसी इच्छा से दूसरे के हित में बाधा उत्पन्न होती हो। दो आदमियों के मकान एक-दूसरे के पड़ोस में हैं। उनमें से एक आदमी अपने मकान को तिमंजिला करना चाहता है, जिसके कारण दूसरे आदमी के मकान की हवा व रोशनी रुक जाती है। इस बात को लेकर उनमें झगड़ा अवश्य पैदा होगा।

(२) मनुष्यों की रुचि और विचार में भेद होता है। एक आदमी मांस खाना पसंद करता है, उसे अपने घर पर मुर्गी या कबूतर को जिबह करने में कोई अनौचित्य अनुभव नहीं होता। पर उसी के पड़ोस में दूसरा आदमी ऐसा रहता है, जो अहिंसा को परम धर्म मानता है और जिसे मांस की गंध तक से घृणा है। यह स्वाभाविक है इन दोनों पड़ोसियों में मांस व हिंसा के प्रश्न पर मतभेद व झगड़ा हो।

(३) सब लोग एक धर्म के अनुयायी नहीं होते। भारत में हिन्दू लोग भगवान् की मूर्तियों की मंदिरों में प्रतिष्ठा करते हैं, और आरती उतार कर या अन्य विधि से उनकी पूजा करते हैं। कीर्तन और घण्टे-घड़ियाल व शंख बजाना, उनकी पूजा के आवश्यक अंग हैं। पर मुसलमान लोग एक अल्लाह में विश्वास रखते हैं और उसकी पूजा के लिए नमाज पढ़ते हैं। नमाज के समय वे किसी भी प्रकार की आवाज़ को सहन नहीं करते। यदि हिन्दुओं और मुसलमानों के धर्म स्थान समीप-समीप हों, तो आरती और नमाज के प्रश्न पर उनमें झगड़ा पैदा हो जाता है।

(४) मनुष्यों के आर्थिक हित भी एक-सदृश नहीं होते। कोई आदमी साहूकार का पेशा करता है, वह अधिक-से-अधिक सूद पर अपने रुपये को उधार देना चाहता है। कर्ज लेने वाला आदमी चाहता है, कि कम-से-कम सूद पर उसे रुपया मिल जाए। लेन-देन के सवाल पर प्रायः मनुष्यों में झगड़े हो जाते हैं। इसी तरह जमींदार और किसान, मिल-मालिक और मजदूर, मकान-मालिक और किरायेदार आदि में आर्थिक

प्रश्नो को लेकर झगडे पैदा होते रहते हैं।

(५) संसार मे अनेक राज्य हैं। अधिक शक्तिशाली राज्यो मे यह प्रवृत्ति होती है कि वे निर्बल राज्यो को जीतकर अपने अधीन कर लें, या किसी अन्य प्रकार से निर्बल राज्य मे अपने कुछ विशेष अधिकार प्राप्त कर लें। यह प्रवृत्ति भी मनुष्यो मे झगडो व युद्धो को जन्म देती है।

इसी तरह के अन्य भी अनेक कारण हैं, जिनसे समाज मे रहते हुए मनुष्यो मे संघर्ष होते रहते हैं। इन संघर्षो के कारण मनुष्यो की उन्नति मे रुकावट पैदा हो जाती है। इसलिए मनुष्य को यह सोचना पड़ता है, कि वह कोई ऐसे उपाय करे, जिनसे वह सबके साथ रहता हुआ शान्तिपूर्वक अपनी उन्नति मे तत्पर रह सके।

नागरिकशास्त्र का प्रयोजन—

क्योकि मनुष्य समाज मे रहता है, और उसकी उन्नति, हित और कल्याण समाज पर निर्भर होते हैं, अत उसके लिए यह जानना बहुत आवश्यक है कि वह समाज मे जिन अन्य मनुष्यो के साथ रहता है, उनके साथ किस प्रकार का व्यवहार करे। प्रत्येक मनुष्य निम्नलिखित समुदायो का अग होता है —

(१) किसी परिवार का।

(२) किसी ग्राम या नगर का।

(३) किसी जाति व बिरादरी का।

(४) किसी धार्मिक सम्प्रदाय का।

(५) आर्थिक क्षेत्र मे भी उसका बहुत-से अन्य मनुष्यो के साथ सम्बन्ध होता है।

(६) वह किसी राज्य का भी सदस्य होता है।

(७) सम्पूर्ण मानव-समाज का भी वह अग है।

अब इतने विविध प्रकार के समुदायो का अग व सदस्य होने के कारण मनुष्य के लिए यह आवश्यक हो जाता है, कि वह इनमे इस ढग से रहे, जिससे अन्य लोगो के साथ उसका संघर्ष व झगडा न हो। क्योकि इन समुदायो का अग होने के कारण मनुष्य को अनेक प्रकार के लाभ पहुँचते हैं, इसलिए उनके प्रति उसके अनेक कर्तव्य भी हो जाते हैं। नागरिकशास्त्र हमे यही सिखाता है, कि हम जिन अन्य मनुष्यो के साथ निवास करते हैं, उनसे किस प्रकार का व्यवहार करे, जिन समुदायो के हम अग हैं, उनके प्रति हमारे क्या कर्तव्य है, विविध समुदायो के अग होने के कारण हमारे क्या अधिकार हैं, और किस प्रकार हम अपने पडोसियो के साथ मिलकर अपनी व्यक्तिगत और सामूहिक उन्नति कर सकते हैं।

नागरिकशास्त्र का अर्थ—अंग्रेजी मे नागरिकशास्त्र के लिए सिविक्स (Civics)

शब्द है। नागरिकशास्त्र शब्द अंग्रेजी के 'सिविक्स' का ही अनुवाद है। सिविक्स शब्द लैटिन भाषा के 'सिविताम' (Civitas) शब्द से बना है। लैटिन मे 'सिवितास' का अर्थ है, नगर। प्राचीन समय मे राज्य छोटे-छोटे हुआ करते थे। इन छोटे-छोटे राज्यो को प्राचीन ग्रीस मे 'पोलिस', प्राचीन इटली मे 'सिविताम' और प्राचीन भारत मे 'जनपद' कहा जाता था। आजकल के ऐतिहासिक इन छोटे-छोटे राज्यो के लिये नगर-राज्य (City state) शब्द का प्रयोग करते हैं। प्राचीन समय मे मनुष्यो का सामाजिक जीवन इन नगर-राज्यो मे ही केन्द्रित रहता था। अत नगर-राज्यो मे केन्द्रित मनुष्यो के सामाजिक जीवन का जो शास्त्र अध्ययन करता हो, उसे सिविक्स कहा जाता था। आजकल के राज्य बहुत विशाल है। उनमे कितने ही प्रान्तो, जिलो नगरो व ग्रामो का समावेश है। मनुष्य का सामाजिक जीवन किसी एक नगर-राज्य में केन्द्रित न रहकर इन बहुत से ग्रामो, नगरो, जिलो और विशालकाय राज्यो मे केन्द्रित है। पर फिर भी पुरानी परम्परा के अनुसार मनुष्य के सामाजिक जीवन का अध्ययन करने वाले इस शास्त्र को 'नागरिकशास्त्र' (Civics) ही कहा जाता है।

नागरिकशास्त्र का लक्षण—विविध विद्वानों ने नागरिकशास्त्र का लक्षण विविध प्रकार से किया है। इस शास्त्र के अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये इनमे से कुछ लक्षणों का यहाँ उल्लेख करना उपयोगी होगा। एक विद्वान् के अनुसार—"नागरिकशास्त्र उस विज्ञान को कहते हैं, जो कि सर्वोत्तम सामाजिक जीवन के लिये आवश्यक शर्तों के अन्वेषण का प्रयत्न करता है।"[१] एक अंग्रेज लेखक गाउल्ड (Gould) के अनुसार "नागरिकशास्त्र उन संस्थाओं, आदतों, कार्यों और भावना का अध्ययन है, जिसके द्वारा कोई स्त्री या पुरुष अपने कर्तव्यों का पालन करने और एक राजनीतिक समाज के सदस्य होने के कारण अपने को प्राप्त होने वाले लाभो को प्राप्त करने मे समर्थ हो सके।"[२] डा० ई० एन० ह्वाइट के अनुसार "नागरिकशास्त्र मानव ज्ञान की वह न्यूनाधिक उपयोगी शाखा है, जो नागरिक के साथ सम्बन्ध रखने वाले सब विषयो (सामाजिक, राजनीतिक, बौद्धिक, आर्थिक और धार्मिक) पर विचार करता है, चाहे ये विषय भूत काल के साथ सम्बन्ध रखते हो, चाहे वर्तमान काल के साथ और चाहे भविष्य काल के साथ, और चाहे ये स्थानीय

---

१. "Civics is the Science that seeks to discover the conditions of best possible social life"

२. "Civics is the study of institutions, habits, activities and spirit by means of which a man or a woman may fulfil the duties and receive the benefits of membership of a political community"

—P C Gould

हो, या राष्ट्रीय हो या सारे मानव समाज के साथ सम्बन्ध रखते हो।"[१]

इन विविध लक्षणो पर विचार करके हम निम्नलिखित परिणाम पर पहुँचते हैं—

(१) नागरिकशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय मनुष्य के जीवन की सामाजिकता है।

(२) मनुष्य का सामाजिक व सामुदायिक जीवन जिन विविध रूपो म प्रकट होता है, नागरिकशास्त्र उन सब पर विचार करता है। मनुष्य का सामुदायिक जीवन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, बौद्धिक और धार्मिक क्षेत्रो मे प्रकट होता है। इन सब पर विचार करना नागरिकशास्त्र का कार्य है।

(३) समाज मे रहने के कारण मनुष्य के जो कर्तव्य व अधिकार होते है, नागरिकशास्त्र उन पर प्रकाश डालता है।

(४) अपनी सामाजिकता के कारण मनुष्य जो अनेक प्रकार के समुदाय बनाता है, उनम 'राज्य' सर्वप्रधान व सबसे उत्कृष्ट है। नागरिकशास्त्र राज्य द्वारा प्रकट होने वाली मनुष्य की सामाजिकता पर विशेष रूप से विचार करता है।

सामाजिक विज्ञान और नागरिकशास्त्र—इस समय जितने भी विभिन्न ज्ञान व विज्ञान हैं, उन्ह हम स्थूल रूप से दो भागो मे बाँट सकते है। एक व जो 'प्रकृति' को अपना प्रतिपाद्य विषय बनाते हैं और दूसरे वे जो मनुष्य व मानव समाज का अनुशीलन करते हैं। ससार की प्रत्येक सत्ता को हम दो भागो मे विभक्त कर सकते है, प्रकृति और पुरुष। प्रकृति भोग्य है, और पुरुष उसका भोक्ता है। प्रकृति मे जो भी पदार्थ पाये जाते है, मनुष्य उनका अपने योगक्षेम के लिए प्रयोग करता है। इसके लिए आवश्यक है, कि वह उनके सम्बन्ध मे ज्ञान प्राप्त करे। इसी कारण उन विविध विज्ञानो व विद्याओ का विकास हुआ है, जिन्हे हम सामूहिक रूप से 'प्राकृतिक विज्ञान' कहते है। रसायन, भौतिकी, वनस्पतिशास्त्र, भूगर्भ विद्या आदि कितने ही ऐसे विज्ञान है जो प्रकृति के किसी एक अश या भाग को लेकर उसका अध्ययन करते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य को अपना प्रतिपाद्य विषय बनाकर भी अनेक विज्ञानो का विकास हुआ है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह समाज मे रहता है, और समाज मे रहकर ही अपनी उन्नति करता है। उसका हित, सुख व कल्याण सामाजिक जीवन पर ही निर्भर करता है। अत मनुष्य के साथ सम्बन्ध रखनेवाले इन विविध विज्ञानो का विषय मनुष्य न होकर मानव-समाज ही होता है। समाज मे रहते हुए मनुष्य

---

१ "Civics is a more or less useful branch of human knowledge which deals with every thing (e g social, political, intellectual, economic or even religious aspects) relative to a citizen past, present and future, local, national and human

—E N White

एक दूसरे के साथ अनेक प्रकार के सम्बन्ध रखते है। मनुष्यो के इन विविध प्रकार के सम्बन्धो को लेकर अनेक विज्ञानो का विकास हुआ है, जिन्हे सामूहिक रूप से 'सामाजिक विज्ञान' (Social Sciences) कहा जाता है।

जो विद्या मनुष्यो के आर्थिक सम्बन्धो पर विचार करती है, उसे 'अर्थशास्त्र' (Economics) कहते हैं। अन्य लोगों के साथ बरताव करते हुए मनुष्य यह सोचता है, कि क्या उचित व क्या अनुचित है। दूसरो के प्रति कौन सा व्यवहार उचित है, इसका प्रतिपादन करनेवाली विद्या को 'नीतिशास्त्र' (Ethics) कहते है। समाज मे रहते हुए मनुष्य एक दूसरे के साथ राजनीतिक सम्बन्ध रखते है। वे राज्य रूपी राजनीतिक समुदाय के अग होते है। मनुष्यो के राजनीतिक सम्बन्धो को प्रतिपादन करने वाली विद्या 'राजनीतिशास्त्र (Political Science) कहलाती है।

नागरिकशास्त्र भी एक सामाजिक विज्ञान ही है। समाज के अग के रूप मे मनुष्य किस प्रकार अपना जीवन व्यतीत करे, दूसरो के साथ किस प्रकार व्यवहार करे, अपने सामाजिक कर्तव्यो का किस प्रकार पालन करे, अन्य लोगो से किस प्रकार के बरताव की आशा करे—इन्ही सब प्रश्नो पर नागरिकशास्त्र मे विचार किया जाता है।

नागरिकशास्त्र का क्षेत्र (Scope)

मनुष्यो के सबसे उत्कृष्ट समुदाय या सगठन को राज्य कहते है। प्रत्येक मनुष्य अनिवार्य रूप से किसी-न-किसी राज्य का सदस्य व अग होता है। इसीलिए उसे 'नागरिक' कहते है। क्योकि प्राचीन समय मे राज्य बहुत छोटे-छोटे होते थे, उनका विस्तार एक नगर तक व उसके आसपास की भूमि तक ही होता था, इसीलिए उन्हे "नगर-राज्य' कहते थे, और उनके सदस्यो को 'नागरिक' कहा जाता था। आजकल के राज्य बहुत बडे व विशाल हो गये हैं, पर पुरानी परम्परा का अनुसरण करते हुए अब तक भी उनके सदस्यो को 'नागरिक' ही कहा जाता है। नागरिक के रूप मे *मनुष्यो के जो अधिकार व कर्तव्य है, नागरिकशास्त्र मुख्यतया उन्ही का प्रतिपादन* करता है। इस दृष्टि से नागरिकशास्त्र और राजनीति शास्त्र का क्षेत्र एक-दूसरे से बहुत मिलता जुलता है। राजनीति शास्त्र मे मनुष्यो के राजनीतिक सगठन पर विचार किया जाता है। राज्यरूपी समुदाय मे निवास करते हुए मनुष्य एक-दूसरे के साथ जिस सम्बन्ध से रहते हैं, राजनीतिशास्त्र उस पर प्रकाश डालता है। पर नागरिकशास्त्र का क्षेत्र इसकी अपेक्षा अधिक व्यापक है। मानव जीवन की वे सब बातें जिनका सम्बन्ध मनुष्य के सामुदायिक व सामाजिक जीवन के साथ म हो, नागरिकशास्त्र के क्षेत्र म आ जाती हैं। *प्रत्येक मनुष्य किसी परिवार का सदस्य होता है,* किसी जाति या बिरादरी के साथ सम्बन्ध रखता है, *किसी कारखाने, दफ्तर या फर्म मे काम करके*

अपनी आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करता है, किसी धार्मिक सम्प्रदाय का सदस्य होता है, और किसी राज्य का अंग होता है। इन सब समुदायों द्वारा मनुष्य का सामुदायिक जीवन प्रकट होता है। परिवार के प्रति, जाति व बिरादरी के प्रति, धार्मिक सम्प्रदाय के प्रति, कारखाने व दफ्तर आदि में काम करनेवाले अन्य लोगों के प्रति, अपने पड़ोस में निवास करनेवाले मनुष्यों के प्रति, राज्य के प्रति, और समाज के प्रति मनुष्य के क्या कर्तव्य हैं, और उनके साथ बरतते हुए उसे किस नीति का अनुसरण करना चाहिए—इन सब बातों पर नागरिकशास्त्र में विचार किया जाता है। इस शास्त्र द्वारा उन सब राजनीतिक, आर्थिक, पारिवारिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक समस्याओं का अध्ययन किया जाता है, जिनके साथ मनुष्य के सामुदायिक जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

इस प्रकार नागरिकशास्त्र का क्षेत्र राजनीति शास्त्र की अपेक्षा अधिक व्यापक है। उसका सम्बन्ध मनुष्य के सम्पूर्ण सामुदायिक व सामाजिक जीवन के साथ है। साथ ही, वह केवल मनुष्यों के वर्तमान सामुदायिक जीवन पर ही प्रकाश नहीं डालता, अपितु वह यह भी बताता है कि भूतकाल में मनुष्यों के सामुदायिक जीवन का क्या रूप था। किस प्रकार मनुष्य ने विविध प्रकार के समुदाय बनाकर अपने सामाजिक जीवन का विकास शुरू किया, और किस प्रकार धीरे-धीरे उन्नति करते हुए वह वर्तमान दशा को पहुँचा है। भूतकाल के सामाजिक जीवन का अध्ययन करके हमें यह ज्ञात होता है, कि मनुष्य ने पुराने समय में जिन समुदायों का सगठन किया था, उनमें क्या गुण व दोष थे। वर्तमान समय के समुदायों का अध्ययन करने से हम यह जान सकते हैं, कि उनमें क्या कमियाँ हैं, और उनके क्या गुण-दोष हैं। इस अध्ययन से हमें यह जानने में सहायता मिलती है, कि मनुष्य को अपनी भावी उन्नति के लिए किस मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। क्योंकि मनुष्य समाज द्वारा ही अपनी उन्नति कर सकता है, अतः इस अध्ययन का उसके हित, सुख व उत्कर्ष के लिये बहुत महत्त्व है।

नागरिकशास्त्र के क्षेत्र पर विचार करते हुए हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए, कि ज्यों-ज्यों मानव-सभ्यता का विकास होता जाता है, इस शास्त्र का क्षेत्र भी अधिक विस्तृत होता जाता है। पुराने समय में जब छोटे छोटे राज्य हुआ करते थे, मनुष्य का सामाजिक जीवन इन नगर-राज्यों में ही केन्द्रित रहता था। बाहरी दुनिया से उसका सम्बन्ध बहुत कम होता था। भारत में कोई नया धार्मिक आन्दोलन शुरू हुआ या कोई नया आविष्कार हुआ, तो उसका असर फ्रांस, जर्मनी आदि दूरवर्ती देशों पर अधिक नहीं पड़ता था। पर विज्ञान की उन्नति के कारण अब मनुष्य ने देश और काल पर अद्भुत विजय प्राप्त कर ली है। रेल, तार, रेडियो, टलिफोन, हवाई जहाज आदि के आविष्कार ने विविध देशों की दूरी को बहुत कम कर दिया है। इसी कारण यदि कोरिया में गृहयुद्ध शुरू हो, गोआ में राष्ट्रीय स्वाधीनता का

आन्दोलन हो या रूस व अमेरिका मे कोई नया आविष्कार हो, तो उसका असर सारे ससार पर पडता है। इस समय मनुष्य का सामाजिक जीवन किसी ग्राम या नगर तक ही सीमित नहीं रह गया है, वह अब राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर चुका है। कुछ विचारक तो यह स्वप्न भी देखने लगे हैं, कि वह समय दूर नही है जब कि पृथिवी के सब देश एक राजनीतिक सगठन मे सगठित हो जाएँगे।

नागरिकशास्त्र का क्षेत्र क्या है, इस प्रश्न का उत्तर हम इस प्रकार दे सकते हैं—

(१) नागरिकशास्त्र मनुष्य के सामुदायिक व सामाजिक जीवन का अध्ययन करता है, यह सामुदायिक जीवन चाहे परिवार का हो, चाहे गाँव व नगर का हो, चाहे आर्थिक, धार्मिक व सांस्कृतिक क्षेत्र का हो, चाहे इसका सम्बन्ध राज्य से हो, और चाहे सारे ससार से हो।

(२) वर्तमान समय मे मनुष्य का सामाजिक व सामुदायिक जीवन जिन विविध सस्थाओ द्वारा प्रकट होता है, उन सबका अध्ययन करना नागरिकशास्त्र का कार्य है। परिवार, जाति, धार्मिक सम्प्रदाय, आर्थिक समुदाय, राज्य, अन्तर्राष्ट्रीय सघ आदि कितनी ही सस्थाएँ वर्तमान समय मे विद्यमान हैं, जिनका अध्ययन नागरिकशास्त्र द्वारा किया जाता है।

(३) भूतकाल मे मनुष्य के सामुदायिक जीवन का क्या रूप था, और धीरे धीरे विकास द्वारा वह किस प्रकार अपने वर्तमान रूप मे आया, यह भी नागरिकशास्त्र के अध्ययन का क्षेत्र है।

(४) नागरिकशास्त्र इस प्रश्न पर भी विचार करता है, कि भविष्य मे मनुष्य के सामुदायिक व सामाजिक जीवन का विकास किस दिशा म होना चाहिए।

नागरिकशास्त्र विज्ञान है या दर्शन—

हम अब तक नागरिकशास्त्र का उल्लेख एक विज्ञान के रूप मे करते रहे हैं। पर अनेक विद्वानो के मत मे इसे विज्ञान (Science) न कहकर दर्शन (Philosophy) कहना अधिक उपयुक्त है। दर्शन हम उस शास्त्र को कहते हैं, जिसका आधार पर्यवेक्षण (Observation) व परीक्षण (Experiment) न होकर कल्पना व तर्क होता है। रसायन एक विज्ञान है। उसमे हम पर्यवेक्षण व परीक्षण करके एक निश्चित सिद्धान्त निर्धारित कर सकते हैं। हाइड्रोजन और आक्सीजन से मिलकर जल बनता है, यह बात परीक्षण द्वारा सिद्ध की जा सकती है। इसी प्रकार रसायन के अन्य सिद्धान्तो को भी परीक्षण द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। पर सामाजिक विज्ञानो के नियमो को इस ढग से परीक्षणो द्वारा सिद्ध नही किया जा सकता, और न उनम ऐसे नियम ही होते हैं, जो सब समयो मे और सब दशाओ मे सत्य हो। इसी कारण अनेक विद्वान्

सामाजिक विज्ञानों को विज्ञान के रूप में स्वीकार करने के विरुद्ध हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि जिन अर्थों में रसायन, भौतिकी आदि विज्ञान हैं, उन अर्थों में नागरिकशास्त्र आदि सामाजिक विज्ञानों को विज्ञान नहीं माना जा सकता। इसके कारण निम्नलिखित हैं—

(१) भौतिक विज्ञान जिन विषयों का अध्ययन करते हैं, उनके गुण समय व स्थान के बदलने पर बदल नहीं जाते। आक्सीजन के गुण जैसे प्राचीन काल में थे, वैसे ही अब भी हैं। अमेरिका और अफ्रीका में आक्सीजन के गुण एक से ही पाये जाते हैं। पर मनुष्य का सामाजिक जीवन न सब समयों में एक सा रहता है, और न सब स्थानों पर ही एक सदृश होता है।

(२) भौतिक विज्ञानों के परीक्षण प्रयोगशालाओं में किये जा सकते हैं। सामाजिक विज्ञानों के लिए कोई ऐसी प्रयोगशालाएँ नहीं बनायी जा सकतीं, जिनमें यन्त्र आदि की सहायता से किसी निश्चित परिणाम पर पहुँचा जा सके।

भौतिक विज्ञानों और नागरिकशास्त्र में ये भेद होते हुए भी यह मानना होगा कि नागरिकशास्त्र में भी पर्यवेक्षण और परीक्षण की गुंजाइश है। विविध राज्यों व समुदायों के सगठन आदि का ध्यान से अवलोकन कर हम अनेक तथ्यों का पता लगा सकते हैं। राज्य व समाज में अनेक प्रकार के परीक्षण होते भी रहते हैं। इतिहास सामाजिक विज्ञानों की एक प्रयोगशाला के समान है। कम्युनिस्ट व्यवस्था कहाँ तक सफल हो सकती है, इसका ज्ञान रूस व चीन में होते हुए परीक्षणों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इसलिये यद्यपि नागरिकशास्त्र उन अर्थों में विज्ञान नहीं है, जिनमें कि रसायन, भौतिकी आदि हैं, पर इसमें सन्देह नहीं, कि इसके क्षेत्र में भी अनेक सत्य नियम काम कर रहे होते हैं, और पर्यवेक्षण व इतिहास की प्रयोगशाला में होने वाले परीक्षणों का ध्यानपूर्वक अवलोकन कर उन नियमों का पता भी किया जा सकता है।

नागरिकशास्त्र के अध्ययन की विधि

नागरिकशास्त्र के अध्ययन के लिए निम्नलिखित विधियाँ प्रयोग में लायी जाती हैं—

(१) ऐतिहासिक—मनुष्य के सामाजिक जीवन को समझने के लिये इतिहास का अध्ययन बहुत उपयोगी है। मनुष्य की सब सामाजिक संस्थाएँ ऐतिहासिक विकास का ही परिणाम हैं, अतः उनके अध्ययन से जहाँ हम मानव-समुदायों के स्वरूप को भली भाँति समझ सकते हैं, वहाँ साथ ही यह भी जान सकते हैं, कि कौन-सी संस्था मनुष्यों के लिए उपयोगी सिद्ध हुई और कौन-सी हानिकारक।

(२) पर्यवेक्षण विधि (The Method of Observation)—वर्तमान समय में राज्य के सगठन जिस प्रकार के हैं, अनेक देशों में जातियों का जो रूप है, धार्मिक

सम्प्रदायो व आर्थिक सगठनो की जो दशा है, उन सब का ध्यानपूर्वक पर्यवेक्षण कर हम यह जान सकते हैं, कि उनमे से कौन से सगठन मनुष्यो के लिये उपयोगी हैं, और किनमे कौन से दोष है।

(३) तुलनात्मक विधि (The Comparative method)—सामाजिक जीवन के विविध अगो की सामग्री को एकत्र कर हम उनमे तुलना कर सकते हैं, और उनसे अनेक सही परिणाम निकाल सकते हैं। उदाहरण के लिए तलाक की प्रथा को लीजिये। अनेक देशो मे तलाक की प्रथा प्रचलित है। यदि हम इस प्रथा के गुण-दोषो पर विचार करना चाहे, तो हमे विभिन्न देशो मे तलाक के कारण उत्पन्न हुए परिणामो की तुलना करनी चाहिए और फिर इसकी उपयोगिता का निश्चय करना चाहिए। लोकतन्त्र शासन, कम्युनिस्ट व्यवस्था आदि के सम्बन्ध मे निर्णय करने के लिये भी इस पद्धति का प्रयोग किया जा सकता है।

(४) दार्शनिक विधि (The Philosophical method)—इस विधि मे कल्पना और तर्क द्वारा हम किसी परिणाम पर पहुँचते है। राज्य का आदर्श क्या है, मनुष्य समाज मे क्यो सगठन होता है, सामाजिक जीवन के क्या ध्येय व आदर्श है, उन आदर्शो तक पहुँचने के लिये किन उपायो का प्रयोग किया जाना चाहिए—ये सब बातें कल्पना व तर्क द्वारा ही प्रतिपादित की जाती है।

नागरिकशास्त्र के अध्ययन के लाभ

(१) कोई समुदाय अपने उद्देश्य मे तभी सफल हो सकता है, जब कि उसके सब सदस्य अपने कर्तव्यो को भली भाँति समझते हो। माता, पिता और सन्तान से मिलकर एक परिवार का निर्माण होता है। पति के पत्नी के प्रति, पत्नी के पति के प्रति, माता-पिता के सन्तान के प्रति और सन्तान के माता-पिता के प्रति अनेक कर्तव्य होते है। जब तक उन्हे इन कर्तव्यो का ज्ञान न हो, परिवार कभी सुखी नही हो सकता। इसी प्रकार धार्मिक सम्प्रदायो, आर्थिक उत्पादन की सस्थाओ और राज्य आदि समुदायो मे, जहाँ मनुष्य एक दूसरे के सम्पर्क मे आते हैं, उनके एक-दूसरे के प्रति अनेक प्रकार के कर्तव्य होते है। नागरिकशास्त्र हमे इन कर्तव्यो का बोध करता है, और उनके पालन करने का महत्त्व हमे बताता है।

(२) नागरिकशास्त्र हमे केवल कर्तव्यो का ही बोध नही कराता, अपितु हमे यह भी बताता है कि हमारे अधिकार क्या हैं। समुदाय के जो सदस्य अपने अधिकारो को नही जानते, वे उसमे अधिक लाभ नही उठा सकते। प्रत्येक नागरिक का यह अधिकार है, कि वह अपने विचारो को स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट कर सके, अपने विश्वासो के अनुसार धर्म का अनुसरण कर सके, और उसे न्यायालय म दण्डित हुए बिना जेलखाने मे न रखा जा सके, पर जिन लोगो को अपने इन अधिकारो का ज्ञान ही नहीं

है, वे इनका प्रयोग ही कैसे कर सकेंगे। अपने अधिकारों का ज्ञान प्राप्त कर हम अपने जीवन को अधिक सुखी व उन्नत बना सकते हैं।

(३) विज्ञान की उन्नति के कारण ससार-भर के मनुष्य अब एक-दूसरे के अत्यन्त समीप आ गये हैं, इसलिये अपने देश व ससार में घटित होने वाली घटनाओं का अनुशीलन करना व मानव-समाज की प्रगति का ज्ञान प्राप्त करना हमारे लिये बहुत उपयोगी हो गया है। नागरिकशास्त्र हमारे दृष्टिकोण को विशाल बनाता है, और हमें अपने परिवार, बिरादरी, ग्राम या नगर के तग दायरे से बाहर राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का अध्ययन करने की क्षमता प्रदान करता है।

(४) मनुष्यों के सामुदायिक व सामाजिक जीवन का सबसे उत्कृष्ट रूप राज्य है। आजकल राज्यों का सचालन किसी एक व्यक्ति या श्रेणी के हाथों में नही रहा है। आजकल के राज्यों में लोकतन्त्र शासन है, और राजशक्ति जनता के हाथों में निहित है। यदि राज्य के सब नागरिक देश के शासन में दिलचस्पी लें, तभी वह सफल हो सकता है। नागरिकशास्त्र हमें राज्य के प्रति हमारे कर्तव्यों का बोध कराता है, और हम इस बात के लिये प्रेरित करता है कि राज्य के कार्यों में जागरूक होकर हम उसके द्वारा अपने व्यक्तिगत व सामूहिक हितों का साधन करें।

(५) विद्यार्थियों के लिये नागरिकशास्त्र के अध्ययन का बहुत लाभ है। आज जो बालक हैं, वे ही भविष्य में देश या समाज का नेतृत्व करेंगे। समाज की रचना एक शरीर के समान होती है, जिसका निर्माण बहुत से छोटे-छोटे अवयवों और अगों से मिलकर होता है। यदि अवयव अस्वस्थ हो, तो सारा शरीर विकल हो जाता है। इसी प्रकार समाज व राष्ट्र की उन्नति और कल्याण इसी बात पर निर्भर है, कि उसके सब नागरिक स्वस्थ और कर्तव्य-परायण हों। आज जो बालक हैं, उन्हीं के चरित्र व योग्यता पर भावी समाज का हित-कल्याण व उत्कर्ष निर्भर करेगा। यदि विद्यार्थी ध्यानपूर्वक नागरिकशास्त्र का अध्ययन करें, तो उन्हें उत्तम नागरिक बनने में बहुत सहायता मिलेगी। वे अपने कर्तव्यों और अधिकारों को भली भाँति समझ सकेंगे, और उन्हें समझकर अपनी वैयक्तिक व सामूहिक उन्नति में तत्पर होंगे।

अभ्यास के लिये प्रश्न

१. नागरिकशास्त्र की परिभाषा (लक्षण) कीजिये, और उसके क्षेत्र तथा अध्ययन विधि का सक्षेप से उल्लेख कीजिये। (यू० पी०, १९४६)

२. नागरिकशास्त्र के अध्ययन की क्या उपयोगिता है? (यू० पी०, १९४७)

३ "सामाजिक अध्ययन के सामाजिक सेवा के लिये व्यावहारिक उपयोग को ही नागरिकशास्त्र कहते हैं" इस कथन की विवेचना कीजिये। (यू० पी०, १९५०, राजपूताना १९५१)

४ "नागरिकशास्त्र कला (Art) और विज्ञान (Science) दोनों है", इस कथन की विवेचना कीजिए, और यह समझाइये कि इस शास्त्र के अध्ययन से क्या लाभ हैं ? (यू० पी०,१९५२)

५ नागरिकशास्त्र से आप क्या समझते हैं ? यह बताइये कि नागरिकशास्त्र के अध्ययन से अच्छे नागरिक बनने मे क्या सहायता मिलती है। (यू० पी०,१९५४)

६ नागरिकशास्त्र के विषय और क्षेत्र का वर्णन कीजिये, और यह लिखिये कि इसके अध्ययन का आधुनिक जीवन में क्या महत्त्व है। (यू० प०, १९५५)

७ नागरिकशास्त्र के अध्ययन की क्या उपयोगिता है ? (यू० पी०, १९४७)

८. नागरिकशास्त्र के अध्ययन का महत्त्व समझाइये। वह अन्य सामाजिक विज्ञानों से किस प्रकार सम्बन्धित है ? (राजपूताना, १९४७)

९ नागरिकशास्त्र को किन अर्थों में विज्ञान कहा जा सकता है ? भौतिक विज्ञानो से वह किस प्रकार भिन्न है ?

दूसरा अध्याय

अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ नागरिकशास्त्र का सम्बन्ध

नागरिकशास्त्र उन विज्ञानो के अन्तर्गत है, जिन्हे सामाजिक विज्ञान (Social Sciences) कहा जाता है। जो विज्ञान समाज मे रहते हुए मनुष्य का अध्ययन करते हैं, उन्हे 'सामाजिक विज्ञान' कहते हैं। मनुष्य एक-दूसरे के साथ अनेक सम्बन्धो द्वारा सम्बद्ध होते हैं। उनके एक-दूसरे के साथ आर्थिक (Economic), राजनीतिक (Political), नैतिक (Moral), धार्मिक (Religious), सामाजिक (Social) आदि अनेक प्रकार के सम्बन्ध होते है। इन्ही विविध सम्बन्धो को लेकर अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि विविध सामाजिक विज्ञानो का विकास हुआ है। पर इन विविध विज्ञानो का भी एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योकि ये सब मानव-समाज के विविध अगो का अध्ययन करते हैं, और समाज के विविध अगो को पूरी तरह से एक-दूसरे से पृथक् नही किया जा सकता। इसलिये नागरिकशास्त्र के अध्ययन मे अन्य सामाजिक विज्ञानो से भी बहुत सहायता मिलती है। वस्तुत, सब सामाजिक विज्ञान एक-दूसरे के पूरक होते हैं।

नागरिकशास्त्र और राजनीतिशास्त्र—

इन दो विज्ञानो मे जितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, उतना अन्य किन्ही विज्ञानो मे नही है। इसी कारण कुछ विद्वान् तो यह कहने मे भी सकोच नही करते, कि नागरिकशास्त्र कोई अलग विज्ञान नही है, अपितु राजनीतिशास्त्र की ही एक शाखा है। इसमे सन्देह नही, कि इन दोनो विज्ञानो का क्षेत्र बहुत अशो मे एक ही है। मनुष्यो का सामुदायिक जीवन जिन विविध रूपो मे प्रकट होता है, राज्य उनमे सबसे उत्कृष्ट है। मनुष्य जो अन्य अनेक प्रकार के समुदाय बनाता है, राज्य उन पर नियन्त्रण रखने का अधिकार रखता है। यदि कोई धार्मिक या आर्थिक समुदाय किसी ऐसी नीति का अनुसरण करे, जो राज्य के अन्य निवासियो के लिये हानिकारक हो, तो राज्य उसे वैसा करने से रोक सकता है। क्योकि राज्य मनुष्यो का सबसे उत्कृष्ट व सबसे अधिक शक्तिशाली समुदाय है, अत स्वाभाविक रूप से नागरिकशास्त्र मे उस पर बहुत विस्तार से विचार किया जाता है। राजनीतिशास्त्र के अध्ययन का विषय तो राज्य-सस्था ही है। अत यह स्वाभाविक है कि इन दोनो विज्ञानो मे घनिष्ठ सम्बन्ध हो, और दोनो

का विषय एक दूसरे से बहुत कुछ मिलता जुलता हो।

पर राजनीतिशास्त्र और नागरिकशास्त्र मे इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होने हुए भी न उनको एक माना जा सकता है, और न नागरिकशास्त्र को राजनीतिशास्त्र की शाखामात्र ही स्वीकार किया जा सकता है। इसके कारण निम्नलिखित है—

(१) राजनीतिशास्त्र समाज मे रहते हुए मनुष्यों के राजनीतिक सम्बन्धो का अध्ययन करता है। राजनीतिक सम्बन्ध के आधार पर मनुष्य जो समुदाय बनाते हैं, उन्हें राज्य कहते हैं। राजनीतिशास्त्र का क्षेत्र इस राज्य तक ही सीमित है। पर नागरिक शास्त्र का क्षेत्र इसकी अपेक्षा अधिक व्यापक है। उसमे सामुदायिक जीवन के अन्य अगो का भी समावेश हो जाता है।

(२) राज्य के सदस्य के रूप मे मनुष्यो के जो कर्तव्य व अधिकार हैं, राजनीतिशास्त्र केवल उन्ही का बोध कराता है। पर मनुष्य राज्य के अतिरिक्त अन्य भी कितने ही समुदायो का सदस्य होता है। सब मनुष्य किसी-न किसी परिवार के, किसी जाति या बिरादरी के, किसी धार्मिक सम्प्रदाय के, किसी आर्थिक सगठन के और किसी राष्ट्र के भी सदस्य होते हैं। इन सब समुदायो के सदस्य होने के कारण मनुष्यों के कितने ही अन्य भी कर्तव्य हो जाते हैं, और साथ ही उन्हे कितने ही अन्य अधिकार भी प्राप्त हो जाते हैं। नागरिकशास्त्र हमे इन सब कर्तव्यो और अधिकारो का बोध कराता है।

(३) वर्तमान समय मे ससार के विविध देश एक दूसरे के बहुत समीप आ गये हैं। सारा मानव समाज एक है, यह अनुभूति विकसित होती जा रही है। मानव-समाज का अग होने के कारण मनुष्य के जो कर्तव्य हैं, नागरिकशास्त्र उनका भी प्रतिपादन करता है। राजनीतिशास्त्र भी अन्तर्राष्ट्रीयता पर विचार करता है, पर केवल इस हद तक कि विविध राज्यों का एक-दूसरे के साथ क्या सम्बन्ध है।

(४) राजनीतिशास्त्र के उद्देश्य तभी सफल हो सकते हैं जब कि राज्य के सब निवासी उत्तम नागरिक हों। उत्तम नागरिकता की शिक्षा नागरिकशास्त्र द्वारा ही प्राप्त होती है, क्योकि यह विज्ञान हमे मनुष्यो को अन्य लोगो के साथ मिल जुलकर रहने और उनके प्रति अपने कर्तव्यो के पालन का पाठ पढाता है।

इन कारणो से नागरिकशास्त्र और राजनीतिशास्त्र को एक तो नही माना जा सकता, पर यह तो स्पष्ट ही है कि इन दोनो का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ है, क्योकि राजनीतिशास्त्र के समान नागरिकशास्त्र मे भी राज्य सस्था का विशेष रूप से अध्ययन किया जाता है।

नागरिकशास्त्र और समाजशास्त्र (Sociology)

जिस विज्ञान द्वारा मानव समाज की उत्पत्ति, विकास, सगठन और उद्देश्य का

अध्ययन किया जाए, उसे समाजशास्त्र कहते हैं। मनुष्यो मे जो अनेक प्रकार के रीति-रिवाज प्रचलित हैं, उनके जो अनेक प्रकार के विश्वास हैं, उनकी संस्कृति जो अनेक प्रकार से विकसित हुई है—इन सब बातो का अध्ययन समाजशास्त्र द्वारा किया जाता है। उनका क्षेत्र बहुत अधिक व्यापक है। इसीलिए यह माना जाता है, कि समाजशास्त्र अन्य सब सामाजिक विज्ञानो की जननी है, और अन्य सब सामाजिक विज्ञान उसी पर आश्रित हैं। अतः यह स्वाभाविक है, कि अन्य सामाजिक विज्ञानो के लिये समाजशास्त्र का अध्ययन उपयोगी हो।

मनुष्यो के सामाजिक जीवन का एक रूप परिवार है। समाजशास्त्र हमे यह बतायेगा, कि परिवार का विकास किस प्रकार हुआ, संसार के विविध देशों में भिन्न-भिन्न समयो मे परिवार का संगठन किस प्रकार का रहा, और वे कौन-सी मूलभूत भावनाएँ हैं, जिनमे प्रेरित होकर मनुष्य परिवार मे संगठित होते हैं। नागरिकशास्त्र इन सब बातों का प्रतिपादन नही करता। वह हमे केवल यह बोध कराता है, कि परिवार के सदस्य के रूप मे मनुष्य के क्या कर्तव्य और क्या अधिकार हैं, और मनुष्य किस ढग से परिवार को सुखी बना सकता है।

इसी प्रकार मनुष्यो के अन्य समुदायों के सम्बन्ध मे भी समाजशास्त्र और नागरिकशास्त्र के अध्ययन का क्षेत्र एक-दूसरे से भिन्न है। समाजशास्त्र हमे यह बताता है, कि विविध लोगो मे धार्मिक विश्वास किस प्रकार विकसित हुए, उचित-अनुचित व पाप-पुण्य का विचार किस प्रकार उत्पन्न हुआ। मनुष्यो के धार्मिक समुदायो का रूप पहले क्या था और बाद मे वह किस प्रकार बदलता गया। पर नागरिकशास्त्र इन सब बातो पर प्रकाश नहीं डालता। वह हमे यही बोध कराता है, कि धार्मिक समुदाय के सदस्यरूप मे मनुष्य को अपना बरताव किस प्रकार का रखना चाहिए।

इसमे सन्देह नहीं, कि समाजशास्त्र और नागरिकशास्त्र का क्षेत्र एक नहीं है, पर समाजशास्त्र मनुष्यों के सामाजिक जीवन की उत्पत्ति और विकास के सम्बन्ध मे जो अध्ययन व खोज करता है, नागरिकशास्त्र के लिये उसका बहुत उपयोग होता है।

नागरिकशास्त्र और इतिहास

इतिहास को सब सामाजिक विज्ञानो की प्रयोगशाला कहा जाता है। उसके अध्ययन से हमे यह ज्ञात होता है कि पुराने समय मे कौन-कौन से राज्य थे, उनका शासन किस ढग से होता था, उनमे कौन से धर्म प्रचलित थे, उनकी संस्कृति का क्या स्वरूप था, किस प्रकार कोई देश उन्नत हुआ, और किस प्रकार किसी देश की अवनति हुई। कोई देश आज जिस हालत मे है, वह बहुत अशो मे उसके पुराने इतिहास का परिणाम है। भारत अंग्रेजो के अधीन हो गया, किसलिए? क्योंकि इस देश में राष्ट्रीय एकता का अभाव था और विज्ञान की उन्नति मे यह यूरोप के मुकाबिले मे पीछे रह

गया था। अब भारत स्वतन्त्र हो गया, क्योंकि राष्ट्रीय नेताओ के यत्न से देश में राष्ट्रीय जागृति और एकता की भावना उत्पन्न हो गई, और साथ ही नई शिक्षा के प्रसार से भारत भी कला-कौशल व वैज्ञानिक उन्नति मे काफी आगे बढ गया। इतिहास हमें जहाँ किसी देश की उन्नति व अवनति का वृत्तान्त बताता है, वहाँ उन कारणों पर भी प्रकाश डालता है, जिनसे कोई देश उन्नत या अवनत होता है। मनुष्य की भिन्न-भिन्न संस्थाओ मे जो परिवर्तन होते रहते हैं, इतिहास द्वारा हम उनका भी ज्ञान प्राप्त करते हैं। एक समय था, जब ससार के प्राय सभी देशो मे राजाओ का स्वेच्छाचारी व निरकुश शासन था। राजा जो चाहे कानून बना सकता था, मनमाने तरीके से प्रजा पर अत्याचार कर सकता था। पर अब वह समय आ गया है, जब कि जनता का शासन प्राय सभी देशो मे कायम हो गया है, और राजनीतिक दृष्टि से सब के अधिकार एक बराबर है। पर लोग इतने से भी सतुष्ट नही है। वे चाहते है कि पूँजीपतियो का अन्त होकर गरीबी और अमीरी का भेद दूर हो जाए, और आर्थिक दृष्टि से समानता स्थापित हो। इतिहास ससार के इसी सब घटनाचक्र का हमे बोध कराता है।

इतिहास पढकर हमे यह भी ज्ञात होता है, कि पहले मनुष्यो के नागरिक-जीवन का क्या स्वरूप था। भिन्न-भिन्न देशो मे उसका किस ढग से विकास हुआ, और वर्तमान समय मे उसमे किस प्रकार परिवर्तन हो रहा है। इन सब बातो को जानकर हम नागरिक-जीवन के भावी स्वरूप व आदर्शों का स्वरूप निर्धारित कर सकते है। इतिहास की उपमा एक वृक्ष से दी जा सकती है, जिसके फल अन्य सामाजिक विज्ञान होते हैं। वृक्ष और फल का जो सम्बन्ध है, वही इतिहास और नागरिकशास्त्र का है।

नागरिकशास्त्र और अर्थशास्त्र

अर्थशास्त्र द्वारा मनुष्यो के आर्थिक सम्बन्धो का अध्ययन किया जाता है। सम्पत्ति की उत्पत्ति (Production), सम्पत्ति का वितरण (Distribution) और सम्पत्ति का उपभोग (Consumption) किस प्रकार होता है, यही अर्थशास्त्र के अध्ययन का क्षेत्र है। साथ ही, अर्थशास्त्र इस बात पर भी प्रकाश डालता है कि किस नीति का अनुसरण कर देश मे सम्पत्ति की वृद्धि की जा सकती है, और उत्पन्न हुई सम्पत्ति का किस प्रकार ऐसा वितरण किया जाय, जिससे सबको अपने-अपने श्रम का समुचित फल मिल सके।

मनुष्य के सुख के साथ सम्पत्ति व धन का बहुत सम्बन्ध है। हमारे शास्त्रो के अनुसार अर्थ या धन ही अन्य सब बातो का मूल है (अर्थमूला हि सर्वे समारम्भा)। यदि मनुष्य गरीब हो, उसे पेट-भर अन्न भी न मिलता हो, तो वह समाज के प्रति अपने कर्तव्यो का पालन कैसे कर सकेगा। सस्कृत मे एक कहावत है—"बुभुक्षित किं न करोति पापम्"। इसका अर्थ है, भूखा आदमी कौन-सा पाप नही करता। जब

आदमी का पेट भरा हो, तभी उसे धर्म-कर्म सूझता है। जिस मनुष्य को अपने जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं को पूर्ण करने के साधन भी उपलब्ध नहीं होते, उससे यह आशा करना व्यर्थ है कि वह एक अच्छा नागरिक बन सकेगा, और अन्य मनुष्यों के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन सुचारु रूप से करेगा। लोकतन्त्र शासन में वोट देना मनुष्य का जहाँ अधिकार है, वहाँ उसका यह कर्तव्य भी है कि वह अपने इस अधिकार का सोच-समझकर प्रयोग करे। पर गरीब लोग धन के लालच में आकर या किसी जमींदार या पूँजीपति के असर में आकर अपना वोट उनके उम्मीदवार के पक्ष में दे देते हैं। गरीबी के कारण उनमें अपने अधिकारों का स्वतन्त्रता के साथ प्रयोग करने की क्षमता ही नहीं रह जाती।

इस प्रकार स्पष्ट है, कि कोई मनुष्य तभी अच्छा नागरिक बन सकता है, जब कि वह अत्यन्त गरीब न हो, उसे अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने में विशेष कठिनाई न होती हो। नागरिकशास्त्र का ध्येय यही है, कि प्रत्येक मनुष्य को अपने कर्तव्यों और अधिकारों का ज्ञान हो, सब उनके सम्बन्ध में जागरूक रहकर सुखी, सन्तुष्ट और सम्पन्न जीवन व्यतीत कर सकें। इसीलिए नागरिकशास्त्र का अध्ययन करते हुए हम अर्थशास्त्र के उन मन्तव्यों को भी अपने सम्मुख रखते हैं, जिनके द्वारा मनुष्य अपनी आर्थिक उन्नति कर सकता है। आर्थिक समुदाय भी मनुष्यों की सामाजिकता के अंग होते हैं। मनुष्य की सामाजिकता का अध्ययन करते हुए उन्हें भी दृष्टि में रखा जाता है।

नागरिकशास्त्र और भूगोल

भौगोलिक दशाओं का मनुष्य के जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। प्राचीन ग्रीस में जो बहुत से छोटे छोटे राज्य देर तक कायम रहे, उसका एक बड़ा कारण यह था कि पर्वतों की शृंखलाओं द्वारा ग्रीस बहुत-सी छोटी छोटी घाटियों में विभक्त था। प्राचीन समय में क्रीट और फिनीशिया सामुद्रिक व्यापार के बड़े भारी केन्द्र थे। इसका कारण यही था, कि क्रीट एक द्वीप है, और फिनीशिया समुद्र के तट पर स्थित था। आज इंगलैंड जो सामुद्रिक शक्ति में बहुत उन्नत है, उसका कारण उसका समुद्र से घिरा हुआ होना ही है। किसी देश की जलवायु, जमीन का उपजाऊ होना देश का समुद्र-तट पर स्थित होना या पर्वतों से घिरे रहना और वहाँ खनिज पदार्थों का प्रचुर मात्रा में पाया जाना—ये व इसी ढंग की भौगोलिक दशाएं वहाँ के निवासियों के जीवन पर बहुत प्रभाव डालती हैं।

इसलिए नागरिकशास्त्र के लिए भूगोल का अध्ययन भी बहुत उपयोगी होता है। जब हम किसी देश के सामाजिक व सामुदायिक जीवन पर विचार करने लगें, तो हम यह भी सोचना चाहिए कि उस देश की भौगोलिक दशाएँ कैसी हैं और ये दशाएँ

उस देश के सामुदायिक जीवन को किस प्रकार प्रभावित करती हैं।

नागरिकशास्त्र और नीतिशास्त्र (Ethics)

नीति या अनीति, उचित या अनुचित पर जो विज्ञान विचार करता है, उसे 'नीतिशास्त्र कहते हैं। उचित अनुचित का प्रश्न समाज मे रहते हुए मनुष्य के लिए ही महत्व रखता है। यदि कोई मनुष्य जगल मे अकेला रहता हो, तो वह कौन सा ऐसा काम कर सकेगा, जिसे हम सामाजिक दृष्टि से अनुचित समझ सकें। सत्य, अहिंसा, अस्तेय आदि जिन विचारो को नैतिक व सदाचार सम्बन्धी माना जाता है, वे मनुष्यो के सामुदायिक जीवन के साथ ही सम्बन्ध रखते है। जगल मे अकेला रहता हुआ मनुष्य जब तक अन्य मनुष्यो के सम्पर्क म नही आएगा, वह कैसे किसी की चोरी करेगा, कैसे किसी से असत्य व्यवहार करेगा और कैसे किसी पर हमला आदि कर हिंसा करेगा। नीतिशास्त्र द्वारा यही अध्ययन किया जाता है, कि हमारे नैतिक आदर्श क्या है, और हम किसी बात को क्यो नैतिक या अनैतिक मानते हैं।

नागरिकशास्त्र मे जब हम इस प्रश्न पर विचार करते हैं, कि नागरिको को अपने पडोसियो व अन्य लोगो से किस प्रकार का बरताव करना चाहिए, तो कौन-सा बरताव उचित है, और कौन-सा अनुचित—इसका फैसला हम नीतिशास्त्र के मन्तव्यो के अनुसार ही करते है। हम मनुष्यो के किन्ही व्यवहारो को उत्तम और किन्हीं को निकृष्ट समझते हैं, और नागरिको से यह आशा रखते हैं, कि उन्हे अपने व्यवहार को उत्तम ही बनाना चाहिए। नीतिशास्त्र की धारणाओ के अनुसार कार्य करने को ही हम उपयोगी मानते हैं। अत स्पष्टतया नीतिशास्त्र और नागरिकशास्त्र मे बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है।

नागरिकशास्त्र और मनोविज्ञान (Psychology)—

मनुष्य के जीवन मे मन का बहुत अधिक महत्व है। मनुष्य का मन जिस ढग से सोचता है, वह जिन बातो से प्रेरणा व उत्तेजना प्राप्त करता है, उन सब का मनुष्य के व्यक्तिगत व सामाजिक जीवन पर बहुत प्रभाव पडता है। मनोविज्ञान द्वारा मनुष्य के मन का ही अध्ययन किया जाता है। मनुष्य की विचार शक्ति किस प्रकार काम करती है, जिन परिस्थितियो मे मनुष्य रहता है, उनका उसके मन पर क्या प्रभाव पडता है, बाह्य उत्तेजनाओ द्वारा मन पर क्या प्रतिक्रिया होती है, मनुष्य कौन से काम आन्तरिक प्रेरणा से करता है और कौन से बाह्य प्रभाव द्वारा – मनोविज्ञान इन सब बातो का प्रतिपादन करता है।

क्योकि नागरिकशास्त्र मनुष्यो के सामुदायिक व सामाजिक जीवन पर विचार करता है, अत मनोविज्ञान द्वारा उसे बहुत सहायता मिलती है। उदाहरण के लिए

मनोविज्ञान हमें यह बताता है, कि बालकों व विद्यार्थियों से कैसा व्यवहार करके उन्हें उत्तम मनुष्य बनाया जा सकता है, शिक्षा द्वारा मनुष्यों के मन को किस प्रकार प्रभावित किया जा सकता है, और यदि किसी बात को लेकर मनुष्यों की भीड़ उत्तेजित हो जाए, तो उसे किस प्रकार शान्त किया जा सकता है। यदि हमें मनोविज्ञान द्वारा प्रतिपादित इन सब बातों का भली भांति ज्ञान हो, तो हम यह निर्णय कर सकते हैं, कि मनुष्यों को उत्तम नागरिक बनाने के लिए हमें किन उपायों का अवलम्बन करना चाहिए।

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि अन्य बहुत से विज्ञानों का नागरिकशास्त्र के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी कारण इस शास्त्र के अध्ययन के लिए इन व अन्य सामाजिक विज्ञानों का उपयोग किया जाता है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ आधुनिक सामाजिक जीवन में नागरिकशास्त्र के अध्ययन का क्या महत्व है ? नागरिकशास्त्र का राजनीतिशास्त्र, इतिहास और अर्थशास्त्र के साथ जो सम्बन्ध व भेद है, उसे स्पष्ट कीजिए। (यू० पी० १९३६, १९३९)

२. नागरिकशास्त्र की क्या परिभाषा (लक्षण) है ? उसका समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र और इतिहास से क्या सम्बन्ध है ? (यू० पी०, १९४१)

३ नागरिकशास्त्र के अभिप्राय को स्पष्ट कीजिए और यह प्रदर्शित कीजिए कि अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और इतिहास से इसका क्या सम्बन्ध है ? (यू० पी० १९५३)

४. भूगोल और मनोविज्ञान का अध्ययन नागरिकशास्त्र के अध्ययन के लिए किस प्रकार उपयोगी होता है ?

तीसरा अध्याय
सामाजिक जीवन

समाज का अभिप्राय

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, यह अनेक बार लिखा जा चुका है। मनुष्य समाज में रहकर ही अपने हित और कल्याण का साधन करता है, और उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ता है। पर प्रश्न यह है कि समाज कहते किसे हैं। यह तो स्पष्ट ही है, कि समाज के लिए बहुत से मनुष्यो का होना आवश्यक है। एक आदमी से समाज नही बन सकता। पर यदि किसी स्थान पर बहुत से मनुष्य एकत्र हो, तो उस भीड को भी समाज नही कहा जा सकता। किसी बाजार या गली मे बहुत-से लोग आ-जा रहे हैं, या गगा-स्नान के लिए बहुत से लोग जमा है। मनुष्यो के इस समूह को हम 'समाज' नही कहते। पर जब मनुष्य किसी निश्चित प्रयोजन व उद्देश्य से परस्पर मिलकर एक 'समुदाय' (Association) के रूप मे सगठित हो जाते है, तभी मनुष्य के सामाजिक जीवन का प्रारम्भ होता है।

समाज के लिए निम्नलिखित तत्त्वो का होना आवश्यक है—

(१) **बहुत-से मनुष्यों की सदस्यता**—समाज के लिए अनेक व प्रचुर सख्या मे मनुष्यो का होना आवश्यक है। सबसे छोटा समुदाय कुटुम्ब या परिवार का होता है। पति और पत्नी मिलकर परिवार-रूपी समुदाय का निर्माण करते हैं, और दो व अधिक हिस्सेदार मिलकर कारोबार के लिए 'आर्थिक समुदाय' बनाते हैं। छोटे-से-छोटे समुदाय के लिए भी दो व्यक्तियो का होना जरूरी है। अनेक बडे समुदाय इस प्रकार के होते हैं, जिनमे लाखों-करोडो मनुष्य सदस्य रूप से सम्मिलित होते हैं। आर्य-समाज, ब्रह्मसमाज आदि धार्मिक समुदायो के सदस्यो की सख्या लाखो मे है। ईसाई चर्च के सदस्यो की सख्या करोडो मे है। राज्य मनुष्यो के राजनीतिक समुदाय को कहते हैं। आजकल जहाँ एक ओर सान मरीनो जैसे छोटे-छोटे राज्य हैं, जिनकी जनसख्या कुछ हजार है, वहाँ चीन, भारत आदि विशाल राज्यो की जनसख्या करोडों मे है।

(२) **एक निश्चित उद्देश्य व प्रयोजन की सत्ता**—सामाजिक जीवन के लिए यह भी आवश्यक है कि समुदायो मे सम्मिलित सब लोगो का कोई निश्चित उद्देश्य व प्रयोजन हो। धार्मिक समुदायो का सगठन धर्म प्रचार व अपने अनुयायियों के जीवन को धर्म के अनुकूल बनाने के प्रयोजन से किया जाता है। आर्यसमाज की

स्थापना वैदिक धर्म के प्रचार के लिये की गई है। बौद्ध संघ इस उद्देश्य से संगठित हुआ था, कि बुद्ध द्वारा प्रतिपादित 'अष्टांगिक आर्यमार्ग' का प्रचार किया जाय। श्रमी संघों (Trade Unions) का संगठन इस उद्देश्य से होता है, कि मजदूर वर्ग के लोग अपने हितों की परस्पर मिलकर रक्षा कर सकें। जातीय हितों की रक्षा व जातीय उन्नति के लिए क्षत्रिय महासभा, अग्रवाल महासभा सदृश जातीय समुदायों का संगठन किया जाता है। राज्य सबसे महत्वपूर्ण समुदाय है। उसका संगठन मनुष्यों के सामूहिक हितों की रक्षा और उन्नति के लिए किया गया है। यह स्पष्ट है, कि जितने भी विविध प्रकार के समुदाय हैं, उनके सम्मुख कोई निश्चित उद्देश्य व प्रयोजन अवश्य होता है। निश्चित उद्देश्य के अभाव में मनुष्यों का समूह केवल एक 'भीड़' रह जाता है, उसे हम समुदाय नहीं कहते।

(३) केन्द्रीय संगठन—सामुदायिक जीवन के लिए जहाँ यह आवश्यक है, कि बहुत-से मनुष्य किसी निश्चित उद्देश्य व प्रयोजन को सम्मुख रखकर एकत्र हों, वहाँ यह भी जरूरी है कि वे एक संगठन में संगठित हों और वह संगठन उस समुदाय के उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील हो। सड़क पर खड़े हुए कुछ लोग मदारी का खेल देख रहे हैं। ये मनुष्य एक निश्चित प्रयोजन से एकत्र हुए हैं, पर इन्हें हम 'समुदाय' नहीं कहते, क्योंकि ये लोग किसी संगठन में संगठित नहीं हैं। पर मदारी के खेल में दिलचस्पी लेने वाले लोग यदि आपस में मिलकर एक संगठन बना लें, और मदारी के खेलों में संगठित रूप से दिलचस्पी लेने लगें, तो एक समुदाय का निर्माण हो जायगा। अनेक क्लब इसी ढंग के प्रयोजनों से संगठित किये गये हैं। पतंगबाजी तक के लिए क्लब विद्यमान हैं। इन्हें हम समुदाय कह सकते हैं। समुदाय के लिए बहुत-से मनुष्यों की सदस्यता और एक निश्चित प्रयोजन की सत्ता के साथ-साथ एक संगठन का होना भी जरूरी है।

मनुष्य का सामाजिक जीवन तभी प्रकट होता है, जब अनेक मनुष्य परस्पर मिलकर और किसी निश्चित उद्देश्य को सम्मुख रखकर अपना संगठन बना लेते हैं। मनुष्यों के आपस में मिलकर एक साथ रहने, और एक-दूसरे के सहयोग द्वारा अपना हित व कल्याण करने तथा उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होने को ही मनुष्य की 'सामाजिकता' कहा जाता है।

समाज और समुदाय—

पर इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिए कि मनुष्यों के विविध समुदायों को ही समाज नहीं कहा जाता। समाज समुदाय की अपेक्षा बहुत अधिक व्यापक होता है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, अपने हित सुख व कल्याण के लिए, और अपनी उन्नति के लिए मनुष्य जिन विविध समुदायों का निर्माण करता है, वे

सब समाज के अन्तर्गत होते हैं, और वे सब मनुष्य के सामाजिक जीवन के ही विविध रूप हैं।

समाज और समुदाय मे वही भेद है, जो शरीर और उसके अगो मे होता है। शरीर बहुत-से अगो या अवयवो से मिलकर बनता है, पर शरीर केवल अगो के समूह को ही नही कहते। अवयवो से पृथक् भी अवयवी की सत्ता होती है। यही बात समाज और समुदाय के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। समाज और समुदाय के भेद को हम इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं—

(१) समुदाय समाज का अग मात्र होता है। जैसे शरीर मे बहुत-से अग होते हैं, ऐसे ही समाज में बहुत-से समुदाय होते हैं।

(२) यह मनुष्य की इच्छा पर है, कि वह किसी समुदाय का सदस्य बने या न बने। पर मनुष्य के लिए यह अनिवार्य है कि वह समाज मे रहे और उसका सदस्य बनकर अपनी उन्नति करे। समाज मे रहना और दूसरो के साथ सहयोग द्वारा अपना काम करना मनुष्य की प्रकृति (Nature) है। अत प्रत्यक मनुष्य किसी-न-किसी समाज का अग अवश्य होता है। समाज के अन्तर्गत जो विविध समुदाय होते हैं, उनमे सम्मिलित होना या न होना मनुष्य की इच्छा पर निर्भर करता है। पर समाज से पृथक् रहकर अपने हित व सुख का साधन कर सकना मनुष्य के लिए सम्भव ही नही है।

समाज का लक्षण—ऊपर समाज के सम्बन्ध मे जो विचार किया गया है, उसे दृष्टि मे रखकर हम समाज का लक्षण इस प्रकार कर सकते हैं—'अपने हितो व कल्याण को सम्मुख रखकर और अपनी उन्नति के लिए मनुष्य जो दूसरो के साथ *सहयोग द्वारा काम करता है और इसी प्रयोजन से जो विविध समुदाय सगठित करता* है, उन सब के समूह को समाज कहते हैं।' इसमे सन्देह नही, कि समाज बहुत व्यापक होता है। मनुष्यो के सब समुदाय, जिनमे राज्य भी एक है, समाज के अन्तर्गत रहते हैं। इन सब समुदायो से मनुष्य का सामाजिक जीवन प्रकट होता है।

समाज की आवश्यकता—

हमने अभी कहा है कि मनुष्य समाज के बिना अपना जीवन नही बिता सकता। वह किसी भी समुदाय का सदस्य हुए बिना तो रह सकता है, पर समाज से पृथक् रह सकना उसके लिए सम्भव नही है। इसके कारण निम्नलिखित है—

(१) सामाजिक जीवन मनुष्य का स्वभाव है। यह मनुष्य की प्रकृति है, कि वह अन्य लोगो के साथ मिलकर रहे और दूसरो के साथ मिलकर अपनी उन्नति करे। जिस प्रकार बोलना, अपने विचारो को प्रकट करना और अपनी आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए प्रयत्न करना मनुष्य की प्रवृत्ति है, वैसे ही समाज मे रहना

भी मनुष्य की प्रकृति है। जब मनुष्य जन्म लेता है, तो वह माता-पिता के साथ रहता है। उनसे वह बहुत-सी बातें सीखता है। उसके विचार, चरित्र, अभ्यास आदि का निर्माण माता-पिता के सम्पर्क से ही होता है। जब बच्चा बडा होता है, तो वह अपने पडोस मे रहने वाले अन्य बच्चो व बडे लोगो के सम्पर्क मे आता है, और उनसे बहुत-सी बातें सीखता है। यदि हम एक ऐसे मनुष्य की कल्पना करें, जिसे पैदा होते ही अकेला छोड दिया जाय, तो उसके लिए जिन्दा रहना भी सम्भव न होगा। यदि उसका पालन किन्ही ऐसे आदमियो द्वारा किया जाय, जो गूंगे और बहरे हो, जिन्हे पढना-लिखना न आता हो और जो अपने विचारो को किसी भी प्रकार प्रकट न कर सकें, तो ऐसा मनुष्य न बोलना सीखेगा, न उसे पढना-लिखना आएगा और न उसके कोई विचार ही होगे। उसमे और पशु मे नाममात्र का ही भेद होगा।

मनोविज्ञान के पण्डितो का कहना है, कि मनुष्य मे कुछ प्रवृत्तियाँ स्वभाव से ही होती हैं। प्रेम, घृणा, क्रोध, परोपकार आदि की प्रवृत्तियाँ प्रत्येक मनुष्य मे पाई जाती हैं। हमे कोई आदमी अच्छा लगता है, हम उससे प्रेम करते है। किसी से हमे घृणा होती है किसी के प्रति हमे क्रोध आता है। किसी को दुख मे देखकर हमे उससे सहानुभूति होती है, हम अपनी शक्ति-भर उसका उपकार करने के लिए प्रवृत्त होते हैं। यदि कोई मनुष्य अकेला रहता हो, तो उसकी ये प्रवृत्तियाँ कैसे चरितार्थ होगी ? वह किससे प्रेम करेगा, किससे घृणा करेगा और किससे सहानुभूति रखेगा। जो आदमी अपनी किन्हीं विशेष परिस्थितियो के कारण कुछ समय के लिए अकेले रहने को विवश होते हैं, वे किसी पशु-पक्षी से प्रेम करके ही अपनी इन प्रवृत्तियो को काम मे लाने का प्रयत्न करते हैं। पर इसमे सन्देह नही, कि मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य की जो स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं, उनका सच्चा उपयोग समाज में रहकर ही हो सकता है। अत समाज मे रहना भी मनुष्य का स्वभाव ही है।

यह सही है, कि अनेक सन्त-महात्मा हिमालय की कन्दराओ मे अकेले रहकर अपना जीवन व्यतीत करते हैं। पर ये अपवाद होते हैं। इन महात्माओ ने भी बचपन मे अन्य मनुष्यो के सम्पर्क मे आकर अपने शरीर और मन का विकास किया था। योग-सिद्धि आदि की प्राप्ति के लिए भी ये गुरु की शिक्षा पर निर्भर करते है। पुराने समय में भारत के जो ऋषि-मुनि नगरो से बाहर जगलो मे निवास किया करते थे, वे भी वहाँ आश्रम बनाकर ही रहते थे, और इन आश्रमो में बहुत-से नर-नारी अध्यात्म-चिन्तन को लक्ष्य बनाकर एक साथ मिलकर रहते थे। जब ऋषि मुनि तक जगलो मे भी इकट्ठे होकर रहते थे, तो सर्वसाधारण मनुष्यो के लिए तो अकेले रह सकना और भी अधिक कठिन है। हम लोगो को समाज मे रहने की जो आदत पड गई है, उसके कारण हमे कभी यह कल्पना करने का अवसर ही नही मिलता कि यदि कभी हमे सबसे अलग अकेले छोड दिया जाय, तो हमारी क्या गति होगी।

(२) पर मनुष्य समाज मे केवल इसीलिए नही रहता, क्योंकि यह उसका स्वभाव है। जीवन की आवश्यकताएँ भी मनुष्य को समाज मे रहने के लिए विवश करती हैं। बच्चे के पालन-पोषण के लिए आवश्यक है, कि वह परिवार मे रहे। शिक्षा के लिए जरूरी है, कि वह स्कूल मे दाखिल हो। धन कमाने के लिए किसी कारखाने, दफ्तर या बाजार मे काम करना आवश्यक है। अपने माल और जान की रक्षा करने के लिए भी अन्य मनुष्यो के साथ मिलकर रहना उपयोगी है। गाँव या नगर मे बसकर मनुष्य जहाँ धन कमाने का अवसर प्राप्त करता है, वहाँ उसके लिए अपनी रक्षा करना भी सुगम हो जाता है। मनुष्य जो अपनी भौतिक आवश्यकताएँ पूर्ण कर सकता है, अपना मानसिक विकास कर सकता है, अधिक उत्कृष्ट जीवन बिताने के लिए सुविधाएँ प्राप्त करता है, सहानुभूति, सेवा, परोपकार आदि की नैतिक भावनाओ को क्रियान्वित कर सकता है, और सभ्य व सुसस्कृत जीवन बिता सकने मे समर्थ होता है—इन सब के लिए उसका समाज मे रहना अनिवार्य है।

(३) मानव जीवन मे जो भी उत्तम गुण हैं, वे सब मनुष्य की सामाजिकता के ही परिणाम हैं। हम उस मनुष्य को अच्छा समझते है, जो दयालु हो, जो परोपकार के लिए तत्पर रहे, जो जाति, धर्म और देश के लिए अपने सब सुखो और जिन्दगी तक को कुर्बान कर देने के लिए उद्यत हो। तुलसीदासजी ने दया की महिमा बताते हुए क्या ही अच्छा कहा है—

"दया धर्म को मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छोडिये, जब लग घट मे प्रान॥

एक सस्कृत के कवि का कथन है—"परोपकार पुण्याय पापाय परपीडनम्' परोपकार ही का नाम पुण्य है, और दूसरो को पीडा देने को ही पाप कहते हैं। भगवान् कृष्ण ने कहा है—' न मुझे राज्य चाहिए, न स्वर्ग और न मोक्ष। मैं तो केवल यही चाहता हूँ कि दुःख से पीडित प्राणियो के दुःख दर्द को दूर कर सकूँ।" दया, परोपकार और दूसरो की सेवा ही ऐसे गुण है, जिनसे मनुष्य अपने जीवन को उन्नत कर सकता है। ये गुण मनुष्य तभी अपने मे विकसित कर सकता है, जब वह समाज मे रहता हो। अकेले रहते हुए मनुष्य के लिए इनकी कोई भी सत्ता नही होती।

(४) सभ्यता की उन्नति के लिए भी मनुष्य का समाज मे रहना उपयोगी है। जब हम प्रकृति की शक्तियों और उसके पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर उनका उपयोग अपने हित व कल्याण के लिए करते है, तभी हम सभ्यता के मार्ग पर अग्रसर होते है। मनुष्य ने सबसे पूर्व अग्नि, जल और वायु की शक्तियों का अपने हित के लिए उपयोग शुरू किया। फिर बिजली की शक्ति का उपयोग कर उसने सभ्यता के क्षेत्र मे बहुत उन्नति की। अब उसने परमाणुशक्ति का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया है, और उसका प्रयोग भी वह अपने लाभ के लिए करने लगा है। सभ्यता के क्षेत्र मे मनुष्य

ने जो भी उन्नति की है, वह सब परस्पर सहयोग का ही परिणाम है। हम अपने पुरखाओं से जो ज्ञान प्राप्त करते हैं, उसे अपने प्रयत्न से और आगे बढ़ाते हैं। जिन तथ्यों का पता लगाने के लिए कोई विद्वान् अपना सारा जीवन लगा देता है, बाद के मनुष्य उसे थोड़े से समय में ही प्राप्त कर लेते है। यदि मनुष्य को अकेले रहकर अपना जीवन व्यतीत करना होता, तो उसे किसी भी बात को जानने के लिए स्वयं ही उद्योग करना पड़ता, और इस दशा में वह सभ्यता के मार्ग पर ज़रा भी आगे न बढ़ सकता। मनुष्य के पास आज जो ज्ञान का इतना भण्डार जमा हो गया है, उसका कारण यही है कि मनुष्य समाज में रहता है, और दूसरे मनुष्यों के सम्पर्क में आकर बहुत जल्दी उनसे ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

(५) जिसे हम सांस्कृतिक जीवन कहते है वह समाज के बिना सम्भव ही नहीं है। मनुष्य केवल अपनी भौतिक आवश्यकताओं को पूर्ण करके ही सन्तुष्ट नहीं होता। वह कला, नृत्य, संगीत आदि द्वारा अपने जीवन को अधिक सुखी भी बनाना चाहता है। पेट तो पशु भी भर लेते हैं। पर मनुष्य केवल पेट भरना ही पर्याप्त नहीं समझता। संस्कृत के एक कवि ने क्या ठीक कहा है—"साहित्य संगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः" साहित्य, संगीत और कला से विहीन मनुष्य एक ऐसे पशु के समान है, जिसके पूंछ और सींग न हों। पर साहित्य, संगीत और कला का विकास तो समाज के कारण ही होता है।

(६) समाज मनुष्य की आर्थिक उन्नति में सहायक होता है। समाज में रहने के कारण मनुष्य आर्थिक उत्पादन के लिए श्रम-विभाग (Division of Labour) का आश्रय ले सकता है। यदि प्रत्येक मनुष्य को अपनी आवश्यकता की सब चीज़ें स्वयं ही उत्पन्न करनी हों, अनाज, कपड़े बरतन आदि स्वयं ही बनाने हों, तो वह कभी भी उतनी वस्तुओं का उपभोग करने में समर्थ नहीं होगा, जितनी वस्तुएँ कि आजकल का सभ्य मनुष्य प्रयोग में लाता है। श्रम-विभाग के कारण आज मनुष्य एक ही वस्तु का उत्पादन करता है, अन्य वस्तुओं को वह दूसरों से विनिमय (Exchange) करके प्राप्त कर लेता है। असल में तो आजकल के व्यवसाय-प्रधान देशों में एक वस्तु के उत्पादन के लिए भी कितने ही मनुष्यों के श्रम की आवश्यकता होती है। हम जिन वस्तुओं का उपभोग करते है, वे सब भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न भिन्न स्थानों पर बनाई जाती हैं। सबके मिल-जुलकर काम करने, और श्रम-विभाग के विकास के कारण जहाँ मनुष्यों के लिए श्रम करना बहुत सुगम हो गया है, वहाँ मनुष्य बहुत प्रकार की वस्तुओं का भी उपभोग करने में समर्थ हो सका है।

(७) अपने सामाजिक जीवन के लिए मनुष्य जो अनेक प्रकार के समुदाय बनाता है, राज्य भी उनमें से एक है। राज्य अपने क्षेत्र में अमन चैन कायम रखता है, बाहरी शत्रुओं के आक्रमणों से देश की रक्षा करता है, सार्वजनिक हितों को दृष्टि

मे रखकर अनेक व्यवस्थाएँ करता है, और मनुष्यो के सामूहिक योगक्षेम के लिए प्रयत्न करता है। राज्य के इन विविध कार्यों पर हम अगले एक अध्याय मे प्रकाश डालेंगे। राज्य द्वारा मनुष्यों को जो विविध लाभ पहुँचाते हैं, वे सब सामाजिक जीवन के ही लाभ है, क्योकि राज्य भी समाज का ही एक अग है।

व्यक्ति और समाज–

समाज का निर्माण व्यक्तियो से मिलकर ही होता है। वस्तुत व्यक्ति और समाज एक-दूसरे से पृथक् होकर नही रह सकते। उनका सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ होता है। व्यक्ति के बिना समाज की और समाज के बिना व्यक्ति की सत्ता असम्भव है। जिस प्रकार शरीर मे बहुत से छोटे-छोटे घटक (cell) होते हैं, वैसे ही समाज का निर्माण बहुत से व्यक्तियो से मिलकर होता है। शरीर के घटक शरीर से पृथक् अपनी कोई सत्ता नहीं रखते। इसी प्रकार मनुष्य या व्यक्ति समाज के बिना अपना कोई अस्तित्व नही रखता। इस दशा मे यह समझ सकना कठिन नही है, कि व्यक्ति और समाज मे कोई विरोध नही हो सकता। समाज की उन्नति के लिए व्यक्ति का उन्नत होना आवश्यक है, और व्यक्ति भी तभी अपनी उन्नति कर सकता है, जब समाज उन्नत हो। जो मनुष्य आस्ट्रेलिया के जगलो मे निवास करते हैं, वे आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से सर्वथा अपरिचित हैं। इसका कारण यही है, कि उनका समाज बहुत अवनत दशा मे है। इसके विपरीत जो बच्चे कलकत्ता, बम्बई जैसे बडे शहरो मे पलते हैं, वे बचपन से ही ट्राम, मोटर बस, रेडियो, टेलीफोन आदि कितने ही वैज्ञानिक साधनो से परिचित हो जाते है। विज्ञान के बहुत से मन्तव्यो का जो आजकल के सर्वसाधारण लोगो को भी परिचय है, और बच्चे भी जो अनेक वैज्ञानिक साधनो का सुगमता से प्रयोग कर लेते हैं, उसका कारण यही है, कि वे एक उन्नत समाज के अग हैं। यदि हमने किसी ऐसे समाज मे जन्म लिया होता, जो पत्थरो के औजारो से काम लेता हो, गुफाओं मे निवास करता हो और शिकार द्वारा अपना निर्वाह करता हो, तो हम आधुनिक ज्ञान विज्ञान से कैसे परिचय प्राप्त कर सकते ? इसमें सन्देह नही, कि व्यक्ति का हित, कल्याण व उन्नति समाज पर ही निर्भर करते हैं।

इसी प्रकार समाज भी अपनी उन्नति के लिए व्यक्तियो पर निर्भर रहता है। जिस समाज के लोग आलसी, डरपोक व निरुद्यमी होते हैं, वह समाज कदापि उन्नति नही कर सकता। कोई समाज तभी उन्नत हो सकता है, जब उसके अन्तर्गत विविध व्यक्ति परिश्रमी और कर्तव्यपरायण हो। वस्तुत, समाज व्यक्तियो पर और व्यक्ति समाज पर आश्रित होते हैं, और दोनो के हित एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं।

व्यक्ति और समाज के सम्बन्धो पर एक अन्य दृष्टि से भी विचार किया जाता है। क्या व्यक्ति समाज के लिए है या समाज व्यक्ति के लिये है ? इस प्रश्न पर दो

मत है। कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि समाज का प्रयोजन केवल यह है, कि वह व्यक्ति के हितों का साधक हो, समाज अपने आपमें कोई उद्देश्य व साध्य नहीं है। वह व्यक्तियो के हित, कल्याण व उन्नति के लिए साधन (means) मात्र है। इस सिद्धात को व्यक्तिवाद (Individualism) कहते हैं। अन्य विचारक समाज को व्यक्तियों के हित का साधन मात्र न मानकर उसे अपने आपमे एक साध्य (end) मानत हैं। इन विचारको के मत मे व्यक्तियों के हित सामूहिक हितो व समाज के सम्मुख गौण होने चाहिएँ। समाजवादी (Socialists) इसी मत के समर्थक हैं। राज्य के कार्यक्षेत्र (Functions of the State) पर विचार करत हुए हम इन दोनों मतो पर प्रकाश डालेंगे।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है', इस कथन की व्याख्या कीजिए। (यू० पी०, १६३६)

२. 'मनुष्य अपने स्वभाव (प्रकृति) और आवश्यकता दोनों से एक सामाजिक प्राणी है' उदाहरण देते हुए इस कथन की स्पष्ट व्याख्या कीजिए। (यू० पी०, १६४०)

३ समाज का अभिप्राय समझाइए और साथ ही यह भी बताइए कि समाज के लिए किन तत्त्वों का होना आवश्यक है।

४. समाज शब्द की व्याख्या कीजिए और व्यक्ति व समाज के सम्बन्ध को स्पष्ट कीजिए। (राजपूताना १६५१)

५ समाज व समुदायों (Associations) में क्या भेद है ?

चौथा अध्याय

विविध प्रकार के समुदाय

(Different Types of Associations)

समुदायो का वर्गीकरण—

दूसरो के साथ मिलकर सामाजिक जीवन बिताने के अपने स्वभाव के कारण और आवश्यकता से विवश होकर मनुष्यो ने अनेक प्रकार के समुदायो का निर्माण किया है। इन समुदायो का वर्गीकरण (Classification) अनेक प्रकार से किया जा सकता है—

(१) स्थायी और अस्थायी समुदाय—मनुष्यो के कुछ समुदाय स्थायी होते हैं, जो चिर काल तक कायम रहते हैं। राज्य मनुष्यो का एक ऐसा समुदाय है, जिसकी एक मुख्य विशेषता स्थायित्व (Permanence) होती है। सरकारें बदलती रहती हैं, पर राज्य स्थिर रहता है। बूर्बो राजवश का अन्त हो जाने से फ्रास की राज्य-सस्था का अन्त नही हो गया। अग्रेजो के चले जाने से भारत की सरकार बदल गई, पर राज्य पूर्ववत् कायम रहा। धार्मिक समुदाय राज्य के समान सदा स्थायी नही रहते, पर वे भी चिरकाल तक कायम रहते हैं। बौद्धसघ छठी सदी ईस्वी पूर्व मे कायम हुआ था। भारत मे ही वह पन्द्रह सदियो के लगभग तक कायम रहा। रोमन कैथोलिक चर्च को कायम हुए भी बहुत-सी सदियाँ बीत चुकी है। ब्राह्म-समाज और आर्यसमाज जैसे नये धार्मिक समुदायो को स्थापित हुए भी बहुत समय हो गया है। अनेक बैंक व कम्पनियाँ आदि आर्थिक समुदाय भी देर से कायम है।

अस्थायी समुदाय वे कहलाते हैं, जो किसी सामयिक समस्या को सम्मुख रखकर कायम किये जाते हैं, और उस समस्या का समाधान हो जाने पर उनकी समाप्ति कर दी जाती है। अकाल, भूकम्प, बाढ आदि के समय पीडित जनता की सहायता करने के लिए सगठित की गई सस्थाएँ अस्थायी समुदायो का उत्तम उदाहरण हैं। हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, काग्रेस आदि के वार्षिक अधिवेशनो के प्रबन्ध के लिए जो स्वागत-समितिया सगठित की जाती है, वे भी समुदाय ही होती है। पर ये समुदाय स्थायी न होकर अस्थायी होते हैं, और कार्य पूरा हो जाने पर इन समुदायो का अन्त कर दिया जाता है।

(२) अनिवार्य और ऐच्छिक समुदाय—कुछ समुदाय ऐसे होते हैं, जिनका

सदस्य होना मनुष्य के लिए अनिवार्य होता है। मनुष्य चाहे या न चाहे, उसे इन समुदायों का सदस्य होना ही पड़ता है, क्योंकि वे समुदाय मनुष्य के अस्तित्व के लिए अनिवार्य होते हैं। कुटुम्ब, जाति और राज्य—इसी प्रकार के अनिवार्य समुदाय हैं। सब मनुष्य किसी-न-किसी परिवार में उत्पन्न होते हैं, उन्हें उसका सदस्य होना ही पड़ता है। इसी प्रकार जाति या जन (कबीला या Tribe) इस प्रकार का समुदाय है, जिसके साथ मनुष्य का सम्बन्ध अनिवार्य रूप से होता है। राज्य का सदस्य हुए बिना भी मनुष्य का काम नहीं चल सकता। सब मनुष्य किसी-न-किसी राज्य के अंग अवश्य होते हैं।

अनेक समुदाय ऐसे भी होते हैं, जिनका सदस्य होना या न होना मनुष्य की अपनी इच्छा पर निर्भर है। धार्मिक समुदाय, राजनीतिक दल, साहित्य समितियाँ, मनोरञ्जन के लिए संगठित क्लब, मजदूर संघ आदि इसी प्रकार के समुदाय हैं। यह मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है, कि वह आर्य-समाज का सदस्य बने, या ईसाई चर्च का या सनातनधर्म सभा का। कोई मनुष्य ऐसा भी हो सकता है, जो किसी भी धार्मिक समुदाय का सदस्य न हो। इस ढंग के समुदायों को 'ऐच्छिक' कहा जाता है।

(३) प्रभुत्वसम्पन्न, अर्धप्रभुत्वसम्पन्न और प्रभुत्वहीन समुदाय—किसी समुदाय की शक्ति व अधिकार-क्षेत्र क्या है, इस आधार पर समुदायों के तीन विभाग किये जाते हैं। राज्य एक ऐसा समुदाय है, जिसे पूर्णप्रभुत्वसम्पन्न (Sovereign) कह सकते हैं। प्रभुता (Sovereignty) राज्य की एक विशेषता है। यह विशेषता किसी अन्य समुदाय में नहीं होती। बाहर और अन्दर, दोनों क्षेत्रों में राज्य सर्वोपरि होता है। उसकी प्रभुता व सर्वोपरिता को मर्यादित करने वाली कोई अन्य सत्ता नहीं होती।

किसी राज्य के अन्दर जो अनेक विभाग व उपविभाग होते हैं, उन्हें अर्ध-प्रभुत्व-सम्पन्न (Semi Sovereign) कह सकते हैं। भारत सम्पूर्ण-प्रभुत्वसम्पन्न है, पर उसके अन्तर्गत जो विविध राज्य हैं, उनके अधिकार व शक्ति सीमित हैं। उनकी सरकारें भी अपने आदेशों को मनवाने की शक्ति रखती हैं, पर पूर्ण रूप से नहीं। यही बात राज्य के अन्तर्गत जिलों व नगरों के शासन के सम्बन्ध में कही जा सकती है।

जो विविध धार्मिक, आर्थिक व सांस्कृतिक आदि बहुत से समुदाय हैं, उन्हें प्रभुत्वहीन (Non Sovereign) कह सकते हैं। इन समुदायों को यह शक्ति प्राप्त नहीं होती, कि ये अपने आदेशों का पालन कराने के लिए बल का प्रयोग कर सकें। आर्य-समाज का कोई सदस्य यदि उसके नियमों का उल्लंघन करता है, तो उसे आर्यसमाज न जेल में डाल सकता है, और न अन्य किसी प्रकार से नियम पालन कराने के लिए शक्ति का प्रयोग कर सकता है। हाँ, लोकमत व सामाजिक दबाव के जोर पर ये समुदाय अपने नियमों का पालन कराने में कुछ अंशों तक अवश्य सफल होते हैं।

(४) उद्देश्य व प्रयोजन की दृष्टि से समुदायों का वर्गीकरण—ऊपर हमने तीन प्रकार के विविध समुदायो का वर्गीकरण किया है। पर सबसे अधिक उत्तम वर्गीकरण वह है, जो समुदायो के उद्देश्य या प्रयोजन व प्रकृति को दृष्टि मे रखकर किया जाता है। जिस प्रयोजन व भावना से किसी समुदाय के सदस्य परस्पर एक सूत्र मे बँधे रहते हैं, उसे आधार बनाकर समुदायो को निम्नलिखित वर्गों मे विभक्त किया जा सकता है—

(१) जो लोग अपने को एक कुल, एक वश या एक जाति का समझते है, वे अपने मे एक प्रकार की एकता की अनुभूति रखते हैं। कुटुम्ब, कुल, बिरादरी, गोत्र, जाति और कबीले इसी ढग के समुदाय हैं। इस प्रकार सजातता (Kinship) की भावना एक प्रकार के समुदायो का प्रादुर्भाव करती है।

(२) जो लोग एक प्रकार के धार्मिक विश्वास रखते है, वे एक धार्मिक समुदाय मे सगठित हो जाते हैं। हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, सिक्ख, जैन, पारसी, बौद्ध आदि धार्मिक समुदायो का आधार धार्मिक विश्वासो की एकता ही है। इस प्रकार धर्म की एकता दूसरे प्रकार के समुदायो का प्रादुर्भाव करती है।

(३) आर्थिक हितो की एकता के कारण भी अनेक समुदाय सगठित होते हैं। श्रमी सघ (Trade Unions), सहकारी समितियाँ (Co-operative Societies) और व्यापारी सघ (Chambers of Commerce) इस प्रकार के आर्थिक समुदायो के उत्तम उदाहरण हैं।

(४) राजनीतिक प्रयोजन से मनुष्यो ने जो समुदाय बनाये हैं, राज्य उनमें सबसे उत्कृष्ट है। प्रत्येक राज्य मे अनेक राजनीतिक दल भी होते हैं, जिनका प्रयोजन राजनीतिक क्षेत्र मे किसी विशेष नीति का अनुसरण करना होता है। ये भी एक प्रकार के राजनीतिक समुदाय ही होते हैं।

(५) अनेक समुदायो का निर्माण सास्कृतिक प्रयोजन से किया जाता है। स्कूल, कालिज, पुस्तकालय, वाचनालय, अनुसधान समितियाँ, विज्ञान परिषद् आदि सस्थाओ को हम सास्कृतिक समुदायो के अन्तर्गत कर सकते हैं।

(६) समाज-सुधार के उद्देश्य से भी अनेक समुदाय बनाये जाते है। विधवा-विवाह के प्रचार के लिए, अछूतों का उद्धार करने के लिए, जात पाँत की प्रथा के विरुद्ध प्रचार करने के लिए व इसी प्रकार के अन्य सुधारो के उद्देश्य से जो समुदाय बनाये जाते हैं, उन्हें इस वर्ग के अन्तर्गत किया जा सकता है।

(७) कुछ समुदायो का प्रयोजन मनोरजन होता है। नगरो मे अनेक प्रकार के ऐसे क्लब सगठित किये जाते हैं, जिनका प्रयोजन केवल मनोरजन ही होता है।

अब हम इन विविध प्रकार के समुदायो पर अधिक विस्तार के साथ प्रकाश डालेंगे।

सजातता (Kinship) पर आधारित समुदाय—

सजातता पर आधारित समुदाय अनेक है। इनमे कुटुम्ब (Family), कुल (Clan), जन या कबीला (Tribe), और जाति (Caste) मुख्य हैं।

कुटुम्ब—कुटुम्ब मनुष्यो का सबसे छोटा समुदाय है। पर छोटा होने के कारण उसका महत्व कम नही है। वह न केवल उपयोगी है, अपितु अनिवार्य भी है। प्रत्येक मनुष्य किसी-न किसी कुटुम्ब का सदस्य अवश्य होता है। यह समुदाय सबसे प्राचीन भी है। मानव-इतिहास के आदि काल म ही कुटुम्ब का निर्माण हो गया था, क्योकि यह मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति का परिणाम है। मनुष्य स्वाभाविक रूप से चाहता है, कि वह अकेला न रहे, अपितु सन्तान उत्पन्न करके अपने को 'बहुरूप' कर ले। हिन्दू शास्त्रो न लिखा है—'एकोऽहं बहु स्याम प्रजायेय इति'। मनुष्य अनुभव करता है, कि मैं अकेला हूँ, सन्तान उत्पन्न करूँ, और 'बहु' हो जाऊँ। शारीरिक सम्भोग की इच्छा, प्रेम और सन्तानोत्पत्ति करना मनुष्य की प्राकृतिक प्रवृत्तियाँ हैं। यही प्रवृत्तियाँ कुटुम्ब की आधार हैं। मनुष्य विवाह करके जहाँ शारीरिक सुख प्राप्त करता है, वहाँ साथ ही बच्चो का पालन-पोषण करने म उस स्वाभाविक आनन्द की अनुभूति होती है। माता पिता बच्चो के लिए कष्ट उठाते हैं। यदि बच्चे कुटुम्ब का अग बनकर न रह, तो उनका पालन पोषण सम्भव हो न हो। यही कारण है, कि बहुत प्राचीन काल मे ही मनुष्य कुटुम्बरूपी समुदाय मे सगठित होने लग गया था।

पर कुटुम्ब का जो रूप आजकल है, सदा से वही नहीं चला आया है। ऐतिहासिक लोग एक ऐसे समय की भी कल्पना करते हैं, जब पिता और माता का सम्बन्ध स्थायी नही होता था। उस युग मे एक कुल (Clan) के सब स्त्री-पुरुष अपने को बहन-भाई समझते थे। उनका यह विश्वास था, कि हम सब एक ही पूर्वज (Ancestor) की सन्तान हैं। पर विशेष त्योहार के अवसरो पर पडोस मे निवास करने वाले कुल के साथ मिलकर वे उत्सव मनाते, और इन अवसरो पर वे नाच गान में निमग्न हो जाते। एक कुल की स्त्रियो का दूसरे कुल के पुरुषो के साथ यौन सम्बन्ध भी इन अवसरो पर हो जाया करता था। इस प्रकार जो सन्तान उत्पन्न होती, अपने पिता का उसके साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं होता था। इस सन्तान का पालन पोषण कुल द्वारा हुआ करता था। बाद म कुटुम्ब का निर्माण हुआ, और पति-पत्नी एक साथ निवास करने लगे। कुटुम्ब के विकास से पूर्व चाहे कोई ऐसा समय रहा हो, पर इसमे सन्देह नही कि मनुष्यो का यह समुदाय बहुत अधिक प्राचीन है।

यहाँ यह भी ध्यान मे रखना चाहिये कि इतिहास मे कुटुम्ब भी दो प्रकार के रहे हैं, पितृसत्ताक (Patriarchal) और मातृसत्ताक (Matriarchal)। आजकल पितृसत्ताक कुटुम्बों का ही प्राधान्य है। इन कुटुम्बो मे पिता या पति की मुख्यता होती है, और स्त्री अपने पिता के परिवार को छोडकर पति के परिवार का अग बन जाती

है। पर इतिहास मे ऐसे कुटुम्ब भी रहे हैं, और अब भी कहीं-कहीं हैं, जिनमे वंश-क्रम पिता से न होकर माता द्वारा होता है। ऐसे परिवारो को मातृसत्ताक कहा जाता है।

कुटुम्ब का स्वरूप चाहे कैसा भी हो, इसमे सन्देह नहीं कि वही मनुष्य के सामाजिक जीवन का आधार है। सामाजिक जीवन का अभिप्राय यही है कि मनुष्य परस्पर मिलकर रहे, और एक साथ मिलकर अपने हित, कल्याण और उन्नति के लिए तत्पर हो। इसके लिए उन्हे अनेक अंशो मे अपनी स्वतन्त्र इच्छा को मर्यादित करना पड़ता है। कुटुम्ब का अंग बनकर मनुष्य अपने मे उन गुणो को विकसित करता है, जो उसे सामाजिक जीवन के योग्य बनाते हैं। इसीलिये एक लेखक ने लिखा है, कि मनुष्य के सामाजिक जीवन के लिए कुटुम्ब एक शाश्वत विद्यालय के समान है। कुटुम्ब का अंग बनकर मनुष्य जिन गुणो को सीखता है, वे निम्नलिखित हैं—

(१) प्रेम—कुटुम्ब के सब सदस्यो के लिये एक दूसरे के प्रति प्रेम-भाव रखना आवश्यक है। पति पत्नी से प्रेम करता है, और पत्नी पति से, माता पिता सन्तान से और सन्तान माता-पिता से। प्रेम-भावना को कुटुम्ब की नींव माना जा सकता है। कुटुम्ब मे रहता हुआ मनुष्य केवल अपने लिये ही नहीं जीता, केवल अपने सुख से ही सुखी नहीं होता, अपितु दूसरे के सुख मे ही अपना सुख समझता है। माता पिता को जितना सुख स्वयं सुस्वादु भोजन खाकर या उत्तम वस्त्र पहनकर प्राप्त होता है, उससे कहीं अधिक सुख तब मिलता है, जब कि वे अपनी सन्तान को अच्छा भोजन खाते या बढ़िया कपड़े पहनते हुए देखते हैं। सबसे प्रेम करने और दूसरो के सुख मे अपना सुख मानने की शिक्षा नागरिक जीवन का आधार है। पर इसका अभ्यास मनुष्य को कुटुम्ब द्वारा ही होता है।

(२) सेवाभाव—कुटुम्ब के सब सदस्य एक-दूसरे के प्रति सेवाभाव रखते हैं। कुटुम्ब का कोई व्यक्ति जब बीमार पड़ता है या विकलाङ्ग हो जाता है, तो दूसरे लोग उसे असहाय नहीं छोड़ देते, अपितु उसकी सेवा करने मे प्रसन्नता अनुभव करते हैं। सामाजिक जीवन या नागरिकता का यही मूल तत्त्व है। कुटुम्ब के विविध सदस्य एक दूसरे की जो सेवा करते हैं, उसमे स्वार्थ-भावना का सर्वथा अभाव होता है। यही बात समाज के अन्य बड़े समुदायो मे भी होनी चाहिये।

(३) सहयोग—कुटुम्ब के सब सदस्य परस्पर सहयोग द्वारा कार्य करते हैं। पति-पत्नी सहयोग द्वारा ही अपनी पारिवारिक आवश्यकताओं को पूर्ण करते हैं। बच्चे जहाँ खेल कूद मे सहयोग से काम लेते हैं, वहाँ घर के कामो मे माता-पिता से भी सहयोग करते हैं।

(४) सहिष्णुता—कुटुम्ब की सफलता के लिये सहिष्णुता अत्यन्त आवश्यक है। जो स्त्री व पुरुष एक साथ मिलकर कुटुम्ब का निर्माण करते है, उनकी रुचि व

विचार पूर्णतया एक सदृश हो, यह आवश्यक नही है। अत उन्हे एक दूसरे की रुचि व विचारो के प्रति सहिष्णु होना पडता है। कितने ही घरो मे पति-पत्नी के धार्मिक विश्वासो मे भी अन्तर होता है। पति यदि स्वतन्त्र विचार का है, देवी-देवताओ मे विश्वास नहीं रखता, तो स्त्री व्रत और पूजा के बिना एक दिन भी नही रह सकती। पर उन्हें साथ रहते हुए एक दूसरे के विचारों व विश्वासो का आदर करना होता है। कितने ही घरो मे सन्तान के विचार माता-पिता के विचारो से भिन्न हो जाते हैं, पर माता-पिता उनको सहन करते हैं। सहिष्णुता का जो यह पाठ मनुष्य कुटुम्ब मे पढता है, वह अधिक व्यापक समाज मे उसके बहुत काम आता है। किसी भी देश मे जनता के धार्मिक, राजनीतिक व आर्थिक विचारो मे कितनी ही भिन्नताएँ पाई जाती हैं। पर भिन्न-भिन्न विचारो व रुचियो के लोगो को एक देश मे एक साथ ही रहना होता है। यदि इनमे सहिष्णुता की भावना न हो, तो वे कभी एक साथ रहकर अपनी उन्नति नही कर सकते।

(५) आज्ञापालन और नियन्त्रण–कुटुम्ब मे बच्चे बडो की आज्ञा का पालन करते हैं। यद्यपि इसमे माता-पिता के प्रेम का भाव भी काम कर रहा होता है, पर जब बच्चे बडे हो जाते है, तो उन्हें यह ज्ञान भी हो जाता है कि बडो की बात मानना उनका कर्तव्य है। माता-पिता इस बात का यत्न करते हैं, कि बच्चे केवल उन्ही बातो को सीखे, जो उनके भावी जीवन के लिए उपयोगी हो। उन्हे बुरी आदतो से बचाने का माता-पिता को विशेष ध्यान रखना पडता है। इसीलिये वे बच्चो को अपने अनुशासन व नियन्त्रण (Discipline) मे रखते हैं। बच्चो को आज्ञापालन और नियन्त्रण मे रहने की जो आदत कुटुम्ब मे पड जाती है, वह बडे होने पर उनके बहुत काम आती है। इटली के प्रसिद्ध विचारक व नेता मेजिनी ने क्या ठीक कहा है—बच्चे नागरिकता का सबसे उत्तम पाठ माता के चुम्बन और पिता के दुलार द्वारा ही सीखते हैं।

(६) कर्तव्य-पालन—कुटुम्ब मे स्त्री-पुरुष अपने-अपने कर्तव्य के पालन का ध्यान रखते हैं। यदि पुरुष धन कमाने के कर्तव्य की उपेक्षा करे और स्त्री घर के कामो पर ध्यान न दे, तो कुटुम्ब कभी सुखी नही रह सकता। कुटुम्ब मे मनुष्य को कर्तव्य-पालन की जो शिक्षा मिलती है, वह उसके लिये समाज के व्यापक समुदायो में भी बहुत काम आती है।

(७) कुटुम्ब के प्रति भक्ति—कुटुम्ब का प्रत्येक सदस्य कुटुम्ब के प्रति भक्ति (Allegiance) रखता है। छोटे बच्चे तक भी यह भाव रखते हैं, कि उन्हे अपने कुटुम्ब के हित, कल्याण व उन्नति के लिये प्रयत्न करना चाहिये, और कुटुम्ब की बातो की चर्चा व्यर्थ मे दूसरे लोगों से नही करनी चाहिये। किसी भी समुदाय की सफलता के लिये उसके सदस्यो की उसके प्रति भक्ति का होना अत्यन्त आवश्यक है। राज्य के सब सदस्य उसके प्रति भक्ति रखते हैं। जिस राज्य के लोगो मे भक्ति की यह भावना

न हो, वे शत्रुओ से मिलकर अपने राज्य का अहित करने म जरा भी सकोच नहीं करते। समुदायो के प्रति हमारी भक्ति होनी चाहिये, इसका पहला पाठ भी मनुष्य कुटुम्ब मे ही पढता है।

कुटुम्ब की सफलता के लिये आवश्यक बातें—

क्योकि कुटुम्ब एक अनिवार्य समुदाय है, और उसी के द्वारा मनुष्य उन सब गुणो को सीखते हैं, जो सामाजिक जीवन की सफलता के लिये आवश्यक हैं, अत हमे यह भी विचार करना चाहिये कि किन बातो द्वारा हम एक सफल व आदर्श कुटुम्ब बना सकते हैं। सस्कृत मे एक कहावत है—"यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे"। इसका मतलब यह है, कि जो बातें एक छोटे से पिण्ड मे पाई जाती हैं, वही सारे ब्रह्माण्ड या ससार मे भी होती है। यद्यपि कुटुम्ब एक बहुत छोटा-सा समुदाय है, पर उसमें सारा सामाजिक जीवन प्रतिबिम्बित रहता है। अत कुटुम्ब की सफलता के लिये आवश्यक बातो को जानकर हमारे लिये यह समझना भी कठिन नही रहेगा, कि बडे समुदायो की सफलता के लिये कौन-सी बातें उपयोगी व आवश्यक हैं।

कुटुम्ब की सफलता के लिये आवश्यक बातो को दो भागो मे बाँटा जा सकता है—(१) बाह्य परिस्थितियां (External Conditions) और आन्तरिक परिस्थितियां (Internal Conditions)। हम दोनो पर पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

बाह्य परिस्थितियाँ—कुटुम्ब की सफलता के लिये आवश्यक बाह्य परिस्थितियां निम्नलिखित हैं—

(१) प्रत्येक कुटुम्ब की आमदनी कम-से-कम इतनी अवश्य होनी चाहिये कि वह अपनी न्यूनतम आवश्यकताओ को पूर्ण कर सके। यह तो स्पष्ट ही है, कि मनुष्य की न्यूनतम आर्थिक आवश्यकताएँ निम्नलिखित हैं—उसे भर पेट भोजन मिल सकना चाहिए, भोजन भी ऐसा हो जो शरीर की पुष्टि करने वाला हो। पहनने के लिए कपडा भी प्रत्येक मनुष्य को मिलना चाहिये। कपडा चाहे महीन व शानदार न हो, पर वह ऐसा अवश्य होना चाहिये, जिससे मनुष्य शीत, वर्षा व गर्मी से अपने शरीर की रक्षा कर सके। पर मनुष्य की न्यूनतम आवश्यकता केवल भोजन और कपडा ही नही है। मनुष्य कभी बीमार भी पडता है, किसी आकस्मिक दुर्घटना के कारण वह अपाहिज व विकलाङ्ग भी हो सकता है, जिसके कारण वह काम करने के योग्य नहीं रह जाता। बुढापा भी सबको आता है, और बुढापे में आदमी कमाई करने लायक नही रहता। कुटुम्ब की आमदनी इतनी अवश्य होनी चाहिये, कि जहाँ उससे भोजन और वस्त्र प्राप्त हो सकें, वहाँ रोग, बुढापे आदि मे भी काम चल सके।

(२) कुटुम्ब के पास अपने निवास के लिए एक अच्छे मकान का होना भी बहुत आवश्यक है। जिस तरह आत्मा के निवास के लिए शरीर होता है, वैसे ही मनुष्यो

के निवास के लिए मकान की उपयोगिता है। अलग मकान के बिना कोई कुटुम्ब अपने पारिवारिक जीवन को नहीं बिता सकता। मकान भी ऐसे होने चाहिएँ, जो स्वास्थ्य के लिए लाभदायक हो।

आन्तरिक परिस्थितियाँ--(१) कुटुम्ब के सदस्यो की इतनी शिक्षा अवश्य होनी चाहिए, जिससे जहाँ वे आजीविका कमा सकें, वहाँ साथ ही कुटुम्ब के प्रति अपने कर्तव्यों को भी समझ सके। अशिक्षित मनुष्य न अपने कर्तव्यो को जानता है, और न उसमे सहयोग, सहिष्णुता आदि गुण भली-भाँति विकसित हो सकते है। शिक्षा जहाँ मनुष्य को राज्य के उत्तम नागरिक बनने मे सहायता देती है, वहाँ साथ ही कुटुम्ब का उत्तम सदस्य बनने मे भी सहायक होती है।

(२) सेवाभाव, प्रेम, सहिष्णुता, आज्ञापालन आदि पारिवारिक जीवन के जिन गुणो का हमने ऊपर उल्लेख किया है, उनका होना भी कुटुम्ब की सफलता के लिए बहुत उपयोगी है।

(३) सफल कुटुम्ब के लिए एक आवश्यक बात यह भी है, कि कुटुम्ब का आकार बहुत बडा न हो। बहुत बच्चो का होना आजकल की परिस्थिति म अच्छा नहीं माना जाता, क्योकि माता पिता के लिए उनका पालन पोषण करना, उन्हे उचित शिक्षा देना और बाद मे उन्हे काम में लगाना सुगम नही होना। इसीलिय आजकल अनेक देशो मे 'परिवार आयोजन' (Family Planning) की व्यवस्था की जाती है, और गृहस्थो को यह सिखाया जाता है कि किस प्रकार वे अपने कुटुम्ब के आकार को मर्यादित रख सकते हैं।

कुल (Clan)—सजातता (Kinship) के आधार पर बने हुए समुदायो मे 'कुल' का भी बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। कुल का रूप एक बडे परिवार के समान होता है। एक पिता के अनेक पुत्र बडे होकर अपने अलग अलग कुटुम्ब बना लेते हैं, पर इन विविध कुटुम्बों में यह भाव कायम रहता है, कि हम एक ही पूर्वज (Ancestor) की सन्तान हैं। उनमे अपने एक होने की अनुभूति कायम रहती है। ऐसे कुटुम्बो के समूह को, जिनमे यह विचार विद्यमान हो कि हम एक ही पूर्वज की सतान हैं, कुल कहते है। सस्कृत मे इसी को 'गोत्र' भी कहा जाता है। इसी कारण एक गोत्र के स्त्री पुरुष अपने को बहन भाई समझते हैं, और उनमे विवाह सम्बन्ध नही होता। कुल के सदस्य भी एक दूसरे के प्रति अपने अनेक कर्तव्य समझते हैं, और परस्पर सहयोग से काम करते है।

जन या कबीला (Tribe)—बहुत से कुलो मे मिलकर एक जन या कबीले का निर्माण होता है। कबीला एक राजनीतिक समुदाय है, पर उसका आधार सजातता ही होती है। कबीले के विविध सदस्यो म भी यह विचार पाया जाता है, कि हम सब किसी एक पूर्वज की सन्तान हैं यद्यपि उनमे यह विचार बहुत अस्पष्ट

रूप से रहता है। अपना सामुदायिक जीवन बिताते हुए मनुष्यों को यह आवश्यकता अनुभव होती है, कि वे परस्पर मिलकर शत्रुओं का मुकाबिला करें, और किसी के नेतृत्व में रहकर अपने हितों की रक्षा करें। इसी उद्देश्य से बहुत से कुलों द्वारा एक जन या कबील का सगठन किया जाता है। मानव इतिहास में जब मनुष्य शिकार या पशु पालन द्वारा अपना निर्वाह किया करते थे, तो वे किसी स्थान पर स्थायी रूप में बस हुए नही होते थे। पर कही स्थायी रूप से बसे हुए न होने पर भी उनमें सामुदायिक जीवन की सत्ता थी। जब ये जन कही स्थायी रूप से बस गये, तब 'जनपद' का निर्माण हुआ। जनपदो का शासन जिन सभाओं द्वारा होता था, उनमें जन के अंतर्गत विविध कुलों के 'कुलमुख्य' ही सम्मिलित हुआ करते थे।

जाति (Caste)—सजातता (Kinship) के आधार पर ही एक अन्य समुदाय का निर्माण हुआ है, जिसे जाति (Caste) कहते है। भारत के सामाजिक जीवन में जाति का महत्व बहुत अधिक है। इस देश की सब जनता बहुत सी जातियों में विभक्त है जिनकी प्रथाएँ, रीति रिवाज, खान पान व परम्पराएँ एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। ब्राह्मण राजपूत, जाट, गूजर, अग्रवाल, रस्तोगी, कायस्थ, चमार आदि कितनी ही जातियाँ इस देश में विद्यमान है, जिनमें जाति के आधार पर आश्रित पृथक सामुदायिक जीवन की सत्ता है। इन जातियों का विकास किस प्रकार और किन कारणों द्वारा हुआ, यह प्रश्न बहुत विवादग्रस्त है। यहाँ इस पर विचार करने की आवश्यकता नही। जातियों के मुख्य आधार स्थूल रूप से दो हैं, नस्ल की एकता, और एक पेशे का अनुसरण करना। कुम्हार, बढ़ई, गडरिया, नाई, चमार आदि कितनी ही जातियाँ ऐसी हैं, जिनके लोग किसी एक पेशे का ही अनुसरण करते हैं। पर साथ ही, उनमें सजातता की दृष्टि से भी अपने एक होने का विचार विद्यमान है। बहुत-सी जातियों के लोग अपने को किसी एक पूर्वज की ही सन्तान समझते हैं। अग्रवाल लोग अपने को राजा अग्रसेन का, रस्तोगी लोग अपने को राजा हरिश्चन्द्र का और सिसोदिया राजपूत अपने को राजा रामचन्द्र का वंशज मानते हैं। यही बात अन्य बहुत सी जातियों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

धर्म के आधार पर निर्मित समुदाय—

ससार में इस समय बहुत से धर्म प्रचलित है, जिनमें बौद्ध, ईसाई, हिंदू और मुस्लिम धर्म प्रमुख है। एक धर्म का अनुसरण करने वाले लोगों में परस्पर एकानुभूति हो, यह सर्वथा स्वाभाविक है। पर एक धर्म का अनुसरण करने वाले सब लोग किसी एक समुदाय में भी सगठित हो, यह आवश्यक नही है। इस्लाम के अनुयायी अरब, ईरान, तुर्की, पाकिस्तान, भारत, इण्डोनेशिया आदि कितने ही देशों में निवास करते है। जब तक तुर्की के सुलतान को इस्लाम का खलीफा भी माना जाता था, ससारभर

के मुसलमान उसे अपना धर्मगुरु समझते थे, और उसके प्रति अपनी भक्ति व निष्ठा (Allegiance) प्रदर्शित करते थे। उस समय यह कहा जा सकता था, कि संसार भर के मुसलमान एक समुदाय में संगठित हैं। ईसाई लोगों के अनेक समुदाय हैं, जिनमें रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट मुख्य हैं। संसार भर के रोमन कैथोलिक ईसाई रोम के पोप को अपना धर्मगुरु मानते हैं, और वह सब देशों में अपने प्रतिनिधि नियत करता है। रोमन कैथोलिक ईसाइयों का एक सुसंगठित समुदाय विद्यमान है। प्रोटेस्टेन्ट ईसाइयों के अनेक सम्प्रदाय हैं, जिन सबके अलग अलग संगठन हैं। हिन्दू धर्म का कोई एक केन्द्रीय संगठन नहीं है, पर उसके विविध संप्रदाय अपने अपने संगठन बनाये हुए हैं। धर्मों के ये विविध समुदाय इस प्रयोजन से संगठित हैं, कि अपने-अपने अनुयायियों के धार्मिक विश्वासों, रीति-रिवाजों, पूजापाठ की विधियों और आचरण को नियन्त्रित करें, और साथ ही धर्म-प्रचार द्वारा अपने अनुयायियों की संख्या को बढ़ाने का भी प्रयत्न करें। अपने मन्तव्यों के प्रचार और अपने अनुयायियों की संख्या में वृद्धि करने के प्रयोजन से धार्मिक समुदाय शिक्षणालय, अस्पताल, विधवा आश्रम, अनाथालय आदि भी खोलते हैं और अन्य अनेक प्रकार से भी जनता की सेवा करते हैं।

ऐसे लोग बहुत कम हैं, जो किसी भी धर्म के अनुयायी न हों। प्राय सभी लोग किसी-न किसी धर्म को मानते हैं, और उसकी शिक्षा के अनुसार पूजा पाठ करने और धर्म द्वारा प्रतिपादित विधि-विधानों का अनुसरण करने का प्रयत्न करते हैं। धर्म का सम्बन्ध मनुष्य के आतरिक विश्वासों के साथ होता है, पर उसकी अभिव्यक्ति अनेक इस प्रकार के पूजा-पाठ व विधि विधानों द्वारा होती है, जो आन्तरिक न होकर बाह्य होते हैं। ईश्वर के प्रति मनुष्य का जो विश्वास है, उसे बाह्य रूप से हिन्दू लोग पूजा द्वारा और मुसलमान लोग नमाज द्वारा प्रकट करते हैं।

व्यक्ति का धार्मिक समुदाय से सम्बन्ध—व्यक्ति का धार्मिक समुदाय के साथ सम्बन्ध बहुत गहरा व घनिष्ठ होता है। इसका कारण यह है, कि धर्म से मनुष्य को अनेक लाभ पहुँचते हैं। धर्म उन नियमों व तथ्यों का उपदेश करता है, जो मनुष्य को इहलोक में सुखी होने और मोक्ष प्राप्त करने में सहायक होते हैं। हिन्दू शास्त्रों के अनुसार धर्म का लक्षण इस प्रकार किया गया है—"यतो अभ्युदयनि श्रेयसिद्धि स धर्म"। जिससे इस लोक में मनुष्य अपना अभ्युदय (हित, कल्याण और उन्नति) कर सके, और मृत्यु के बाद मोक्ष प्राप्त कर सके, उसे धर्म कहते हैं। प्राय सभी धर्म मनुष्य को यह शिक्षा देते हैं, कि वह सदा सत्य भाषण करे, अहिंसा व्रत का पालन करे, चोरी न करे, ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन व्यतीत करे, परस्त्री पर कुदृष्टि न डाले और सम्पत्ति का बहुत परिग्रह (संचय) न करे। छल कपट, ईर्ष्या द्वेष, लोभ आदि से दूर रहे, और दूसरों के प्रति दया व सहानुभूति का बरताव करे। इसमें सन्देह नहीं,

कि इन तथ्यों का अनुसरण कर मनुष्य जीवन में सुख प्राप्त कर सकता है, और अपनी उन्नति भी कर सकता है। साथ ही धर्म यह शिक्षा भी देता है, कि इस जीवन से परे भी एक जीवन है और मनुष्य को उसका भी ध्यान रखना चाहिए। हिन्दू लोग पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं और यह मानते हैं कि मृत्यु के साथ मनुष्य के जीवन का अन्त नहीं हो जाता। मरकर मनुष्य फिर जन्म लेता है और यह दूसरा जन्म अपने कर्मों के अनुसार होता है। इस जन्म में मनुष्य जो कर्म करता है यदि उनका फल इसी जन्म में न मिल जाय तो वह अगले जन्मों में जरूर मिलेगा। इस्लाम पुनर्जन्म में विश्वास नहीं रखता। पर उसके अनुसार भी क्यामत के दिन सब लोगों को खुदा के सामने अपने कर्मों का जवाब देना पड़ेगा। जिसके जैसे कर्म होंगे, उसी के अनुसार उसे बहिश्त में सुख या जहन्नुम में तकलीफ भोगनी पड़ेगी। विविध धर्मों की ये शिक्षाएँ मनुष्य को बुरे कर्मों से बचाती हैं और अच्छे काम करने के लिए प्रेरणा प्रदान करती हैं। धार्मिक समुदाय व्यक्तियों के लिए प्रकाशस्तम्भ का काम करते हैं जो उन्हें सच्चा व सुरक्षित मार्ग दिखाते रहते हैं।

व्यक्ति और धार्मिक समुदायों के सम्बन्ध को हम संक्षेप से इस प्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं—

(१) धर्म मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन के साथ गहरा सम्बन्ध रखता है। वह मनुष्यों को यह बताता है कि उन्हें अपने वैयक्तिक जीवन में किन आदर्शों को सम्मुख रखना चाहिए और अपने अन्दर कौन से गुण विकसित करने चाहियें। वह इहलोक और परलोक में सुखी होने का एक निश्चित आदर्श मनुष्यों के सम्मुख पेश करता है, और उनके उपाय भी उन्हें बताता है।

(२) सामाजिक व सामुदायिक जीवन के साथ भी धर्म का बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक दूसरे से बर्ताव करते हुए मनुष्य किस प्रकार का आचरण करे, यह धर्म उन्हें बताता है। हिन्दू मुसलमान ईसाई आदि सब धर्मों के सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में अपने अपने आदर्श हैं अपने अपने विचार हैं। व्यक्ति इन आदर्शों को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं। जिन धर्मों के अनुसार बहु विवाह जायज है, उनके अनुयायियों को अनेक स्त्रियों से विवाह करने में कोई भी अनौचित्य नजर नहीं आता। भारत में अब किसी को अछूत समझना कानून के विरुद्ध है पर बहुत से हिन्दू कानून की उपेक्षा कर अब तक भी अछूत समझी जानेवाली जातियों को कुओं पर चढ़ने से रोकते हैं, और उन्हें मन्दिरों में प्रविष्ट नहीं होने देते। इस सब का कारण यही है, कि मनुष्यों के सामाजिक जीवन पर धार्मिक समुदायों का बहुत अधिक प्रभाव होता है।

(३) व्यक्ति धार्मिक समुदायों के प्रति बहुत अधिक निष्ठा व भक्ति (Allegiance) रखते हैं। इस भक्ति के कारण वे अनेक बार राज्य का भी विरोध करने के लिए तैयार हो जाते हैं।

(४) लोकतन्त्र शासनों के कारण वर्तमान समय मे राज्य का कार्यक्षेत्र बहुत बढ गया है। पर अब से डेढ सौ दो सौ साल पूर्व जबकि ससार के प्राय सभी देशो मे राजाओ का एकतन्त्र व स्वेच्छाचारी शासन था, सरकार की ओर से न शिक्षा का प्रबन्ध होता था, न अस्पताल खोले जाते थे और न लोक हितकारी अन्य कार्य ही किये जाते थे। उस समय ये सब कार्य प्राय धार्मिक समुदाय ही किया करते थे। अब तक भी धार्मिक समुदाय इन कार्यों को करते हैं, और इनके कारण व्यक्तियो पर उनका प्रभाव अब भी बहुत अधिक है।

धर्म और सामाजिक जीवन—हमने अभी लिखा है, कि धर्म का मनुष्यो के सामाजिक जीवन के साथ भी बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। धर्म जहां हमारे व्यक्तिगत जीवन को मर्यादित करता है, वहां साथ ही हमारे सामुदायिक जीवन को भी वह एक दिशा मे ले जाता है। हम अपन जीवन के लिए जितनी प्ररणा धर्म से प्राप्त करते है, उतनी शायद अन्य किसी से प्राप्त नहीं करते। जहां तक व्यक्तिगत जीवन का सम्बन्ध है, धर्म का प्रभाव प्राय हितकर ही होता है। एक अदृश्य सर्वोपरि शक्ति मे विश्वास मनुष्य के हृदय मे बल का सचार करता है। धर्म द्वारा प्रतिपादित सयम नियम मनुष्य के जीवन को पवित्र बनाने मे सहायक होत हैं। पर सामाजिक जीवन के सम्बन्ध म अनेक बार धार्मिक समुदाय मनुष्यो मे सकीर्णता व विद्वेष भी उत्पन्न करत हैं। अब से कुछ समय पूर्व तक यूरोप के प्रोटेस्टेन्ट और रोमन कैथोलिक लोग आपस म घोर विद्वेष रखते थे। प्रोटेस्टेन्ट लोग रोमन कैथोलिकों के शत्रु थे, और रोमन कैथोलिक प्रोटेस्टेन्टों के। मुसलमानो के शिया और सुन्नी सम्प्रदाय आपस म बहुत विरोध रखते रहे है। पाकिस्तान के मुसलमान अपने ही धर्म के अहमदिया सम्प्रदाय के प्रति विद्वेष का भाव रखते है। हिन्दुओं और मुसलमानो के विरोध के कारण ही भारत का विभाजन हुआ, और पाकिस्तान नाम से एक नए मुस्लिम राज्य का निर्माण हुआ। हिन्दुओ के विविध सम्प्रदायो म भी बहुधा लडाई-झगडे होत रहते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जहाँ धर्म मनुष्य के हित, कल्याण और अभ्युदय का साधन है, वहां साथ ही उसक कारण मनुष्य मनुष्य का शत्रु भी बन जाता है। इतना ही नहीं, अनेक धार्मिक समुदाय रूढिवादी बनकर अपनी कट्टरता के कारण मानव-समाज की उन्नति मे बाधा भी डालते हैं। जब भारत की विधान-सभा मे बाल विवाह के विरुद्ध कानून पेश हुआ, तो अनेक लोगो ने धर्म के नाम पर उसका विरोध किया। परदे की प्रथा के खिलाफ जो प्रचार किया जाता है, कई लोग धर्म की दुहाई लेकर उसका भी विरोध करते हैं। मनुष्यों के एक भाग को अछूत मानने का समर्थन भी कुछ लोग धर्म के नाम पर ही करते हैं। धर्म की आड लेकर कितने ही राजाओ ने अपनी प्रजा के उस भाग पर अमानुषिक अत्याचार किए, जो राजधर्म के अतिरिक्त किसी अन्य धर्म का अनुयायी था।

विज्ञान की उन्नति के कारण आज ससार के विविध देशो के निवासी एक-

दूसरे के बहुत समीप आ गये हैं। उन्हें अब यह अवसर मिलता है, कि सब देशो के विचारको की पुस्तको को पढ़ें, और उनके विचारो से परिचित हो। विविध धर्मों के लोग भी अब एक-दूसरे के सिद्धान्तो व मन्तव्यो से परिचय प्राप्त कर सकते हैं। इस दशा मे सकीर्णता का अन्त होना और एक-दूसरे के प्रति सहिष्णुता मे वृद्धि होना सर्वथा स्वाभाविक है। पर धार्मिक समुदाय बहुधा इस प्रवृत्ति मे बाधक होते हैं। उनके सकीर्ण प्रचार के कारण एक देश के निवासी ही परस्पर विद्वेष रखने लगते हैं, और उनमे सहयोग हो सकना सम्भव नही रहता। इन्ही बातों को दृष्टि मे रखकर बहुधा इस बात की आवश्यकता अनुभव की जाती है, कि राज्य द्वारा धार्मिक समुदायो के कार्यों व नीति पर नियन्त्रण रखा जाए। यदि धार्मिक समुदायो पर उचित रीति से नियन्त्रण रखा जाए, तो वे नि सन्देह बहुत उपयोगी कार्य कर सकते हैं। धर्म का वास्तविक उद्देश्य मनुष्यो को सच्चरित्र, कर्तव्य-परायण और उन्नत आदर्शवाला बनाना है। यदि धार्मिक समुदाय अपना कार्य-क्षेत्र प्रधानतया मनुष्यो के व्यक्तिगत मामलो तक ही सीमित रखें, तो वे बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

इस समय बहुत से देशो मे विवाह, विरासत आदि के कानून भी धर्म पर आश्रित हैं। इस्लाम मे पुरुष चार स्त्रियो से विवाह कर सकता है। हिन्दू धर्म के अनुसार भी बहु-विवाह जायज है। तलाक उचित है या नही, इसका निर्णय भी धर्मशास्त्रो के अनुसार किया जाता है। सम्पत्ति के उत्तराधिकार-सम्बन्धी नियम भी धर्म के अनुसार निर्धारित किये जाते हैं। पर ऐसा करने से एक बडी हानि यह होती है, कि बदलती हुई परिस्थितियो के अनुसार इनमे परिवर्तन कर सकना सम्भव नहीं होता। धर्म के मन्तव्यो को प्राय अपरिवर्तनीय और शाश्वत माना जाता है। लोग उनके प्रति पवित्रता की भावना रखते हैं, और धार्मिक विधानो को दैवी समझते हैं। पर मनुष्य ज्यो-ज्यो उन्नति करता जाता है, उसकी सामाजिक परिस्थितियो मे भी परिवर्तन होता जाता है। इन परिस्थितियो के बदलने पर विरासत, विवाह आदि के नियमो मे परिवर्तन होना बहुत आवश्यक हो जाता है। जब तक स्त्री-शिक्षा को बुरा माना जाता था, स्त्रियो की समाज मे कोई स्वतन्त्र स्थिति नहीं होती थी। इसीलिए उस समय बहु विवाह की प्रथा भी सम्भव थी। पर अब जब कि स्त्रियाँ भी शिक्षा प्राप्त करती हैं, समाज मे उनकी स्थिति भी पुरुषो के बराबर है, बहु-विवाह को उचित मान सकना सम्भव नहीं है। पर यदि विवाह को भी धार्मिक मन्तव्यो के अन्तर्गत मान लिया जाए, तो उसके सम्बन्ध मे पुरानी चली आई व्यवस्था मे परिवर्तन कर सकना सुगम नही रहेगा। इसी कारण बहुत से विचारक सामाजिक जीवन को धार्मिक मन्तव्यो से पृथक् रखने के पक्षपाती है, और राज्य द्वारा धार्मिक समुदायो के नियन्त्रण का समर्थन करते हैं।

आर्थिक हितों पर आधारित समुदाय

मनुष्य अकेला अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। इस कारण वह ऐसे समुदाय बनाता है, जिनका प्रयोजन परस्पर सहयोग द्वारा सम्पत्ति का उत्पादन, वितरण व उपभोग करना होता है। वैज्ञानिक उन्नति के कारण वर्तमान समय में ऐसे बड़े बड़े कारखाने खुल गये हैं, जिनमें हजारों मजदूर एक साथ मिलकर कार्य करते हैं। एक आदमी के पास इतनी पूंजी नहीं होती, कि वह करोड़ों रुपये लगाकर एक विशाल कारखाने को खोल सके। परिणाम यह होता है, कि बहुत से हिस्सेदार (Share-holders) मिलकर जॉयन्ट स्टाक कम्पनी का निर्माण करते हैं, और अपनी सम्मिलित पूंजी से एक बड़ा कारखाना खोल लेते हैं। आर्थिक हितों (Economic interests) की एकता के कारण इस समय मनुष्यों ने कितने ही आर्थिक समुदाय बनाये हैं, जो अनेक प्रकार के हैं—

(१) सम्पत्ति के उत्पादन के प्रयोजन से बनाये हुए समुदाय—हमने अभी जॉयन्ट स्टाक कम्पनी का जिक्र किया है। यह पूंजीपतियों का एक समुदाय है, जिसका संगठन आर्थिक उत्पत्ति के प्रयोजन से किया जाता है। इसी प्रयोजन से सहकारी समितियाँ (Co-operative Societies) भी संगठित की जाती हैं। इन समितियों का संगठन उत्पादकों (Producers) द्वारा किया जाता है। मान लीजिये, एक नगर में बहुत-से मोची रहते हैं, जो जूते बनाने का काम करते हैं। अकेले अकेले रहने पर उनके लिए सस्ती कीमत पर चमड़ा खरीद सकना भी कठिन होता है, और अपने तैयार माल को भी वे बाजार में अच्छी कीमत पर नहीं बेच सकते। पर यदि वे परस्पर मिलकर एक सहकारी समिति बना लें, तो ऐसा करने से उनकी शक्ति बहुत बढ़ जायगी। वे चमड़े के लिए इकट्ठे बड़ा आर्डर दे सकेंगे, और उसे सस्ता प्राप्त कर सकेंगे। शहर में जूतों की एक अलग दूकान भी वे खोल सकेंगे, जहाँ उनके जूते अच्छी कीमत पर बिक जाएँगे। अन्य नगरों के व्यापारियों से अपने जूतों का आर्डर प्राप्त कर सकना भी उनके लिए मुमकिन होगा। सम्पत्ति के उत्पादन के प्रयोजन से जहाँ आजकल पूंजीपति लोग जॉयन्ट स्टाक कम्पनियां का संगठन करते हैं, वहाँ शिल्पी व कारीगर लोग भी सहकारी समितियों का निर्माण करते हैं।

(२) आर्थिक हितों की एकता के कारण बने हुए समुदाय—जिन लोगों के आर्थिक हित एक समान हों, वे प्राय परस्पर मिलकर ऐसे संगठन बना लेते हैं, जिनका प्रयोजन अपने हितों की रक्षा करना होता है। श्रमी संघ (Trade Union) इस प्रकार के समुदायों का उत्तम उदाहरण है। मजदूर लोग गरीब होते हैं, और विवश दशा में अपने घर-बार छोड़कर शहरों के कारखानों में काम करने के लिए जाते हैं। जब तक श्रमी संघों का संगठन नहीं हुआ था, मिल-मालिक मजदूरों से मनमाना काम ले सकते थे। कोई समय था, जब इङ्गलैण्ड में मजदूर लोग दिन-रात में २४ घण्टा

मे से १८ घण्ट कारखाना मे काम किया करते थे। मिल-मालिक इस बात का जरा भी ध्यान नही रखते थे, कि कारखाने मे हवा और रोशनी का समुचित प्रबन्ध हो। मजदूर किन मकानो म रहते हैं, उनके स्वास्थ्य की क्या दशा है, और उनके बाल-बच्चो के रहन सहन व शिक्षा की क्या व्यवस्था है—इन सब बातो की उन्हें जरा भी फिकर नही होती थी। मिल-मालिक मजदूरो से अधिक-से-अधिक काम लेते थे और उन्ह कम से-कम वेतन देत थे। पर जब मजदूर श्रमी-सघो मे सगठित हो गए, तो उन्होने अपने हितो व अधिकारो की रक्षा के लिए सघर्ष शुरू कर दिया। इसी का यह परिणाम है, कि आज सरकार-द्वारा एसे कानून बनाय गए है, जिनके अनुसार यह निश्चित कर दिया गया है कि मजदूर प्रतिदिन अधिक-से-अधिक कितने घण्टे काम कर सकें, उन्ह कम से कम कितनी मजदूरी मिले, कारखानो की इमारतो का निर्माण इस ढग से किया जाए कि उनमे हवा और रोशनी का समुचित प्रबन्ध हो, मजदूरो के निवास के लिए अच्छे मकान सुलभ हो, और यदि कारखाने म काम करते हुए किसी मजदूर की मृत्यु हो जाए या कोई विकलाङ्ग हो जाए, तो उसे मुनासिब हरजाना दिया जाए। इतना ही नही, अब तो श्रमी सघ यह दावा भी करने लगे हैं, कि कारखाने के प्रबन्ध म केवल पूँजीपतियो का ही हाथ नही होना चाहिए, अपितु श्रमी सघो को भी उसमे हाथ बटाना चाहिये, क्योकि सम्पत्ति की उत्पत्ति के लिए पूँजी का जितना महत्व है, श्रम का महत्व उसमे किसी भी प्रकार कम नही है। कुछ विचारक तो यहाँ तक कहते है, कि कारखानो का सचालन पूर्णतया श्रमियों के गिल्डो (Guilds) द्वारा ही होना चाहिये।

श्रमी सघो के समान आजकल किसानो और शिल्पियो के भी सगठन है, जो अपने सदस्यो के हितो की रक्षा के लिए सदा प्रयत्नशील रहत हैं। इतना ही नही, मिल मालिको, जमीदारो और मकान-मालिको ने भी अपने अपने समुदाय सगठित कर लिय हैं, और ये सब अपने-अपने हितो की रक्षा के लिए प्रयत्न करते रहत हैं। किसी ने ठीक कहा है, 'सघे शक्ति कलौ युगे'। नि सन्देह, कलियुग की सबसे बडी शक्ति सघ ही हैं, समुदायो द्वारा जहाँ मनुष्य अपने हितो की रक्षा कर सकते हैं, वहाँ अपनी एक सम्मिलित शक्ति भी विकसित कर लेते हैं।

(३) पेशे के आधार पर सगठित समुदाय—जो लोग किसी एक पेशे या शिल्प का अनुसरण करते हो, वे भी अपने हितो की रक्षा के लिए अपने-अपने समुदाय बना लेते हैं। वकील, अध्यापक, पुस्तक-प्रकाशक, पुस्तक विक्रेता, लेखक, पत्रकार, वस्त्र व्यापारी, चिकित्सक आदि के समुदाय इसी प्रयोजन से बनाये गए हैं, कि एक पेशे या शिल्प द्वारा आजीविका कमाने वाले लोग परस्पर मिलकर अपने हितो की रक्षा कर सकें।

आर्थिक समुदायो के लाभ व हानियाँ—इसमे सन्देह नहीं, कि ये विविध प्रकार

के आर्थिक समुदाय बहुत उपयोगी कार्य करते है। प्रत्येक मनुष्य को अपने हितो की रक्षा के लिए सदा सतर्क रहना चाहिए। यदि सब लोग अपनी उन्नति के लिए प्रयत्न शील रहेगे, तभी समाज का कल्याण सम्भव है। पर अनेक बार लोग अपने व्यक्तिगत हितो के सम्मुख सम्पूर्ण समाज के हितो की उपेक्षा करने लग जाते है। मान लीजिये, किसी नगर मे बरफ बनाने के पाँच कारखाने है। मई का महीना आने पर वे आपस मे मिलकर निश्चय करते है कि बरफ की कीमत बढा देंगे, और कोई कारखाना चार आने सेर मे कम कीमत पर बरफ नही बेचेगा। लोगो को विवश होकर इसी कीमत पर बरफ खरीदनी पडेगी। पर कारखानो के मालिको का यह निश्चय जनता के लिए हानिकारक होगा। एक अन्य उदाहरण लीजिये। किसी म्युनिसिपैलिटी के कर्मचारी अपना वेतन बढवाना चाहते हैं। इसके लिए वे हडताल करने का फैसला करते हैं। यदि इस हडताल मे जल कल (Water works) के कर्मचारी शामिल हो जाएँ, तो शहर मे पाइपो का पानी बन्द हो जायगा। इससे शहर के निवासियो को भारी कष्ट उठाना पडेगा।

आर्थिक समुदायो के हाथ म बहुत अधिक शक्ति होती है। वे चाहे तो देश के आर्थिक जीवन को अस्त-व्यस्त कर सकते है। यदि रेल के कर्मचारी हडताल कर दे, तो व्यापार को भारी क्षति पहुँचेगी और बहुत सी वस्तुए तो दुर्लभ भी हो जाएँगी। इसी कारण बहुधा राज्य के लिए यह आवश्यक हो जाता है, कि वह आर्थिक समुदायो पर नियन्त्रण रखे।

वस्तुत, आर्थिक समुदायों का आधार आर्थिक क्षेत्र मे मनुष्यो का परस्पर सहयोग ही होना चाहिए। वर्ग भेद के आधार पर जो समुदाय व सघ बनते हैं, वे सहयोग के बजाय प्रतिस्पर्धा व सघर्ष को प्रोत्साहित करते हैं। ऐसा होना मनुष्यो की सामाजिक उन्नति के लिए हानिकारक है। पर जब तक सम्पत्ति के उत्पादन के साधन कुछ थोडे से लोगो के हाथो मे रहगे, किसानों और मजदूरो को अपने हितो की रक्षा के लिए अपने सगठन बनाने ही होग। य समुदाय मनुष्यो के लिए उपयोगी भी होगे, इस बात से इन्कार नही किया जा सकता।

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समुदाय—अनेक आर्थिक समुदाय ऐसे भी हैं, जिनका क्षेत्र किसी एक देश या राज्य तक सीमित न होकर अन्तर्राष्ट्रीय व सार्वभौम है। अनेक कम्पनियो और बंको की शाखाएँ ससार के बहुत से राज्यो मे विद्यमान हैं। मजदूरो के भी अनेक समुदाय ऐसे हैं, जिनका क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय है। श्रमी सघो का विश्व सवर्ग (World Federation of Trade Unions) और अन्तर्राष्ट्रीय श्रमी सघ (International Labour Organisation) की शाखाएँ विश्व के बहुत से देशो मे स्थापित हैं। ये समुदाय अपने सदस्य-राज्यो के मजदूरो के हितो के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

सांस्कृतिक समुदाय—

जो समुदाय संस्कृति, शिक्षा, ज्ञान, विज्ञान, कला आदि के प्रसार व विकास के लिए संगठित किये जाते है, उन्हे सांस्कृतिक समुदाय कहते हैं। इस प्रकार के समुदायो में विश्वविद्यालय, कालिज और स्कूल सबसे प्रधान हैं। इनका उद्देश्य युवको व बच्चों को शिक्षा देना और उनके ज्ञान मे वृद्धि करना होता है। मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो केवल अपनी भौतिक आवश्यकताओं को पूर्ण करके ही संतुष्ट नही हो जाता। उसके पास बुद्धि नामक एक ऐसी अद्भुत वस्तु है, जिसका प्रयोग कर वह प्रकृति के गूढ तत्वों का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है और इस ज्ञान का उपयोग अपने सुख, कल्याण व समृद्धि के लिए करता है। वह इस बात की भी जिज्ञासा रखता है, कि यह सृष्टि कैसे बनी, इसे किसने बनाया, शरीर से पृथक् कोई आत्मा है या नही और सृष्टि का अन्त व प्रलय कैसे होगा। अपनी बुद्धि के प्रयोग द्वारा मनुष्य ने जो ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वह उसे अपनी सन्तान को प्रदान करता है और इसी प्रयोजन से स्कूल, कालिज व विश्वविद्यालय स्थापित करता है। शिक्षा संस्थाओं के अन्तर्गत व उनसे पृथक् कतिपय ऐसे समुदाय भी होते हैं जो किसी विज्ञान व विद्या के विकास को अपना ध्येय बनाकर स्थापित किये जाते हैं। ये ज्ञान के भण्डार की वृद्धि में सहायता देते हैं। पुरातत्व सम्बन्धी खोज के लिए, इतिहास के अनुशीलन के लिए, वैज्ञानिक अनुसन्धान के लिए, आयुर्वेद के प्रसार के लिए व इसी प्रकार के अन्य प्रयोजनो से कितनी ही संस्थाएँ भारत मे स्थापित हैं। पुस्तकालय, वाचनालय, साहित्य सम्मेलन, कला भवन, अजायबघर आदि संस्थाओं को भी सांस्कृतिक समुदायो के अन्तर्गत किया जाता है, क्योंकि उनका प्रयोजन संस्कृति के किसी विशिष्ट अंग को उन्नत करना ही होता है।

संस्कृति सम्बन्धी समुदायो का क्षेत्र न केवल स्थानीय व राष्ट्रीय होता है, अपितु अन्तर्राष्ट्रीय भी होता है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन भारत व्यापी संस्था है, उसकी शाखाएँ भारत के प्राय सभी राज्यों मे विद्यमान हैं। रोटरी क्लब एक ऐसी सांस्कृतिक संस्था है, जिसकी शाखाएँ बहुत से देशो में स्थापित हैं। संयुक्त राज्य संघ (United Nations' Organisation) के अधीन अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक समुदायो का भी संगठन किया गया है।

अन्य समुदाय—

समाज-सुधार के प्रयोजन से भारत मे दलितोद्धार सभा, विधवा विवाह सहायक सभा, जात पांत तोड़क मण्डल, हरिजन सेवा संघ आदि कितने ही समुदाय संगठित है। अनेक समुदाय सेवा के प्रयोजन से संगठित किये जाते हैं। सेवा समितियाँ इनमें मुख्य हैं। ये सेवा-समितियाँ मेलो के अवसर पर या बाढ, भूकम्प आदि

आकस्मिक विपत्तियों के मौक़ों पर जनता की सेवा करती हैं। सेवा समितियों के अनेक केन्द्रीय सगठन भी विद्यमान हैं।

मनोरजन के लिए जो अनेक समुदाय सगठित किये जाते हैं, मनुष्य के जीवन मे उनका भी बहुत उपयोग होता है। इनमे से कुछ का प्रयोजन व्यापारिक होता है। सिनेमा, थियेटर, नाटक मण्डलियाँ आदि जहाँ मनुष्यो का मनोरजन करती हैं, वहाँ साथ ही वे अपने कार्य से धन कमाने का भी उद्योग करती हैं। पर मनोरजन के लिए सगठित कतिपय समुदाय ऐसे भी होते हैं, जिनका उद्देश्य धन कमाना नही होता। अनेक नगरो मे तैरने का इन्तजाम करने, हॉकी, फुटबाल, क्रिकेट आदि खेलो की व्यवस्था करने या जिमनास्टिक, कुश्ती आदि द्वारा युवको के शरीर को उन्नत करने के लिए क्लब व व्यायामशालाएँ खोली जाती हैं। ये सब समुदाय मनुष्य के लिए बहुत उपयोगी कार्य करते हैं।

राजनीतिक सम्बन्धो पर आश्रित समुदाय—

मनुष्यो के राजनीतिक हितो के सम्पादन के लिए दो प्रकार के समुदाय हैं, राज्य और राजनीतिक दल। राज्य मानव-समुदायो मे सर्वप्रधान और सर्वोत्कृष्ट है। राजनीतिक दल इस प्रयोजन से सगठित किये जाते हैं, कि जिन लोगो के राज्य-सम्बन्धी विचार एक समान हो, जो मनुष्यों के हित व कल्याण के लिए किसी एक नीति व कार्यक्रम का अनुसरण करने के पक्षपाती हो, वे परस्पर मिलकर सगठित हो सकें, और सरकार के सचालन को अपने हाथो मे लेकर उस नीति को क्रियान्वित कर सकें।

क्योकि राज्य मनुष्यो का सर्वप्रधान और सबसे उत्कृष्ट समुदाय है, अत हम उस पर अगले अध्याय मे विस्तार से विचार करेंगे। राज्य के शासन पर प्रकाश डालते हुए हम राजनीतिक दलो पर भी पृथक् रूप से विचार करेंगे।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ आप समुदायों का वर्गीकरण किस प्रकार करेंगे ? विविध समुदायों के कार्यों का सक्षेप से वर्णन कीजिये। (यू० पी०, १६३३)

२. समुदाय (सघ) का क्या अभिप्राय है ? मनुष्य समुदाय मे क्यों रहते हैं ? आप समुदायों का वर्गीकरण किस प्रकार करेंगे ? (यू० पी०, १६४४)

३ समुदायों के भिन्न-भिन्न प्रकारो का वर्णन कीजिये। राज्य अन्य समुदायों से किस प्रकार भिन्न है ? (यू० पी०, १६४२)

४ 'मनुष्य की उत्तरोत्तर प्रगति सकीर्ण स्वार्थों को उच्चतर व व्यापक हितों के अधीन कर देने पर निर्भर है।' इस कथन की व्याख्या कुटुम्ब, नगर व ग्राम और

देश के प्रति व्यक्ति के कर्तव्यों का विवरण देकर कीजिये। (राजपूताना, १९४७)

५ 'कुटुम्ब सामाजिक गुणों के लिए प्रथम पग व श्रेणि है' इस कथन की पुष्टि कीजिये। (यू० पी० १९४२)

६ सामाजिक संस्थाओं में आप क्या और कैसे भेद करेंगे? उदाहरण दीजिये। (यू० पी०, १९५०

७ 'नागरिक गुणों का प्रारम्भिक शिक्षणालय कुटुम्ब है', इस कथन को उदाहरण देकर समझाइये। (यू० पी०, १९५१)

८ मनुष्य समुदाय क्यों बनाते हैं? आप जिन समुदायों से परिचित हों, उनका वर्गीकरण कीजिये। (यू० पी०, १९५२)

९ समुदायों का निर्माण क्यों होता है? क्या आपकी सम्मति में उन्हे स्वाभाविक (अनिवार्य) और मनुष्यकृत (ऐच्छिक) समुदायों मे विभक्त करना उचित होगा? (यू० पी०, १९५५)

१० कुटुम्ब की सफलता के लिए कौन सी बातें आवश्यक हैं—विस्तार से लिखिये।

पाँचवाँ अध्याय

राज्य

राज्य की आवश्यकता—

पिछले अध्याय मे हमने उन समुदायो का उल्लेख किया है, जो मनुष्य के हित, कल्याण व उन्नति मे सहायक होते हैं, और जिनसे मनुष्यो का सामाजिक व सामुदायिक जीवन प्रकट होता है। राज्य भी मनुष्यो का एक समुदाय ही है, मनुष्यो के राजनीतिक सगठन को ही राज्य कहते हैं। पर अन्य समुदायो और राज्य मे एक मौलिक भेद है। यह भेद है, राज्य के सर्वोपरि होने का। राज्य अन्य सब समुदायो से उत्कृष्ट व ऊँची स्थिति रखता है। वह अन्य सब समुदायो के कार्य मे हस्तक्षेप कर सकता है, और उनके उद्देश्य, नियम व कार्यविधि को नियन्त्रित कर सकता है। वस्तुत, अन्य सब समुदायो का नियन्त्रण करना राज्य का एक प्रधान कार्य है।

उदाहरण के लिए भारत को ही लीजिए। इस देश के लोग अनेक धर्मों के अनुयायी हैं। इन सब धर्मों के अनेक समुदाय भारत मे विद्यमान हैं। यह सर्वथा सम्भव है, कि कभी इन विविध धार्मिक समुदायो मे किसी प्रश्न पर मतभेद व विवाद हो जाए। अनेक बार मुहर्रम और दशहरे के त्यौहार एक ही समय पड जाते हैं। मुहर्रम के अवसर पर मुसलमान लोग मातमी जुलूस निकालते हैं। हसन और हुसैन की हत्या का शोक मुसलमानो द्वारा इस मौके पर मनाया जाता है। हिन्दू भी दशहरे का जुलूस निकालते हैं, पर यह जुलूस खुशी का होता है, क्योंकि दशहरे का त्यौहार राम द्वारा रावण को परास्त करने के उपलक्ष मे मनाया जाता है। अनेक बार इन जुलूसो मे झगडा हो जाने का अन्देशा होता है। यदि राज्य दोनो जुलूसो पर नियन्त्रण न रखे, तो उनमे लडाई-झगडा न रुक सके।

प्रत्येक धर्म को अधिकार है, कि वह अपने सिद्धान्तो का प्रचार कर सके। पर कोई धार्मिक समुदाय अपने मन्तव्यो का प्रचार करते हुए ऐसी नीति भी अपना सकता है, जिससे दूसरे धर्मों के लोगो को एतराज हो। राज्य ही यह निर्धारित करता है, कि विविध धार्मिक समुदाय प्रचार-कार्य करते हुए किस नीति व विधि का अनुसरण करें।

एक अन्य उदाहरण लीजिए। कुछ लोग मकानो के मालिक होते हैं, और दूसरे उनके किरायेदार। दोनो अपने अलग अलग सगठन बना लेत हैं। किरायेदार

कोशिश करते हैं, कि मकानो के किराये की दर कम-से-कम हो। इसके विपरीत मकान-मालिक अधिक से-अधिक किराया वसूल करने का प्रयत्न करते हैं। किरायेदारो और मकान-मालिको के इस झगडे और हित विरोध का फैसला राज्य ही करता है। यही बात मिल-मालिको और मजदूरो व जमीदारो और किसानो के झगडो के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है।

मनुष्य विविध समुदायो का सगठन इसीलिए करता है, कि उनके द्वारा उसका हित हो सके। पर यदि दो समुदायो के हितो मे विरोध उपस्थित हो, तो एक ऐसा समुदाय भी अवश्य होना चाहिए, जो उनके झगडे व विवाद का फैसला कर सके। इस समुदाय की शक्ति अन्य सब समुदायो से अधिक होनी चाहिए।

राज्य की आवश्यकता केवल इसीलिए नही है, कि वह विविध समुदायो पर नियन्त्रण रख सके या उनके झगडो को निबटा सके। जिस प्रकार मनुष्यो में धार्मिक, सामाजिक, नैतिक, आर्थिक व सास्कृतिक सम्बन्ध होते हैं, वैसे ही उनमे राजनीतिक सम्बन्ध भी होता है। राज्य का सगठन इन राजनीतिक सम्बन्धो के कारण ही किया जाता है। साथ रहते हुए मनुष्यो के लिए जरूरी है, कि वे एक साथ मिलकर सब प्रकार के भयो से अपनी रक्षा करें। ये भय दो प्रकार के होते हैं—आन्तरिक भय और बाह्य भय। चोर डाकू व अन्य उपद्रवी लोगो का भय आन्तरिक (Internal) है, क्योंकि ये लोग देश के अन्दर ही निवास करते हैं। विदेशी शत्रु के आक्रमण के भय को बाहरी या बाह्य (External) भय कहते हैं। आभ्यन्तर भय से जनता की रक्षा करने के लिए राज्य पुलिस का सगठन करता है, और विदेशी शत्रु के हमलो को रोकने के लिए सेना रखता है।

पर राज्य की आवश्यकता अन्य भी अनेक कारणो से है। राज्य की आवश्यकता इसलिए भी है, कि उसमे मनुष्यो को सम्मिलित रूप से अपनी उन्नति करने का अवसर मिलता है। मनुष्यो के हित, कल्याण व उन्नति के लिए कितने ही कार्य राज्य की ओर से किये जाते हैं। स्कूलो, कालिजो और विश्वविद्यालयों द्वारा शिक्षा का प्रसार करना, सफाई आदि का प्रबन्ध कर रोग के फैलने को रोकना, अस्पताल खोलकर रोगियो की चिकित्सा की व्यवस्था करना, आने-जाने की सुविधा के लिए सडकें व रेलवे लाइनें बनवाना, खेतो की सिंचाई के लिए नहरें खुदवाना, बाढ से रक्षा करने के लिए नदियो पर बाँध बँधवाना और हैजा, प्लेग आदि महामारियो को रोकने के लिए टीके लगवाना आदि कितने ही ऐसे कार्य हैं, जो राज्य की ओर से किये जाते है, और जिनसे जनता के कल्याण मे बहुत सहायता मिलती है।

साथ ही राज्य ऐसी भी व्यवस्थाएँ करता है, जिनसे जनता की चौमुखी उन्नति मे सहायता मिले। विदेशी माल के मुकाबिले के कारण देश के व्यवसायो को नुकसान न पहुँचे, इस प्रयोजन से राज्य विदेशी माल पर सरक्षण-कर (Protective Duties)

लगाता है, अपने देश के कल-कारखानो के विकास के लिए प्रयत्न करता है, नये आविष्कारो को प्रोत्साहन देता है, और जनता की उन्नति के लिए अनेकविध कानूनो का निर्माण करता है। वस्तुत, राज्य की आवश्यकता उन सब कार्यों के लिए है, जो मनुष्य की व्यक्तिगत व सामूहिक उन्नति मे किसी भी प्रकार से सहायक हो सकते हैं।

यह सही है कि आजकल के राज्य जो अनेक विध कार्य करते हैं, वे मनुष्यो के अन्य समुदायो द्वारा भी किये जा सकते हैं। पहले शिक्षा और चिकित्सा का कार्य प्राय धार्मिक समुदाय ही किया करते थे। भारत मे मन्दिर और मस्जिद ही शिक्षा के केन्द्र भी हुआ करते थे। यही दशा अन्य देशो मे भी थी। अब भी अनेक धार्मिक समुदाय शिक्षा और चिकित्सा के कार्य करते हैं। भारत मे ईसाई चर्च, आर्यसमाज, रामकृष्ण सेवा मिशन आदि धार्मिक समुदायो ने कितने ही शिक्षणालय व अस्पताल खोल रखे हैं। पर इन धार्मिक समुदायो द्वारा शिक्षा व चिकित्सा आदि की सब आवश्यकताएँ पूर्ण नही की जा सकती। जनता के हित व कल्याण के लिए यह आवश्यक है, कि इन लोकोपकारी कार्यों को एक ऐसे समुदाय द्वारा किया जाए, जो सम्पूर्ण जनता का समुदाय हो, और जो सबके हितो को अपनी दृष्टि मे रखे।

क्योकि मनुष्य समाज मे रहकर और अन्य लोगो के साथ सहयोग करके ही अपनी व्यक्तिगत व सामूहिक उन्नति करता है, अत उसके सामूहिक जीवन को सुव्यवस्थित व नियन्त्रित करने के लिए और सामूहिक हितो का सम्पादन करने के लिए एक ऐसे समुदाय की सत्ता अनिवार्य है, जो सब मनुष्यो व अन्य सब समुदायों को अपने आदेश का पालन करने के लिए विवश कर सके, और जिसके पास इतनी शक्ति हो कि कोई मनुष्य या समुदाय उसकी आज्ञा का उल्लघन न कर सके। इसी सर्वोपरि समुदाय को 'राज्य' कहते हैं।

राज्य और अन्य समुदायो मे भेद—

अन्य विविध समुदायो के समान राज्य भी मनुष्यो का एक समुदाय ही है। पर राज्य अन्य समुदायो से अनेक प्रकार से भिन्न है। ये भेद निम्नलिखित हैं—

(१) अन्य समुदायो और राज्य मे सबसे बडा भेद यह है, कि राज्य के पास प्रभुता (Sovereignty) नाम की एक ऐसी विशेषता होती है, जो अन्य किसी समुदाय के पास नही होती। प्रभुता पर हम अगले एक अध्याय मे विशद रूप से विचार करेंगे। इस विशेषता के कारण राज्य अपने सब सदस्यो व अपने क्षेत्र मे निवास करने वाले सब व्यक्तियो को अपने आदेशो का पालन करने के लिए विवश कर सकता है। कोई अन्य समुदाय भी राज्य के आदेशो का उल्लघन नही कर सकता। सब मनुष्यो व उनके समुदायो के कार्यों पर नियन्त्रण रखने का अधिकार राज्य को होता है।

(२) राज्य की सदस्यता प्रत्येक मनुष्य के लिए अनिवार्य है। यह सम्भव नहीं है, कि कोई मनुष्य किसी न किसी राज्य का सदस्य न हो। इसके विपरीत कुटुम्ब के अतिरिक्त अन्य किसी समुदाय की सदस्यता अनिवार्य नहीं होती। यह मनुष्य की इच्छा पर निर्भर है, कि वह अन्य समुदायों का सदस्य बने या नही।

(३) राज्य का क्षेत्र एक निश्चित प्रदेश तक सीमित होता है। उसकी सीमाएँ निश्चित होती हैं। पर अन्य बहुत से समुदाय ऐसे हैं, जिनका क्षेत्र किसी एक प्रदेश तक सीमित नही होता। बहुत से समुदाय ऐसे भी हैं, जिनका विस्तार बहुत से देशो व राज्यों मे होता है। क्रिश्चियन चर्च, आर्य-समाज, कम्युनिस्ट पार्टी, रोटरी क्लब जैसे कितने ही समुदाय हैं, जिनकी शाखाएँ अनेक देशो मे विद्यमान हैं।

(४) कोई मनुष्य एक ही प्रयोजन से बनाये गये एक से अधिक समुदायो का सदस्य बन सकता है। हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, नागरी-प्रचारिणी सभा और राष्ट्र-भाषा-प्रचार-समिति ऐसे समुदाय है, जिनका प्रयोजन प्राय एक ही है। कोई मनुष्य इन तीनो का सदस्य बन सकता है। पर यह सम्भव नही है, कि कोई मनुष्य एक समय मे एक से अधिक राज्यो का सदस्य रह सके।

(५) राज्य एक स्थायी समुदाय है, क्योकि उसकी सत्ता मनुष्यो के लिए अनिवार्य होती है। इसी कारण वह सदा कायम रहता है। अन्य समुदाय किसी विशेष प्रयोजन से बनते हैं, और उसी समय तक कायम रहते है जब तक उनकी आवश्यकता रहे। अनेक धार्मिक समुदाय भी चिरकाल तक स्थायी रहते हैं, पर राज्य के सदृश स्थायित्व उनमे भी नहीं पाया जाता।

(६) राज्य अपने सदस्यो पर कर लगा सकता है, जिसे अदा करने के लिए प्रत्येक मनुष्य विवश होता है। पर अन्य समुदाय अपना खर्च चन्दे से चलाते है, और चन्दा वसूल करने के लिए वे शक्ति का प्रयोग नही कर सकते।

(७) राज्य का क्षेत्र इतना अधिक व्यापक होता है, कि उसके कार्य क्षेत्र व शक्ति के सम्बन्ध मे कोई सीमा निर्धारित नही की जा सकती। जो कार्य लोकोपकारी हों, जिनका मनुष्यों के हित, कल्याण व उन्नति से सम्बन्ध हो, वे सब राज्य के कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत होते हैं। यह विशेषता अन्य किसी समुदाय मे नही होती।

(८) अन्य समुदायो के पास जो भी शक्ति होती है, उसे राज्य नियन्त्रित व मर्यादित कर सकता है। वस्तुत, ये समुदाय अपनी शक्ति राज्य से ही प्राप्त करते हैं, और उसी के द्वारा निर्धारित सीमाओं मे उस शक्ति का प्रयोग कर सकते है।

राज्य के आवश्यक तत्व—

राज्य किसे कहते हैं और उसका क्या स्वरूप है, इसे भली भाँति समझने के लिए उन तत्वो या अंगो का उल्लेख करना उपयोगी है, जिनसे मिलकर राज्य का

निर्माण होता है। ये तत्त्व निम्नलिखित हैं—

(१) जनता—(Population)—राज्य का प्रधान तत्त्व जनता है। मनुष्यों के एक समुदाय-विशेष का नाम ही राज्य है। यदि जनता न हो, तो राज्य की कल्पना भी सम्भव नहीं। जिस प्रकार मिट्टी के बिना घड़े और सूत के बिना वस्त्र का निर्माण असम्भव है, वैसे ही जनता के बिना राज्य की सत्ता असम्भव है। जनता जैसी होगी, राज्य भी वैसा ही होगा। यदि किसी राज्य की जनता परिश्रमी, देशभक्त व कर्तव्य-परायण हो, तो वह राज्य निरन्तर उन्नति करेगा। इसके विपरीत यदि किसी राज्य की जनता आलसी, स्वार्थी, कर्तव्य विमुख और मातृभूमि के प्रति उपेक्षा रखने वाली हो, तो उस राज्य की अधोगति ही होगी।

जहाँ राज्य के लिए जनता का योग्य, गुणी व समर्थ होना आवश्यक है, वहाँ साथ ही जनता को बहुसंख्यक (Numerous) भी होना चाहिए। चीन, रूस, अमेरिका और भारत जैसे विशाल राज्यों में जनसंख्या बहुत अधिक है। बल्जियम, अफगानिस्तान और लुक्सेमबुर्ग जैसे छोटे राज्यों की जनसंख्या बहुत कम है। यह स्वाभाविक है, कि अधिक आबादी वाले राज्यों की शक्ति कम आबादीवाले राज्यों के मुकाबिले में अधिक हो। चीन और भारत जैसे राज्यों की शक्ति का एक महत्त्वपूर्ण कारण वहाँ की जनता का बहुत बड़ी संख्या में होना ही है।

पुराने समय में जब आने-जाने के साधन उन्नत नहीं हुए थे, एक स्थान के समाचार दूसरे स्थान पर पहुँचने में बहुत देर लगा करती थी, तो बड़े राज्यों का निर्माण भी सुगम नहीं था। साथ ही, उस समय बड़े राज्यों में लोकतन्त्र शासन का जारी रहना भी क्रियात्मक नहीं था। एथन्स जैसे छोटे ग्रीक राज्यों में या लिच्छवि गण जैसे छोटे भारतीय राज्य में तो यह सम्भव था, कि नागरिक लोग सभा में एकत्र होकर अपने राज्य-कार्य को चला सकें। पर रोमन साम्राज्य या मगध के विशाल राज्य के नागरिक एक सभा में एकत्र नहीं हो सकते थे। उस समय प्रतिनिधि चुनने की प्रथा भी नहीं थी। इसीलिए प्राचीन ग्रीक दार्शनिक अरिस्टोटल ने यह प्रतिपादित किया था, कि एक आदर्श राज्य की जनसंख्या दस हजार के लगभग होनी चाहिए, अधिक नहीं।

पर आजकल जब वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण विविध स्थानों की दूरी बहुत कम रह गई है, और जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि रेल, मोटर व हवाई जहाज से थोड़े समय में ही राजधानी में पहुँच सकते हैं, इस बात की आवश्यकता नहीं रह गई है कि लोकतन्त्र शासनों की सफलता के लिए जनसंख्या का अधिक होना हानिकारक हो। अधिक आबादी का होना तो आजकल के राज्यों की शक्ति के लिए बहुत लाभदायक है।

(२) भूमि (Territory)—जिस प्रकार राज्य के लिए जनता का होना

गार्नर ने राज्य का जो लक्षण किया है, वह अधिक स्पष्ट है। उसके अनुसार "राज्य मनुष्यो के उस समुदाय का नाम है, जो सख्या मे चाहे अधिक हो या न्यून, पर जो किसी निश्चित भूखण्ड पर स्थायी रूप से बसा हुआ हो, जो किसी भी बाह्य शक्ति के नियन्त्रण से पूर्णतया व प्राय रूप से स्वतन्त्र हो और जिसमे एक ऐसी सुसगठित सरकार विद्यमान हो, जिसके आदेश का पालन करने के लिए उस भूखण्ड के प्राय सब निवासी अभ्यस्त हो।"[1] इस लक्षण की विशेषता यह है कि इसम राज्य के चारो तत्त्वो—भूमि, जनता, शासन और प्रभुता—का जहाँ स्पष्ट रूप से समावेश हो गया है, वहाँ साथ ही निम्नलिखित बाते भी स्पष्ट हो गई हैं—

(१) राज्य का जनसमुदाय जहाँ चीन, रूस, भारत आदि के जनसमुदाय के समान सख्या मे बहुत विशाल हो सकता है, वहाँ बेल्जियम, अफगानिस्तान आदि की जनता के समान सख्या मे बहुत कम भी हो सकता है। जनसख्या की दृष्टि से रूस और अफगानिस्तान मे बहुत अधिक विषमता होते हुए भी राज्य के रूप मे वे एक समान स्थिति रखते हैं।

(२) प्रभुता राज्य का आवश्यक तत्त्व है, पर इतिहास मे हम ऐसे भी अनेक राज्य देखते है, जो 'सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न' नही कहे जा सकते। अत प्रभुता को राज्य का आवश्यक तत्त्व मानते हुए भी गार्नर ने 'प्राय रूप से' प्रभुता की सत्ता को राज्य के लिए पर्याप्त माना है।

राज्य का लक्षण हम इस प्रकार कर सकते हैं—राज्य मनुष्यो के एक ऐसे समुदाय को कहते हैं, जो पृथ्वी के किसी निश्चित भूभाग पर स्थायी रूप से बसा हुआ हो, और इस समुदाय मे किसी ऐसी सरकार की सत्ता हो, जिसके आदेशो का पालन इस भूखण्ड पर बसे हुए सब लोग करते हो, और साथ ही वह समुदाय सम्पूर्ण-प्रभुत्व सम्पन्न हो, किसी बाहरी शक्ति व सत्ता का उस पर नियन्त्रण न हो।

राज्य और राष्ट्र (Nation) मे अन्तर

राज्य के अभिप्राय को भली-भाति समझने के लिए यह भी जरूरी है, कि हम राष्ट्र और राज्य मे जो भेद है, उस पर भी विचार करें। इन दोनो शब्दो का प्रयोग भी प्राय एक ही अर्थ मे कर दिया जाता है, पर इनम भेद है। इस भेद को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है —

(१) राष्ट्र उस राज्य को कहते है जिसके निवासियो मे परस्पर एक होने की

1 "The State is a community of persons more or less numerous, permanently occupying a definite portion of territory, independent or nearly so of external control and possessing an organised Government to which the great body of inhabitants render habitual obedience" —Garner

अनुभूति हो, जिनमें राष्ट्रीयता (Nationality) की भावना विद्यमान हो। जो मनुष्य भाषा, धर्म, नसल आदि की एकता के कारण अपने को एक समझते हैं, उन्हें एक 'राष्ट्रीयता' का अंग माना जाता है। यह जरूरी नहीं, कि जो लोग राष्ट्रीयता की दृष्टि से एक हों, उनका अपना पृथक् राज्य भी हो। १९१४-१८ के महायुद्ध के समय तक चेक, स्लोवाक, पोल आदि कितने ही ऐसे लोग थे, जिन्हें एक राष्ट्रीयता कहा जा सकता था। पर उनका अपना पृथक् राज्य कोई नहीं था। पोल लोग जर्मनी, रूस और आस्ट्रिया के अधीन होते हुए तीन हिस्सों में बँटे हुए थे। एक राज्य में अनेक राष्ट्रीयताएँ भी हो सकती हैं। १९१४-१८ के महायुद्ध तक आस्ट्रिया हंगरी एक राज्य था, पर उसमें आस्ट्रियन, हंगेरियन, चेक, स्लोवाक, पोल आदि कितनी ही राष्ट्रीयताओं की सत्ता थी। अंग्रेजी शासन के समय बरमा भी देर तक भारत का अंग रहा। पर बरमा के लोगों की राष्ट्रीय सत्ता पृथक् थी। बाद में वह भारत से पृथक् हो गया। यदि हम राष्ट्रीयता के अभिप्राय को भली-भाँति समझ लें, तो राष्ट्र का अर्थ भी हमें स्पष्ट हो जाएगा। धर्म, भाषा, नसल आदि की एकता के कारण जो लोग अपने को एक अनुभव करते हैं, उनकी एक राष्ट्रीयता होती है, और राष्ट्रीय दृष्टि से एक लोगों की स्वाभाविक रूप से यह इच्छा होती है, कि वे अपना एक पृथक् व स्वतन्त्र राज्य बना लें। जब वे अपने इस प्रयत्न में सफल हो जाते हैं, तो राष्ट्रीयता के आधार पर बने हुए इस राज्य को राष्ट्र (Nation) कहते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि प्रत्येक राष्ट्र एक राज्य अवश्य होता है। पर प्रत्येक राज्य अवश्य ही राष्ट्र भी हो, यह आवश्यक नहीं होता।

(२) राज्य सरकार के बिना नहीं रह सकता। यह जरूरी है, कि प्रत्येक राज्य का अपना स्वतन्त्र राजनीतिक संगठन भी हो। पर राष्ट्रीयता केन्द्रीय राजनीतिक संगठन के बिना भी रह सकती है। उसके लिए लोगों में परस्पर एक होने की भावना ही पर्याप्त है।

(३) राज्य अपने आदेशों का बलपूर्वक पालन करा सकता है। पर राष्ट्रीयता के पास यह शक्ति नहीं होती, कि वह अपने आदेशों का पालन कराने के लिए बल का प्रयोग कर सके। राष्ट्रीयता भी लोगों से अनेक प्रकार की बातों की आशा रखती है। राष्ट्रीयता की भावना के कारण लोग बड़े-से-बड़ा त्याग करने के लिए उद्यत हो जाते हैं। पर उसके पास कोई ऐसी संगठित शक्ति नहीं होती जिससे वह लोगों को त्याग आदि के लिए विवश कर सके।

राज्य और देश (Country)—

देश एक भौगोलिक संज्ञा है, अतः वह राज्य से भिन्न होता है। एक राज्य अनेक देशों में विस्तृत हो सकता है, और एक देश में अनेक राज्य हो सकते हैं। जर्मनी

एक देश है, पर इस समय उसमे दो राज्य हैं—पूर्वी जर्मनी और पश्चिमी जर्मनी। यही बात कोरिया और विएतनाम के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। अनेक राज्य अनेक देशो मे भी विस्तृत होते हैं। ब्रिटिश साम्राज्य इसका उदाहरण है। देश की सीमाओ का निर्धारण भौगोलिक कारणो से होता है। इसके विपरीत राज्य की सीमा राजनीतिक कारणो से निर्धारित होती है। पर हम यह प्रवृत्ति देखते हैं, कि प्रत्येक देश मे उसका अपना पृथक् राज्य हो। पर इन दोनो मे जो भेद है, उससे इन्कार नही किया जा सकता।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. 'राज्य सर्वोच्च समुदाय है', इस कथन की विवेचना कीजिए। राज्य व अन्य समुदायो मे क्या अन्तर है ? (राजपूताना १९४९)

२ राज्य का लक्षण (परिभाषा) कीजिए। राज्य, समाज, राष्ट्र और सरकार (शासन) मे क्या अन्तर है, स्पष्ट कीजिए। (यू० पी०, १९४०, १९४४, १९४८, राजपूताना १९५०, १९५१)

३ राज्य का क्या अभिप्राय है ? उसके आवश्यक तत्त्व कौन से हैं ? अन्य समुदायो और राज्य मे क्या भेद है ? (यू० पी०, १९५१)

४ राज्य का अभिप्राय समझाइए और लिखिए कि राज्य और सरकार मे क्या अन्तर है ? समाज, देश और शासन (सरकार) से राज्य के पार्थक्य को स्पष्ट कीजिए। (यू० पी०, १९५३)

५. नागरिक के लिए राज्य की आज्ञाओ का पालन करना क्यों आवश्यक है ? किस अवस्था मे नागरिक को राज्य का विरोध करने का अधिकार है ? (यू० पी० १९४३)

६ राज्य की आवश्यकता क्यो है ? क्या अन्य समुदायो के रहते हुए भी मनुष्य के लिए राज्य की आवश्यकता है ?

छठा अध्याय

राज्य और व्यक्ति

(State and the Individual)

राज्य मनुष्यों के एक समुदाय का ही नाम है, और उसका निर्माण व्यक्तियों द्वारा ही होता है। मनुष्य की सामाजिक भावना जिन विविध समुदायों द्वारा प्रकट होती है, राज्य उनमें सबसे उत्कृष्ट और सर्वोपरि है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि राज्य और व्यक्ति में क्या सम्बन्ध रहता है। यह प्रश्न केवल राज्य के लिए ही नहीं है, अपितु अन्य समुदायों के लिए भी है। समाज और व्यक्ति परस्पर किस सम्बन्ध से रहते हैं, यह प्रश्न बड़े महत्त्व का है।

सावयव सिद्धान्त (The Organismic Theory)—

व्यक्ति और समाज या व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए अनेक विद्वान् शरीर का उदाहरण देते हैं। शरीर बहुत से छोटे छोटे अवयवों या घटकों (Cells) से मिलकर बना होता है। जो सम्बन्ध इन अवयवों और शरीर में है, वही व्यक्ति और राज्य में है। हम रेत के एक ढेर को देखते हैं। रेत बहुत से छोटे छोटे कणों से मिलकर बनती है। पर रेत की कणों से अलग कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती, क्योंकि रेत के सब कण एक दूसरे से अलग अलग होते हैं। पर शरीर के बारे में यह बात नहीं कही जा सकती। शरीर केवल अवयवों या घटकों के समूह को ही नहीं कहते, उसकी सत्ता उन अवयवों से पृथक व स्वतन्त्र भी होती है, जिनसे मिलकर उसका निर्माण होता है। ठीक यही बात राज्य के विषय में कही जा सकती है।

जो विद्वान् व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध की तुलना अवयवों और शरीर से करते हैं, उनका मत इस प्रकार है—

(१) जिस तरह बहुत से छोटे छोटे घटकों (Cells) से मिलकर शरीर बनता है, वैसे ही राज्य का निर्माण बहुत से व्यक्तियों द्वारा होता है। शरीर की सत्ता और जीवन इन घटकों पर निर्भर करते हैं। राज्य की सत्ता और जीवन भी व्यक्तियों पर आश्रित रहते हैं।

(२) शरीर और राज्य दोनों का संगठन एक ही ढंग का होता है। शरीर में इस बात का इन्तजाम रहता है, कि आमाशय खून तैयार करे और इस खून को

विविध अगो में पहुँचाया जा सके, उसमे स्नायु-प्रणाली (Nervous System) होता है, जिसके द्वारा विविध अग अपने कार्य करते हैं, उसमे दिमाग होता है, जो सब अङ्गो का नियन्त्रण करता है। इसी प्रकार राज्य मे कुछ लोग सम्पत्ति उत्पन्न करते हैं, दूसरे उसे एक स्थान से अन्य सब जगह पहुँचाते है, और उसमे सरकार का केन्द्रीय सगठन भी होता है, जो मनुष्यो के सब कार्यों पर नियन्त्रण रखता है।

(३) जिन घटको से मिलकर शरीर बनता है, उनमे निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। पुराने घटक नष्ट होते रहते हैं, और उनका स्थान नये घटक लेते रहते हैं। इसी तरह राज्य मे पुराने, वृद्ध व बीमार व्यक्ति मरते रहते है, और उनका स्थान नये व्यक्ति लेते रहते हैं।

(४) शरीर अपनी शक्ति के लिए अवयवो व घटको की शक्ति पर आश्रित होता है। यदि कोई अग या अवयव निर्बल या रुग्ण हो, तो उसका असर शरीर पर भी पड़ता है। इसी प्रकार राज्य की शक्ति और समृद्धि भी उसके सदस्यो के सामर्थ्य व शक्ति पर आश्रित रहती है।

(५) शरीर की सत्ता किसी एक घटक या अवयव पर निर्भर नही होती। किसी अग के कट जाने पर भी शरीर जीवित रहता है। यही बात राज्य के बारे मे है। किसी एक व्यक्ति या श्रेणी के न रहने पर भी राज्य कायम रह सकता है।

राज्य को शरीर के समान मानने के परिणाम—*यदि व्यक्तियो और राज्य के* सम्बन्ध को अवयवो और शरीर के समान मान लिया जाए, तो उसके ये परिणाम होंगे—

(१) शरीर के मुकाबिले मे अगो के कोई अधिकार नही होते। यदि कोई अग गल जाए, तो सारे शरीर के हित को दृष्टि मे रखकर उसे काटकर फेंका जा सकता है। जब दाँत मे पस पड जाती है, तो वह शरीर को हानि पहुँचाने लगता है। तब उसे उखडवा दिया जाता है। दाँत यह नही कह सकता, कि मुझे भी जीवित रहने का अधिकार है, और शरीर के लिये मुझे कुर्बान कर देना अनुचित है। हाथ, पाँव, पेट, फेफडे आदि सब अगो का प्रयोजन यही है, कि वे शरीर के सामूहिक हित के लिए साधन हो। इसी तरह राज्य मे व्यक्ति के कोई पृथक् अधिकार नही होते। राज्य के हित के लिए व्यक्तियो को कुर्बान कर देने मे कोई हानि नही।

(२) शरीर के विविध अवयव तभी तक जीवित रह सकते है, जब तक प्राण-शक्ति, स्नायु प्रणाली और दिमाग ठीक तरह से काम करते रहे। शरीर मे जो स्थान प्राणो का है, वही राज्य मे सरकार का है। जैसे प्राण के बिना शरीर नही रह सकता, वैसे ही सरकार के बिना राज्य नही रह सकता, और राज्य के अभाव मे व्यक्तियो के लिए अपनी रक्षा व हितसाधन करना वैसे ही असम्भव है, जैसे कि शरीर के मर जाने पर उसके अगो के लिए जीवित रह सकना।

(३) क्योंकि शरीर के जीवन पर ही अंगो का जीवन निर्भर है, अत राज्य की सत्ता पर ही व्यक्तियो की सत्ता भी निर्भर है। इसलिए व्यक्तियो के हित व अधिकार राज्य के सम्मुख बहुत गौण है।

(४) यदि शरीर पर कोई आपत्ति आए, तो प्रत्येक अंग उसकी रक्षा करने का प्रयत्न करता है। शरीर को बचाने के लिए हाथ-पैर, पीठ, कन्धा आदि सब अंग उद्यत हो जाते हैं, और चोटें सहकर भी शरीर की रक्षा का प्रयत्न करते हैं। इसी प्रकार राज्य की रक्षा के लिए सब व्यक्तियो को अपनी जान तक की कुर्बानी करने के लिए सदा उद्यत रहना चाहिए।

(५) जैसे अवयवो और शरीर का सम्बन्ध प्राकृतिक होता है, कृत्रिम नही, ऐसे ही व्यक्तियो और राज्य का सम्बन्ध भी स्वाभाविक है।

सावयव सिद्धान्त की आलोचना—पर सब विद्वान् व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए सावयव सिद्धान्त को स्वीकार नही करते। वे जिस ढग से इस सिद्धान्त की आलोचना करते हैं, उसकी मुख्य बातें निम्नलिखित हैं—

(१) शरीर और राज्य मे कुछ समानता अवश्य है, पर इन दोनो मे अनेक भिन्नताएँ भी हैं। शरीर जिन घटको व अवयवो से मिलकर बनता है, उनकी पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता कोई नही होती। उनका एकमात्र प्रयोजन यह होता है, कि वे परस्पर मिलकर शरीर का निर्माण करें। उनमे न पृथक् चेतना होती है, और न कार्यशक्ति। वे स्वय न विचार कर सकते हैं, और न अनुभूति ही रखते हैं। पर जिन व्यक्तियो द्वारा राज्य का निर्माण होता है, उनके सम्बन्ध म यह बात नही कही जा सकती। राज्य से पृथक् रहकर भी मनुष्य जीवित रह सकता है, और अपना काम कर सकता है। यह ठीक है कि समाज या राज्य के बिना मनुष्य का वैसा विकास नही होगा, जैसा कि राज्य मे रहकर होता है। पर यह मान सकना मुमकिन नही है, कि मनुष्य का जीवन पूरी तरह से राज्य पर ही निर्भर है।

(२) शरीर के अवयव न कभी एक-दूसरे से अलग हो सकते है, और न शरीर से। यह भी कभी सम्भव नही, कि अवयव कभी शरीर के मुकाबिले मे खडे हो सकें। पर व्यक्ति जहाँ एक-दूसरे से अलग होकर रह सकते हैं, वहाँ समाज व राज्य से भी पृथक् रह सकते हैं। कोई व्यक्ति समाज व राज्य के विरुद्ध विद्रोह भी कर सकता है।

(३) प्रत्येक व्यक्ति पृथक् रूप म सोचता है, स्वतन्त्र रूप से अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करता है, और पृथक् रूप से ही उसका जन्म व अन्त होता है। इसके विपरीत शरीर के विविध अवयवो की न कोई स्वतन्त्र इच्छा होती है, और न कोई पृथक् सत्ता।

(४) शरीर वृद्धि करता है, पर वह अन्दर से बाहर की ओर बढ़ता है।

राज्य भी वृद्धि करता है, पर शरीर की तरह से नही। वह नये प्रदेश को जीतकर ही अपनी वृद्धि कर सकता है।

विवेचना—इन्ही बातो को दृष्टि मे रखकर अनेक विद्वान् व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए शरीर के उदाहरण को स्वीकार्य नही मानते। पर इसमे सन्देह नही, कि राज्य के सावयव सिद्धान्त से व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध को समझने मे सहायता मिलती है।

(१) यह सत्य है कि अपने लाभ, कल्याण और उन्नति के लिए व्यक्ति और राज्य एक-दूसरे पर आश्रित होते हैं। राज्य के अभाव मे मनुष्य न अपने हितो की रक्षा कर सकेगा, और न अपनी उन्नति ही कर सकेगा। समुदाय बनाकर ही मनुष्य अपनी रक्षा कर सकता है, और दूसरो के साथ सहयोग करके ही उसके लिए उन्नति के मार्ग पर आगे बढना सम्भव होता है। इसी प्रकार राज्य व समाज की उन्नति के लिए भी यह आवश्यक है, कि उसके सब सदस्य सुखी, सम्पन्न, कर्तव्यपरायण व प्रगतिशील हो।

(२) पर व्यक्ति को केवल समाज के हित के लिए साधन मात्र समझना भी उचित नही है। व्यक्ति भी अपनी पृथक् सत्ता रखते हैं, उनकी भी अपनी आवश्यकताएँ होती हैं, और उनका भी अपना महत्त्व होता है।

संविदा सिद्धान्त (Social Contract Theory)—

राज्य की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, इस पर विचार करते हुए हम संविदा सिद्धान्त पर विशदरूप से प्रकाश डालेंगे। पर व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए भी इस सिद्धान्त का उल्लेख करना उपयोगी है। इस सिद्धान्त के अनुसार—

(१) राज्य की स्थापना व्यक्तियो की आपस की संविदा (इकरार) द्वारा हुई है। जैसे कोई दो या अधिक मनुष्य व्यापार या किसी अन्य कारोबार के लिए परस्पर मिलकर इकरार करते है, और हिस्सेदार बनकर उस कारोबार को चलाते हैं, वैसे ही व्यक्तियो ने आपस के इकरार द्वारा राज्य का निर्माण किया है। इकरार को तोडा भी जा सकता है, उसका अन्त भी किया जा सकता है। राज्य का स्वरूप ठीक वैसा ही है, जैसा कि किसी जायन्ट स्टाक कम्पनी आदि का होता है। मनुष्य अपने आर्थिक लाभ के लिए कोई कम्पनी खडी करते है। जब वे समझें कि कम्पनी को कायम रखना बेकार है, तो वे उस कम्पनी को तोड भी सकते हैं। यही बात राज्य के बारे में भी है। व्यक्तियो ने अपने कतिपय हितो के लिए उसका निर्माण किया है, और वे जब चाहे उसका अन्त कर सकते हैं।

(२) राज्य एक प्राकृतिक (Natural) संस्था नही है, वह कृत्रिम है। उसे

मनुष्यो ने स्वय बनाया है। वह उनकी प्रकृति व स्वभाव का परिणाम नही हैं, अपितु अपने हितो को दृष्टि मे रखकर ही उसकी सृष्टि उन्होने की है।

(३) मनुष्य कृत्रिम रूप से जिन समुदायो को बनाता है, उनमे अपने व्यक्तिगत हितो को महत्व देता है। यदि कोई समुदाय उसके व्यक्तिगत हितो का साधन न करे, तो वह या तो उस समुदाय का अन्त कर देता है, या उस समुदाय से अलग हो जाता है। यही बात राज्य व समाज के विषय मे भी है। अपने हितो की दृष्टि से व्यक्तियो ने उसका निर्माण किया है। यदि कोई समाज या राज्य व्यक्तिगत हितो का साधक न रहे तो व्यक्ति उसका अन्त कर सकते हैं।

विवेचन—समाज या राज्य को कृत्रिम या मनुष्यकृत मानना सम्भव नही है। दूसरो के साथ मिलकर रहना और दूसरो के साथ सहयोग द्वारा अपनी उन्नति करना मनुष्य का स्वभाव है। सामुदायिक जीवन मनुष्य की प्रकृति है, वह कोई कृत्रिम कृति नही है। इसी कारण मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार जब चाहे राज्य व समाज का अन्त नहीं कर सकता। मनुष्य सरकार मे परिवर्तन अवश्य कर सकता है, पर सरकार के परिवर्तन का अभिप्राय राज्य का अन्त होना नही होता। सरकार बदल जाने पर भी राज्य कायम रहता है।

सविदा सिद्धान्त मे यह सचाई जरूर है, कि यह व्यक्ति के महत्त्व पर भी जोर देता है। इसमे सन्देह नही, कि व्यक्ति को केवल राज्य के हित के लिए साधनमात्र नही माना जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति अपनी पृथक् सत्ता रखता है, अपने हित व कल्याण के लिए प्रयत्न करता है, और अपनी उन्नति चाहता है। अत राज्य के भी व्यक्तियो के प्रति अनेक कर्तव्य हो जाते हैं।

व्यक्ति और राज्य एक-दूसरे के पूरक (Complementary) हैं—

राज्य और व्यक्ति के सम्बन्ध मे सही सिद्धान्त यह है, कि व्यक्ति और राज्य एक दूसरे के पूरक होते हैं। इस बात से इन्कार नही किया जा सकता, कि समुदाय बनाकर रहना मनुष्य का स्वभाव है। मनुष्य समाज मे रहता है, क्योकि समाज मे रहना मनुष्य की प्रकृति है, और समाज मे रहे बिना न वह अपने हितो का सम्पादन कर सकता है, और न उन्नति। पर साथ ही यह बात भी सत्य है, कि समाज का विकास धीरे-धीरे हुआ है, और उसके विकास मे व्यक्तियो का बहुत बडा हाथ है। मनुष्यो का सामुदायिक जीवन जो एक विशेष दिशा मे निरन्तर विकास करता गया, उसमे व्यक्तियो के विचार, प्रतिभा और चिन्तन ने बहुत काम किया है। परिवार का क्या रूप हो, सरकार का सगठन किस प्रकार का हो, आर्थिक समुदाय किस प्रकार अपना कार्य करें और धार्मिक समुदायो को क्या कुछ करना चाहिए—इन सब बातो के निर्धारण मे मनुष्य का कर्तृत्व बहुत अधिक है। समाज मे व्यक्ति की

सत्ता नगण्य नही मानी जा सकती। मनुष्य की प्रकृति जहाँ सामुदायिक जीवन बिताने की है, वहाँ मनुष्य ही स्वय विवेकपूर्वक यह भी निश्चय करता है, कि उसके सामाजिक जीवन का क्या स्वरूप होना चाहिए।

इसलिए यह कहना अधिक सही होगा, कि समाज स्वाभाविक और कृत्रिम दोनो है। मूलत समाज प्राकृतिक है, पर आंशिक रूप से वह कृत्रिम भी है। इसी कारण यह माना जाता है, कि समाज व राज्य और व्यक्ति एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनो एक-दूसरे के कल्याण व उन्नति मे सहायक होते हैं। व्यक्ति समाज की उन्नति मे सहायक होते है, और समाज व्यक्तियो की उन्नति मे। यदि व्यक्ति गुणी, सुखी परिश्रमी व कर्तव्यपरायण हो, तो समाज व राज्य की उन्नति अवश्यम्भावी है। इसी प्रकार यदि कोई समाज उन्नत हो, उसके आदर्श ऊँचे हो, उसका सगठन उत्तम हो, तो उसके कारण व्यक्तियो की उन्नति मे भी अवश्य सहायता मिलेगी। एक सभ्य समाज के अग होकर जो व्यक्ति उत्पन्न होते हैं, उन्हे अपनी उन्नति की सुविधाएँ सुगमता से प्राप्त हो जाती हैं। इसके विपरीत एक असभ्य और अर्धसभ्य समाज के सदस्यो को अपनी उन्नति के लिए समुचित सुविधाएँ प्राप्त नही हो पाती। अत यह स्वीकार करना होगा, कि व्यक्ति समाज से लाभ उठाता है, और समाज व्यक्तियो से। इसी कारण उन्हे एक-दूसरे का पूरक माना जाता है। समाज व राज्य का कर्तव्य है, कि वह व्यक्तियो के हित और उत्कर्ष को सदा ध्यान मे रखे और उनके लिए प्रयत्नशील रहे। इसी प्रकार व्यक्तियो का कर्तव्य है कि वे केवल अपनी उन्नति व कल्याण के लिए ही प्रयत्न न करें, अपितु सारे समाज और सब लोगो की उन्नति के लिए तत्पर रहे।

यदि असल मे देखा जाए, तो मनुष्य के व्यक्तित्व का उच्चतम विकास यही है, कि वह दूसरो के लिए जीना सीखे। मनुष्य के व्यक्तिगत गुण परोपकार, सेवा, दया और स्वार्थत्याग ही है। इन्ही से मनुष्य का चरम विकास होता है। ये गुण किसी व्यक्ति मे तभी विकसित होते हैं, जब वह दूसरो के प्रति अनेक कर्तव्यो को समझे। सबसे पूर्व मनुष्य कुटुम्ब के क्षेत्र मे अपने कर्तव्यो का पालन कर अपने इन व्यक्तिगत गुणो का विकास करता है, फिर अपनी बिरादरी और ग्राम के क्षेत्र मे, फिर राज्य के क्षेत्र मे और अन्त मे सम्पूर्ण मानव समाज मे। इसलिए व्यक्ति और समाज व राज्य को एक-दूसरे का विरोधी न मानकर उन्हे एक-दूसरे का पूरक ही समझना चाहिए।

व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध के कारण उत्पन्न होने वाले कुछ प्रश्न

जब हम व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध पर विचार कर रहे होते हैं, तो कुछ प्रश्न स्वाभाविक रूप से हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं—

(१) हमने राज्य की एक विशेषता यह बताई है, कि राज्य में प्रभुत्व शक्ति होती है, वह सर्वोपरि होता है। सब व्यक्ति उसके आदेश में रहते हैं, और राज्य को यह अधिकार होता है, कि वह सब व्यक्तियों व व्यक्तियों के सब समुदायों पर अपना नियन्त्रण रख सके। यदि प्रभुता राज्य का एक आवश्यक तत्व है, तो व्यक्तियों की स्थिति उसके सम्मुख सर्वथा अगण्य हो जाती है। इस दशा में क्या राज्य का प्रभुत्व-सम्पन्न व सर्वोपरि होना उचित है ?

(२) राज्य ऐसे कानूनों का निर्माण करता है, जिनका पालन करना सब मनुष्यों के लिए अनिवार्य होता है। कानून का पालन करने के लिए राज्य दण्ड व शक्ति का भी प्रयोग करता है। इसलिए कानूनों की सत्ता क्या व्यक्तियों को सर्वथा अगण्य नहीं बना देती ?

(३) क्या राज्य के कारण व्यक्तियों की स्वतन्त्रता में बाधा नहीं पड़ती ? प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्र रहना चाहता है और स्वतन्त्रता के साथ ही अपनी उन्नति करने का इच्छुक होता है। क्या राज्य मनुष्य की इस स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं करता ?

(४) राज्य का निर्माण जिन व्यक्तियों द्वारा हुआ है, क्या वे सब समान स्थिति रखते हैं ?

(५) राज्य में रहता हुआ मनुष्य भी अपने व्यक्तिगत अधिकारों की रक्षा करना चाहता है। क्या मनुष्य के कोई ऐसे अधिकार भी हैं, जो राज्य से स्वतन्त्र रूप में उसे प्राप्त हैं ?

इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए अब हम क्रमश प्रभुता (Sovereignty), कानून (Laws), स्वतन्त्रता (Liberty), समानता (Equality) और अधिकार (Rights) पर विचार करेंगे, ताकि व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध और अधिक स्पष्ट हो सकें।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ राज्य और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में कौन-कौन से मुख्य सिद्धान्त हैं ?

२ क्या राज्य की उपमा शरीर के साथ दी जा सकती है ? राज्य के सावयव सिद्धान्त की विशद रूप से विवेचना कीजिये।

३ क्या राज्य एक कृत्रिम व मनुष्यकृत समुदाय है ? अपने मत का युक्तिपूर्वक प्रतिपादन कीजिये।

सातवाँ अध्याय

प्रभुता
(SOVEREIGNTY)

प्रभुता का अभिप्राय—

हम पहले लिख चुके हैं कि राज्य का एक आवश्यक तत्त्व प्रभुता है। यही तत्त्व है, जो राज्य को अन्य समुदायो से पृथक् करता है। अन्य समुदाय भी ऐसे हो सकते हैं, जिनका अपना सगठन हो, जो किन्ही नियमो का पालन करते हो, किसी निश्चित भूखण्ड पर बसे हुए हो, और अपनी इच्छा के अनुसार नियमो का निर्माण करते हो। पर इन अन्य समुदायो मे 'प्रभुता' नही होती। जिस मानव-समुदाय में प्रभुता भी हो, उसी को राज्य कहते है। प्रत्येक राज्य मे यह विशेषता अवश्य पाई जाती है।

प्रभुता का लक्षण—राज्य की इस प्रभुत्वशक्ति के लक्षण विविध विद्वानो ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किये हैं। बर्गेस के अनुसार "राज्य की सब व्यक्तियो और व्यक्तियो के समुदायो के ऊपर जो मौलिक, सम्पूर्ण और असीम शक्ति है, वही प्रभुता है।"[1] पोलक के अनुसार "प्रभुता वह शक्ति है, जो अस्थायी नही है, जो किसी अन्य द्वारा प्रदत्त नही है, जो किन्ही ऐसे नियमो के अधीन नही है जिन्हे वह स्वय न बदल सके, और जो ससार की अन्य किसी शक्ति के प्रति उत्तरदायी नही है।"[2] विलोबी के अनुसार "राज्य की सर्वोपरि इच्छा को ही प्रभुता कहते हैं।"[3]

विविध विद्वानो द्वारा किये गये इन लक्षणो से प्रभुता का स्वरूप भलीभाँति

---

1 "Sovereignty is the original, absolute and unlimited power over the individual subjects and over all associations of subjects"

—Burgess.

2 'Sovereignty is that power which is neither temporary, nor delegated, nor subject to particular rules which it cannot alter, nor answerable to any power on earth".

—Pollack

3. "Sovereignty is the supreme will of the state".

—Willoughby.

स्पष्ट हो जाता है। इसमे सन्देह नही, कि राज्य मे एक ऐसी शक्ति होती है, जो उसमे निवास करने वाले सब व्यक्तियो, समुदायो व उसके क्षेत्र म विद्यमान सब पदार्थों पर सर्वोच्च अधिकार रखती है, जिसके कारण वह सबको अपने आदेशो का पालन करने के लिए विवश कर सकती है। इसी सर्वोपरि शक्ति को प्रभुता कहते हैं। यह शक्ति राज्य के अतिरिक्त किसी अन्य समुदाय के पास नही होती।

प्रभुता एक ऐसी विशेषता है, जिसके कारण (१) राज्य किसी भी बाह्य सत्ता का आदेश मानने के लिए विवश नही होता, और ( ) राज्य के क्षेत्र मे निवास करने वाले सब व्यक्ति उसके आदेशो को मानने के लिए विवश होते हैं।

प्रभुता की विशेषताएँ (Characteristics of Sovereignty)

प्रभुता के अभिप्राय को और अधिक स्पष्ट करने के लिए उसकी विशेषताओं व गुणो पर प्रकाश डालना उपयोगी है। ये विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) **स्थायित्व** (Permanence)—राज्य और प्रभुता का सम्बन्ध अटूट है। क्योंकि राज्य स्थायी है, अत उसकी प्रभुता भी स्थायी होती है। प्रभुता राज्य मे होती है, सरकार मे नही। इसीलिए सरकार के बदल जाने से प्रभुता का अन्त नहीं हो जाता। हां, यदि कोई राज्य किसी दूसरे राज्य के अधीन हो जाए, तो अधीन हुए राज्य म प्रभुता नही रह जाती। पर प्रभुता न रह जाने के कारण उसकी सत्ता पृथक राज्य के रूप म नही रह जाती।

(२) **केवलित्व या अनन्यत्व** (Exclusiveness)—राज्य मे केवल एक ही प्रभुता रह सकती है, एक से अधिक नही। सर्वोपरि सत्ता एक ही हो सकती है। जो सबसे ऊपर हो, वही सर्वोपरि है। इसी कारण राज्य की प्रभुता की यह विशेषता होती है, कि वह अनन्य हो, कोई उसके समकक्ष न हो।

(३) **सर्वव्यापित्व** (All Comprehensiveness) राज्य की प्रभुता अपने क्षेत्र मे सर्वव्यापी होती है। राज्य के अन्तर्गत जो भी प्रदेश हो, उन प्रदेशो मे जो भी पदार्थ हो, वहाँ जो भी मनुष्य व समुदाय निवास करते हो, सब पर प्रभुत्वशक्ति के कारण राज्य का अधिकार व नियन्त्रण होता है।

(४) **अपृथक्करणीयत्व** (Inalienability)—राज्य अपने को नष्ट किये बिना प्रभुता को अपने से पृथक् नही कर सकता। जिस प्रकार कोई प्राणी आत्म-विनाश किये बिना अपने जीवन को अपने से पृथक् नही कर सकता, वैसे ही राज्य भी आत्मविनाश के बिना प्रभुता को अपने से अलग नही कर सकता। प्रभुता राज्य के प्राण के समान है, अतएव जब तक राज्य रहे, प्रभुता भी उसमें कायम रहती है।

(५) **अविभाज्यता** (Indivisibility)—राज्य मे जो सर्वोच्च प्रभुत्वशक्ति है, उसके विभाग कर सकना भी सम्भव नहीं है। यदि उसके विभाग कर दिये जा सकें,

यदि विधानत सरकार देर तक अपने राज्य पर अधिकार स्थापित न कर सके, तो तथ्यत सरकार ही विधानत सरकार की स्थिति प्राप्त कर लेती है।

क्या प्रभुता सीमित होती है ?

प्रभुता की जो विशेषताएँ हमने ऊपर बताई हैं, उनसे यह स्पष्ट है, कि राज्य की प्रभुत्वशक्ति असीम (unlimited) होती है। राज्य को पूर्ण अधिकार है कि वह जो चाहे आदेश दे सके, जो चाहे कानून बना सके। पर राज्य स्वय इन कानूनो के अधीन नही होता। इसी कारण वह जब चाहे, इन कानूनो मे परिवर्तन कर सकता है, या उन्हें रद्द कर सकता है। सरकार अवश्य इन कानूनो के अधीन होती है, पर सरकार और राज्य दो भिन्न सत्ताएँ हैं। पर राज्य अपने बनाये हुए कानूनो से भी ऊपर होता है। राज्य की प्रभुत्वशक्ति पूर्ण व असीम होती है।

पर अनेक विचारक ऐसे भी हैं, जो इस मत को स्वीकार नही करते। उनके विचार मे अनेक बातें ऐसी है, जो राज्य की प्रभुता को सीमित करती हैं—

(१) प्रत्येक राज्य की जनता कुछ बातो को उचित और कुछ को अनुचित समझती है। न्याय, औचित्य आदि के विचार सब जगह पाये जाते हैं। कोई भी राज्य इनके विपरीत कार्य करने का साहस नही कर सकता।

(२) जनता मे जो प्रथाएँ देर से चली आ रही होती है, राज्य उनका भी उल्लघन नही कर सकता।

इसी कारण अनेक विद्वानो का मत है कि राज्य को सर्वशक्तिमान् व प्रभु समझना सर्वथा अनुचित है। पर इस प्रसग मे यह ध्यान मे रखना चाहिए कि राज्य कानून बनाते हुए उचित अनुचित, न्याय, पुरानी प्रथाओ आदि के विचारो को ध्यान मे रखे या नही, यह उसकी अपनी इच्छा पर निर्भर है। स्वतन्त्र भारत की सरकार ने अछूत प्रथा को गैरकानूनी ठहराया है। यह प्रथा भारत मे देर से चली आ रही है, पर सरकार ने इसे कोई महत्त्व नही दिया। क्योकि राज्य की प्रभुत्वशक्ति जनता मे निहित रहती है, अत इस बात का फैसला करना भी जनता के ही हाथो मे है, कि वह किस विचार व प्रथा को महत्त्व दे और किसे नही। इसलिए राज्य की प्रभुता को असीम मानना ही उचित व युक्तिसगत है।

प्रभुता के सिद्धान्त की आलोचना—

हमने ऊपर प्रतिपादित किया है कि प्रभुता एक ऐसी विशेषता है, जो केवल राज्य मे ही पाई जाती है, अन्य किसी समुदाय मे नही। पर अनेक विद्वान् इससे सहमत नही है। उनका मत है कि यह कोई जरूरी नहीं, कि राज्य अवश्य ही प्रभुत्वशक्तिसम्पन्न (Sovereign) हो। वे अपने मत की पुष्टि के लिए अनेक युक्तियाँ

देते हैं, जिनमें मुख्य निम्नलिखित हैं—

(१) अन्तर्राष्ट्रीयता (Internationalism) के विकास के कारण अब किसी राज्य के लिये यह सम्भव नही रह गया है कि वह पूर्ण रूप से प्रभुत्वसम्पन्न हो। वर्तमान समय मे विज्ञान ने जो असाधारण उन्नति कर ली है, उसके कारण अब कोई राज्य अकेले अपनी रक्षा नही कर सकता। अब राज्यो के लिए यह आवश्यक हो गया है, कि वे एक-दूसरे पर आश्रित होकर रहे। बीसवी सदी के दो महायुद्धो के बाद कोई भी राज्य अपने को पूर्णतया स्वतन्त्र नही समझ सकता और न अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे मनमानी ही कर सकता है। संयुक्त राज्य सघ (United Nations' Organisation) के संगठन के कारण अब सभी राज्यो की प्रभुता बहुत कुछ सीमित हो गई है।

ऐसा होना उचित भी है, क्योकि राज्यो की प्रभुता विश्वशान्ति के लिए हानिकारक है। जब तक ससार के विविध राज्य अपने को किसी अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के अधीन नहीं कर देंगे, और अपने को पूर्णतया 'प्रभु' समझना नही छोड देंगे, तब तक ससार मे शान्ति की आशा रखना बिलकुल बेकार है। प्रोफेसर लास्की के इस कथन मे बहुत सचाई है—"किसी राज्य को अन्य राज्यो के साथ किस सम्बन्ध से रहना चाहिए, यह विषय ऐसा नही है, जिसका निर्णय करने का पूर्ण अधिकार उस राज्य को ही हो। इगलैण्ड को यह फैसला स्वय नहीं करना चाहिए, कि वह कितने और कौन से अस्त्र-शस्त्र रखे व किन लोगो को बाहर से आकर अपने प्रदेशो मे बसने दे।" आज ससार सचमुच इसी ओर जा रहा है। अस्त्र-शस्त्र आदि की संख्या को मर्यादित करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन किये जाते हैं, और वर्तमान समय के राज्य इस स्थिति मे नहीं है, कि वे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे पूर्णतया मनमानी कर सकें।

(२) राजनीति शास्त्र मे एक सम्प्रदाय है, जिसे बहुसमुदायवाद (Pluralism) कहते हैं। प्रोफेसर लास्की इसके बडे प्रबल समर्थक थे। बहुसमुदायवाद के समर्थकों का कहना है कि अपने सार्वजनिक हितो के लिये मनुष्यो ने जो अनेक समुदाय बनाये हैं, राज्य भी उनमें से एक है। उसे अन्य समुदायो के मुकाबिले मे ऊँचा व सर्वोपरि मानना किसी भी प्रकार उचित नही है। राज्य अन्य समुदायो के समकक्ष ही है, उनमे उसकी स्थिति ऊँची नहीं है। जैसे मनुष्यो की भक्ति (Allegiance) राज्य के प्रति होती है, वैसे ही धार्मिक, आर्थिक सांस्कृतिक आदि अन्य समुदायो के प्रति भी होती है। इसी कारण यदि कोई राज्य कभी किसी धार्मिक समुदाय के खिलाफ कार्रवाई करने लगे, तो बहुत से लोग राज्य का विरोध करने के लिए भी तैयार हो जाते हैं। राज्य का प्रधान कार्य यही है कि वह बाहरी और अन्दरूनी शत्रुओं से देश की रक्षा करे। उसे धार्मिक, आर्थिक आदि मामलो मे हस्तक्षेप नही करना चाहिए। ये सब कार्य मनुष्यो के अन्य समुदायो के हाथो मे रहने चाहियें। राज्य को यह

स्वीकार करना चाहिए, कि अन्य समुदायो के समान वह भी एक समुदाय ही है। मानव जीवन के अनेक पहलू होते है, इसलिए कोई एक समुदाय उसकी सब आवश्यकताओ को पूरा नही कर सकता। अपनी विविध प्रकार की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये मनुष्य अनेक प्रकार के समुदाय बनाता है। राज्य भी उनमे से एक है, वह 'सर्वोपरि' या 'प्रभु' नही है।

इसमे सन्देह नही कि बहुसमुदायवाद मे सचाई का अश अवश्य है। वह हमारे सामने इस बात को स्पष्ट रूप से ले आता है, कि राज्य कोई लोकोत्तर सस्था नही है। उसका निर्माण मनुष्यो द्वारा ही किया गया है, और वह भी एक मानव समुदाय ही है। पर इस सिद्धान्त को स्वीकार कर सकना सम्भव नही है, क्योकि यदि सब समुदायो को समकक्ष मान लिया जाए, तो जब कभी विविध समुदायो मे मत-भेद व झगडा हो, तो उसका निर्णय किस प्रकार हो सकेगा ? समाज मे व्यवस्था कायम रखने के लिए यह जरूरी है, कि उसमे कोई सर्वोपरि सत्ता विद्यमान हो। राज्य यही सर्वोपरि सत्ता है, और इसी कारण वह अन्य सब समुदायो के कार्य व नीति पर नियन्त्रण रखने का अधिकार रखता है।

उपसहार

इसमे सन्देह नही, कि प्रभुता के कारण राज्य की स्थिति सब व्यक्तियो व समुदायो से ऊँची हो जाती है, और सबको उसके आदेशो मे रहने के लिये विवश होना पडता है। पर यह बात व्यक्तियो के लिए हानिकारक नही होती, क्योकि राज्य भी व्यक्तियो का ही समुदाय है। मनुष्यो की जो इच्छा हो, जो लोकमत हो, उसी के अनुसार तो राज्य कार्य करता है। लोकतन्त्र शासनो मे तो मनुष्यो की यह सर्व-सामान्य इच्छा (General will) स्पष्ट रूप से राज्य का सचालन करती है, पर पुराने समय मे जब राजाओ का एकतन्त्र शासन हुआ करता था, तब भी 'मनुष्यो की इस इच्छा' का अभाव नही था। उस समय के नीतिकार यह प्रतिपादन किया करते थे, कि प्रजा का रजन करना राजा का कर्तव्य है, और उसे धर्म के अनुसार ही शासन करना चाहिए। न्याय, औचित्य आदि के सम्बन्ध मे मनुष्यो के जो विचार हो, उसी को 'धर्म' कहते है। यदि कोई राजा जनता के मत की सर्वथा उपेक्षा कर मनमानी करने का प्रयत्न करता था, तो जनता उसके विरुद्ध विद्रोह करने के लिए भी उठ खडी होती थी। इसलिए यह स्वीकार करना होगा, कि राज्य की प्रभुत्वशक्ति के कारण व्यक्तियो को कोई हानि नही पहुँचती। उसके कारण समाज मे जो व्यवस्था कायम रहती है, वह मनुष्यो के हित, कल्याण व उन्नति मे सहायक ही होती है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ प्रभुता (राज्यसत्ता या सावभौमिकता या Sovereignty) से आप क्या समझते हैं ? उसकी विशेषताओं का वर्णन कीजिये। (यू० पी० १९४२, १९५५)

२ प्रभुता का लक्षरण कीजिए और उसकी विशेषताओं का उल्लेख कर कानूनी और राजनीतिक प्रभुता के भेद को स्पष्ट कीजिये। (यू० पी०, १९४७)

३ राज्य की प्रभुता से आप क्या समझते है ? यह नागरिकों के अधिकारों मे कहाँ तक बाधा डालती है ? (राजपूताना १९४५)

४ प्रभुता से आप क्या समझते हैं ? किस अर्थ में राज्य को प्रभुत्वसम्पन्न (Sovereign) माना जा सकता है ?

५ प्रभुता के विविध रूप कौन से हैं ? उनके भेदो को स्पष्ट कीजिये।

६ प्रभुता के सिद्धान्त की आलोचना कीजिये। बहुसमुदायवाद (Pluralism) के अनुयायी इस सिद्धान्त को किस कारण से स्वीकार नहीं करते ?

७ 'प्रभुता का सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे बहुत भयकर सिद्ध हुआ है' क्या आप इस कथन से सहमत हैं ?

आठवा अध्याय

कानून

कानून का अभिप्राय--

राज्य अपनी प्रजा को जो आदेश देता है और जिनका उल्लघन करने पर मनुष्य को दण्ड दिया जाता है, उन्हे 'कानून' कहते हैं। कुछ कानून ऐसे भी होते हैं जिन्हे राज्य द्वारा नही बनाया जाता। पुरानी प्रथा व रीति रिवाज भी ऐसे हो सकते है जिनकी स्थिति कानून के समान ही हो, और जिनका पालन कराने के लिए भी राज्य की शक्ति का प्रयोग किया जाए।

कानून का लक्षण--विविध विद्वानो ने कानून का लक्षण भिन्न भिन्न प्रकार से किया है। प्रसिद्ध विद्वान् हालैंड के अनुसार "आचरण के उन सामान्य नियमो को कानून कहते हैं जिनका सम्बन्ध मनुष्यो के बाह्य आचरण के साथ हो, और जिनका प्रयोग किसी सुनिश्चित सत्ता द्वारा कराया जाए, यह सुनिश्चित सत्ता मानवी होनी है, और मानवी सत्ताओ मे भी ऐसी, जो राजनीतिक समाज मे सर्वोच्च है। सक्षेप मे हम यो कह सकते हैं कि सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राजनीतिक सत्ता द्वारा लागू किये जाने-वाले बाह्य आचरण के सामान्य नियमो को कानून कहा जाता है।"[1]

हालैंड द्वारा किये गये कानून के लक्षण की विशेषताएँ निम्नलिखित है—

(१) कानून का सम्बन्ध मनुष्य के बाह्य आचरण (External action) के साथ होना है। कोई मनुष्य दूसरे के धन से ईर्ष्या करता है, उसे अनुचित रूप से प्राप्त करने के लिए मन मे सोचता रहता है। ऐसा करना नैतिक दृष्टि से चाहे उचित न हो, पर कानून की दृष्टि मे वह तभी अपराधी होगा, जब कि वह चोरी करे या चोरी करने का प्रयत्न करे। कानून की दृष्टि मे मनुष्यो के केवल बाह्य आचरण होने हैं, आन्तरिक विचार नही।

(२) कानून का प्रयोग करने वाली सत्ता मानवी होनी चाहिए। प्राय मनुष्य

1 'A law is a general rule of action taking cognizance only of external acts, enforced by a determinate authority, which authority is human and among human authorities is that which is a paramount in a political society, or briefly, a law is a general rule of external action enforced by a sovereign political authority".

—Holland

ईश्वरी या दैवी सत्ता पर भी विश्वास रखते हैं, और यह मानते हैं कि ईश्वर मनुष्यों के कार्यों को देखता रहता है, और उनका फल देता है। पर हम कानून केवल उसे कहते हैं, जिसका प्रयोग मानवी सत्ता द्वारा किया जाए।

(३) यह मानवी सत्ता भी सर्वोच्च होनी चाहिए। धार्मिक, आर्थिक आदि मानव समुदायों के भी अपने नियम होते हैं, और वे अनेक प्रकार से उनका पालन कराने का भी यत्न करते हैं। पर इन नियमो को कानून नही कहा जाता। हम कानून केवल उन नियमो को कहते हैं, जिनका प्रयोग राज्य द्वारा, जो सर्वोच्च राजनीतिक समुदाय है, किया जाए।

गैटल ने कानून का लक्षण इस प्रकार किया है—"कानून सुस्थित विचार व अभ्यास का वह अंश है, जो सरकार की शक्ति द्वारा समर्थित सामान्य नियमो के रूप में सुस्पष्ट तथा विधिपरक स्वीकृति प्राप्त कर चुका हो?"[1]

इस लक्षण के अनुसार कानून में निम्नलिखित बातें होती है—

(१) मनुष्यो मे कतिपय विचार, अभ्यास और प्रथाएँ चली आ रही होती है, जिनका वे सामान्य रूप से अनुसरण व पालन करते हैं। हिन्दू लोगो मे विवाह, विरासत आदि के सम्बन्ध में कुछ प्रथाएँ देर से चली आ रही हैं, और हिन्दू लोग सामान्य रूप से उनका पालन भी करते हैं। यही बात अन्य लोगो के विषय में भी कही जा सकती है।

(२) इनमे से कतिपय विचार, अभ्यास व प्रथाएँ इतनी सुस्थित (Established) होती हैं, कि सरकार उन्हे विधिवत् स्वीकार कर लेती है और उनका पालन कराने के लिए राजशक्ति का प्रयोग करती है। इन्ही को हम कानून कहते है।

यह लक्षण उन कानूनो के स्वरूप को भली-भाँति स्पष्ट कर देता है, जिन्हें सरकार नही बनाती, अपितु जो जनता मे परम्परागत रूप से चले आ रहे होते है, पर जिन्हे वह विधिवत् स्वीकार कर लेती है और जनता से उसका पालन भी कराती है। भारत मे हिन्दू कानून, मुस्लिम कानून आदि इसी प्रकार के हैं।

इसमे सन्देह नही, कि मनुष्यो के बाह्य आचरण के विषय मे कतिपय ऐसे नियमो की सत्ता होती है, जिन्हे सरकार विधिपूर्वक स्वीकार कर लेती है, और जिनका पालन कराने के लिए वह राजशक्ति का भी प्रयोग करती है। ये नियम, चाहे पुरानी प्रथाओं पर आश्रित हो और चाहे जनता मे विद्यमान विचारो को दृष्टि में रखकर सरकार द्वारा बनाये गये हो, कानून कहाते हैं। जिन नियमों का निर्माण सरकार

---

1. "Law is that portion of established thought and habit which has gained distinct and formal recognition in the form of general rules backed by the authority and power of government"

—Gettel

द्वारा किया जाता है, सरकार जो आदेश देती है, और मनुष्यो के जिन विचारो, अभ्यासो और प्रथाओ को सरकार ने विधिपूर्वक स्वीकार किया होता है, उन सबको कानून कहा जाता है।

कानून की आवश्यकता—

जब मनुष्य परस्पर मिलकर और कोई उद्देश्य अपने सम्मुख रखकर किसी समुदाय का निर्माण करते है, तो यह स्वाभाविक है कि वे उस समुदाय के लिये कतिपय नियम भी बनाएँ, ताकि उन नियमो के अनुसार उस समुदाय के कार्यों का सचालन किया जा सके। ये नियम समुदाय के सदस्यो की इच्छा के अनुसार बनाये जाते हैं, पर जब एक बार इनका निर्माण हो जाता है, तो सदस्यो से यह आशा की जाती है कि वे इनका पालन करेंगे। राज्य भी मनुष्यो का समुदाय ही है, अत उसके लिए भी यह आवश्यक है कि उसके कतिपय ऐसे नियम हो, जिनका पालन सब लोग करें। राज्य-रूपी मानव समुदाय के अन्तर्गत मनुष्य किस प्रकार का आचरण करें, किस प्रकार से कार्य करे, किस व्यवस्था मे रहे, इस सम्बन्ध मे जो नियम राज्य द्वारा बनाये जाते हैं, उन्हें ही कानून कहा जाता है। अन्य समुदायो के नियमो और राज्य के नियमो (कानूनो) मे भेद यह है, कि राज्य अपने नियमो का पालन कराने के लिए शक्ति का प्रयोग कर सकता है। पर जिस प्रकार अन्य सब समुदायो को अपने उद्देश्यो की पूर्ति के लिए व अपना कार्य चलाने के लिए नियमो की आवश्यकता है, वैसे ही राज्य को भी है।

ऐसे किसी राज्य की कल्पना नही की जा सकती, जिसमे कानूनो की सत्ता न हो। कानून के अभाव का अभिप्राय यह होगा कि प्रत्येक मनुष्य जो चाहे कर सकेगा, उसकी इच्छा व कार्यो पर कोई भी नियन्त्रण नही होगा। यह दशा 'अराजकता' (Anarchy) की होगी, राज्य की नही। राज्य का प्रयोजन यह है कि वह बाहरी व अन्दरूनी शत्रुओ से जनता की रक्षा करे, अमन चैन कायम रखे, सार्वजनिक हित के कार्यों की व्यवस्था करे, और मनुष्यो के हित, कल्याण व उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहे। ये सब कार्य वह तभी कर सकता है, जबकि वह किन्ही ऐसे नियमो का निर्माण करे, जिसका पालन करने के लिए सब लोग विवश हो। व्यवस्था के बिना न तो मनुष्यो की रक्षा की जा सकती है, न उनका हित सम्पादन सम्भव है, और न उन्नति। राज्य जो व्यवस्थाएं करता है, वे ही कानून कहाती है। अत राज्य के लिए कानूनो की आवश्यकता असदिग्ध है।

कानून के स्रोत (Sources of Law)

वर्तमान समय मे राज्य के कानूनो का निर्माण व्यवस्थापन विभाग (Legis-

lature) द्वारा किया जाता है । पर किसी भी देश मे केवल वे कानून ही जारी नही होते, जिन्हे पार्लियामेन्ट ने बनाया हो । अनेक पुरानी प्रथाओ व अभ्यासो को भी कानून की स्थिति प्राप्त होती है, पार्लियामेन्ट उन्हे विधिपूर्वक स्वीकार मात्र कर लेती है। कानून के विविध स्रोतो को इस प्रकार परिगणित किया जा सकता है—

(१) परम्परागत प्रथाएँ (Customs)—जब से मनुष्यों ने सामुदायिक जीवन व्यतीत करना शुरू किया, तभी से उनमे अनेक प्रथाएँ भी विकसित होने लगी । इन प्रथाओ का आधार इनकी उपयोगिता थी, इसीलिए सब लोग इनका पालन करते थे । पिता की मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति किसे मिले, उसमे लडकियो का हिस्सा हो या नही, लडको मे भी सब को बराबर बराबर सम्पत्ति मिले या बडे को अधिक, इन सब बातो का निर्णय पुराने समय मे किसी व्यवस्थापन विभाग द्वारा या राजा द्वारा नही हुआ । इन बातो के सम्बन्ध मे विविध कुलो और कबीलो मे भिन्न-भिन्न प्रथाओ का विकास होता गया । बाद मे इन प्रथाओ ने कानून का भी रूप धारण कर लिया । यही विवाह, तलाक आदि कितनी ही अन्य बातो के सम्बन्ध मे हुआ ।

(२) धर्म (Religion)—मनुष्य के जीवन मे धर्म का बहुत महत्त्व है। धर्म के मन्तव्यो और विधि-विधानो को मनुष्य श्रद्धापूर्वक मानते हैं। जो बातें धर्म द्वारा विहित हो, उनका उल्लघन करने का साहस लोगो को नही होता । पुराने समय मे अनेक प्रथाओ को भी धर्म के साथ सम्बद्ध माना जाता था, और अब तक भी कितने ही रीतिरिवाजो व सामाजिक नियमो का धर्म के साथ सम्बन्ध माना जाता है । हिन्दू लोगो मे विवाह के बारे मे जो प्रथाएँ व नियम हैं, उन्हे वे धर्म का अग मानते हैं। ईसाई, मुसलमान, सिख आदि लोगो मे भी बहुत से सामाजिक नियमो को धर्म का अग माना जाता है। इसीलिए भारत मे कितने ही ऐसे कानून भी प्रचलित हैं, जिनका आधार धर्म है । यही बात अन्य देशों के विषय मे भी कही जा सकती है ।

(३) व्यवस्थापन (Legislation)—वर्तमान समय मे प्राय सभी देशो मे ऐसी विधान-सभाएँ विद्यमान हैं, जो कानून बनाने का कार्य करती हैं। इन विधान-सभाओ के कारण अब पुरानी प्रथाओ व धर्म आदि का कानून के स्रोत के रूप मे अधिक महत्त्व नहीं रहा है । ये विधान-सभाएँ न केवल जनता की आवश्यकताओ को दृष्टि मे रखकर नए कानून बनाती हैं, अपितु धर्म, प्रथा आदि के आधार पर चले आए पुराने नियमो को लेखबद्ध करके उन्हे विधिपूर्वक कानून का रूप भी प्रदान करती हैं।

(४) न्यायसम्बन्धी निर्णय (Judicial decisions)—जब कोई मुकदमा निर्णय के लिए न्यायाधीशों के सम्मुख पेश होता है, तो वे उसका निर्णय कानून के अनुसार करते हैं। पर अनेक बार कानून का अभिप्राय स्पष्ट नही होता । कानूनो के अभिप्राय को स्पष्ट करने व उनकी व्याख्या करने का महत्त्वपूर्ण कार्य न्यायाधीशो द्वारा ही किया जाता है । अदालतो के ये फैसले भविष्य के मुकदमो के लिए नजीर का काम

देते है, और ये भी राज्य के कानून की स्थिति रखने लगते हैं।

(५) वैज्ञानिक टीकाएँ (Scientific Commentaries)—जो विद्वान् कानून का वैज्ञानिक रीति से अध्ययन करते हैं उन्हें विधानशास्त्री (Jurists) कहा जाता है। ये विधानशास्त्री विधान सभा द्वारा बनाए हुए कानूनो की वैज्ञानिक व्याख्याएँ लिखते हैं। न्यायाधीश तो किसी मामले के सम्बन्ध मे कानून को लागू करते हुए ही उसकी व्याख्या करते है, पर विधानशास्त्री लोग कानून की तात्विक विवेचना करने का काय करते हैं। न्यायाधीशो की दृष्टि मे इन विवेचनाओ का बहुत महत्व होता है।

(६) औचित्य (Equity)—कई ऐसे मुकदमे भी न्यायालयो मे पेश होते हैं, जिनके विषय मे कोई स्पष्ट कानून नही होता। न्यायाधीश लोग इनका फैसला 'औचित्य' के सिद्धान्त के आधार पर करते हैं और इस प्रकार एक नए कानून का निर्माण हो जाता है। अन्य न्यायाधीश इसी प्रकार के मामले के पेश होने पर इस कानून का अनुसरण करने लगते है।

कानून के विविध प्रकार—

कानूनो का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया जा सकता है। मैकईवर के अनुसार कानूनो के वर्गीकरण को निम्नलिखित तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—
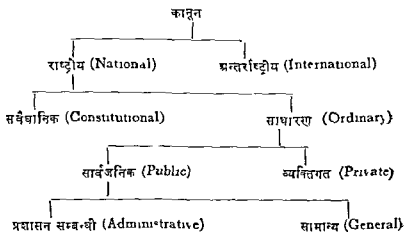
अब हम इन विविध प्रकार के कानूनो पर सक्षेप से प्रकाश डालेंगे—

(१) राष्ट्रीय कानून—राष्ट्रीय कानून वे हैं जिनका सम्बन्ध राज्य की भूमि, उसके निवासियो व राज्य की सीमा के अन्दर विद्यमान विविध समुदायो के साथ हो।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय कानून—एक राज्य दूसरे राज्य के साथ किस प्रकार व्यवहार करे, इसका प्रतिपादन अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा किया जाता है। विज्ञान की उन्नति

के कारण आजकल विविध राज्यो के परस्पर-सम्बन्ध बहुत बढ गए है। अब यह बहुत आवश्यक हो गया है, कि विविध राज्य एक दूसरे के साथ बरताव करते हुए किन्ही नियमो का पालन करें। इन्ही नियमो को अन्तर्राष्ट्रीय कानून कहते है। शान्ति और युद्ध—दोनो दशाओ मे इन नियमो का पालन किया जाता है।

(३) **सर्वधानिक कानून**—राष्ट्रीय कानून दो प्रकार के होते है, सर्वधानिक और साधारण। सविधान (Constitution) मे राज्य के उन आधारभूत कानूनो को अन्तर्गत किया जाता है, जिनके अनुसार सरकार के स्वरूप और सगठन का निर्धारण किया जाता है। सर्वधानिक कानून यह प्रतिपादित करता है, कि सरकार के विविध अग कौन से हैं, इन विविध अगो के क्या अधिकार है, क्या कार्य हैं और उनमे परस्पर क्या सम्बन्ध है। सर्वधानिक कानून लिखित भी हो सकता है और अलिखित भी। इस पर हम अगले एक अध्याय से विशद रूप मे विचार करेंगे।

(४) **साधारण कानून**—जिन कानूनो का सम्बन्ध व्यक्तियो व उनके समुदायो के साथ होता है, उन्हे साधारण कानून (Ordinary Law) कहते हैं। इन्ही कानूनो द्वारा सरकार व्यक्तियो व समुदायो के कार्यों पर अपना नियन्त्रण रखती है। साधारण कानून भी दो प्रकार के होते हैं, सार्वजनिक (Public) और व्यक्तिगत (Private)।

(५) **सार्वजनिक और व्यक्तिगत कानून**—कुछ कानून ऐसे होते हैं, जो व्यक्तियो के आपस के सम्बन्धो का निर्धारण करते हैं। पति पत्नी मे क्या सम्बन्ध हो, तलाक हो सके या नही, हो सके तो किन दशाओ म, सम्पत्ति का बटवारा किस तरह से किया जाए, विरासत के क्या नियम हो, मनुष्यो के आपसी लेन देन के लिए किन नियमो का अनुकरण किया जाए—इन तथा इसी प्रकार की अन्य बहुत-सी बातों के विषय मे, जिनका सम्बन्ध व्यक्तियो से होता है, जो कानून होते हैं, उन्हे व्यक्तिगत (Private) कानून कहते हैं। जिस प्रकार व्यक्तियो का परस्पर एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध होता है, वैसे ही राज्य के साथ भी व्यक्तियो का सम्बन्ध होता है। इस सम्बन्ध को निर्धारित करने के लिए जो कानून होते हैं, उन्ह सार्वजनिक (Public) कानून कहा जाता है। इन कानूनो द्वारा प्राय उन बातो का प्रतिपादन किया जाता है, जो मनुष्यो को नही करनी चाहिए। इनका उल्लघन करने वाले लोग राज्य के प्रति अपराधी माने जाते हैं। चोरी, डकैती, हत्या आदि इसी प्रकार की बातें हैं, जिन्हे राज्य के प्रति अपराध समझा जाता है।

(६) **प्रशासन सबन्धी कानून**—सार्वजनिक कानून के भी दो भेद हैं, प्रशासन सम्बन्धी (Administrative) और सामान्य (General)। सर्वधानिक कानून द्वारा सरकार को जो शक्ति व अधिकार प्रदान किए जाते है, उनका प्रयोग वह किस प्रकार करे—इसका निर्धारण प्रशासन-सम्बन्धी कानूनो द्वारा होता है। सरकारी कर्मचारियो की जिम्मेवारियो और अधिकारो का, जनता के साथ उनके सम्बन्ध व व्यवहार का

और उनकी विशेष शक्तियों का इन कानूनों में उल्लेख होता है। इस ढग के कानून सब देशों में नहीं हैं। पर फ्रांस आदि यूरोप के अन्य राज्यों में ये कानून पृथक् रूप से विद्यमान हैं।

(७) सामान्य कानून—राज्य का व्यक्तियों के साथ क्या सम्बन्ध हो, इसका निर्णय सामान्य सार्वजनिक कानूनों द्वारा किया जाता है। सरकार का मुख्य कार्य देश में शान्ति और व्यवस्था कायम रखना होता है। यदि कोई मनुष्य इस कार्य में बाधा डाले, तो उसे राज्य का विरोधी माना जाता है। सरकार उसके खिलाफ कार्रवाई करती है। इसी कारण इन कानूनों को फौजदारी कानून (Criminal law) भी कहते हैं। चोरी, डकैती, हत्या, राजद्रोह, बगावत आदि के सबंध में राज्य में जो कानून होते हैं, वे इसी वर्ग के अन्तर्गत माने जाते हैं।

कानून और नैतिकता (Law and Morality)

कानून और नैतिकता में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। किसी मनुष्य को किस प्रकार का आचरण व व्यवहार करना चाहिए, नैतिकता द्वारा इसी बात का निश्चय किया जाता है। सत्य, अहिंसा, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य आदि नैतिक नियम हैं। आचारशास्त्र (Ethics) हमें यह बताता है, कि हमें अपने आचरण में किन बातों को उचित व किन्हें अनुचित समझना चाहिए। कानून हमारे इन्हीं नैतिक विचारों के अनुसार बनाए जाते हैं। नैतिक आदर्शों के अनुसार जो बातें अनुचित हों, कानून द्वारा उनका निषेध किया जाता है।

कानून और नैतिकता में घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी इन दोनों में भेद है। कानूनों का पालन करने के लिए सरकार मनुष्यों को विवश करती है। उनका उल्लंघन करने वालों को वह दण्ड भी देती है। पर नैतिक नियमों का पालन करने के लिए हमें राज्य द्वारा विवश नहीं किया जाता। कानून और नैतिकता के भेद को हम इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं—

(१) अनेक बातें नैतिकता के विरुद्ध होती हैं, पर वे कानून के विरुद्ध नहीं होतीं। अनेक देशों में वेश्या वृत्ति कानून के विरुद्ध नहीं है, यद्यपि उसे नैतिक दृष्टि से अच्छा नहीं माना जाता। यही बात अनेक राज्यों में मद्यपान के विषय में कही जा सकती है।

(२) नैतिक नियमों का पालन मनुष्य आत्मा की प्रेरणा, उपदेश व लोकमत के कारण करते हैं, जबकि कानून के पीछे राजशक्ति होती है।

(३) कानून का सम्बन्ध केवल मनुष्य के बाह्य आचरण के साथ होता है। नैतिकता का क्षेत्र इससे बहुत अधिक व्यापक है। मनुष्य किसी के बारे में बुरा न सोचे, किसी से ईर्ष्या न करे, मन और वचन द्वारा भी कोई बुरी बात न करे, ये सब बातें

नैतिकता के साथ सम्बन्ध रखती है। पर कानून के साथ इसका कोई सम्बन्ध नही।

(४) कानून राज्य के सब नागरिको व देशवासियो के लिए एक समान होते हैं। पर नैतिकता के विचार सबके एक सदृश नही होते। बहुत से मनुष्य पशु-हिंसा को सर्वथा उचित समझते हैं, जबकि ऐसे लोग भी हैं, जो कीट-पतग तक को मारना भी पाप मानते हैं।

(५) कानून की कतिपय बातें ऐसी भी हैं, जिनका नैतिकता से कोई सम्बन्ध नही होता। कानून के अनुसार मोटर आदि सवारियो को सडक के बाईं तरफ ले जाना चाहिए। इस कानून का उल्लघन करने पर सरकार दण्ड भी देती है। इस कानून का नैतिकता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, इसका निर्माण केवल सुविधा को दृष्टि मे रखकर ही किया जाता है।

अच्छे और बुरे कानून—

कानूनो का निर्माण इसलिए किया जाता है, ताकि वे मनुष्यो के हित, कल्याण व उन्नति मे सहायक हो। वे स्वय उद्देश्य नही होते, अपितु उद्देश्य-पूर्ति के साधन-मात्र होते हैं। इस कारण हम उन कानूनो को अच्छा कह सकते हैं, जो मनुष्यो की भलाई व उन्नति मे सहायक हो। अच्छे कानूनो की परख निम्नलिखित होती है—

(१) जो कानून मनुष्यो के व्यक्तिगत व सामूहिक हितो के साधन मे सहायता प्रदान करें, जो उनकी नैतिक और सामाजिक उन्नति मे सहायक हों, वे उत्तम होते हैं।

(२) कानून ऐसे होने चाहिएं, जिनका पालन मनुष्य स्वेच्छापूर्वक करें। उनके विषय मे जनता यह अनुभव करे कि उनका निर्माण सबकी भलाई के लिए किया गया है। केवल दण्ड के भय से जिन कानूनो का पालन किया जाता है, उन्हे अच्छा नहीं माना जा सकता।

(३) कानून ऐसे नहीं होने चाहिएं, जोकि मनुष्यो के आधारभूत प्राकृतिक अधिकारो के विरुद्ध हो।

(४) कानूनो का निर्माण जनता की इच्छा के अनुसार किया जाना चाहिए। जिन कानूनो को कोई एक स्वेच्छाचारी राजा या कोई एक वर्ग बनाता है, वे जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व नही कर पाते। इसीलिए उन्हे अच्छा कानून नही माना जा सकता।

कानून और व्यक्ति—

क्योकि कानून जनता मे प्रचलित विचारो, अभ्यासो और प्रथाओ पर निर्भर होते हैं, और व्यवस्थापन विभाग भी ऐसे ही कानून बनाता है, जोकि जनता की

इच्छा के अनुरूप हो, अत कानून व्यक्तियो के विरोधी नहीं होते। वे उनके विचारो और इच्छाओ के मूर्तरूप होते हैं। उनके हित, लाभ, कल्याण व उन्नति को दृष्टि मे रखकर ही उन्हे बनाया जाता है, और उनका प्रयोजन व्यक्तिगत व सामाजिक लाभ ही होता है। इसी कारण लोग उनका स्वेच्छापूर्वक पालन करते हैं। कोई मनुष्य यदि हिन्दू है, तो वह हिन्दू कानून को अपने ऊपर जबर्दस्ती लादा हुआ न मानकर उसे अपने लिए लाभदायक ही समझता है। चोरी, डकैती, हत्या, मानहानि आदि के बारे मे जो कानून सरकार बनाती है, उनसे भी व्यक्तियो को लाभ पहुँचता है। कानून राज्य की इच्छा को प्रकट करते हैं (Law is the expression of the will of state), इस बात मे सचाई है, पर राज्य की यह इच्छा लोकमत पर आश्रित होती है। इसी कारण यह भी कहा गया है, कि कानून लोकमत को अभिव्यक्ति करते हैं (Law is the expression of public opinion)। इन दोनो कथनो मे कोई विरोध नही है।

कानून का पालन और दण्ड—

सब लोग राज्य के कानूनो का पालन करने के लिए विवश हो, इसलिए सरकार उन लोगो को दण्ड देती है, जो कानूनो का उल्लघन करें। इसी कारण कुछ लोग यहाँ तक कहने मे भी सकोच नही करते, कि कानून केवल इसलिए बनाये जाते हैं, ताकि दण्ड दिया जा सके। पर दण्ड का प्रयोजन यही है, कि जनता के लाभ के लिए जो कानून बनाये गए हैं, लोग उनकी उपेक्षा व उल्लघन न करें। दण्ड के प्रयोजन निम्नलिखित हैं—

(१) दण्ड द्वारा अपराधी को यह चेतावनी दी जाती है, कि वह भविष्य मे फिर दुबारा अपराध न करे। दण्ड का प्रयोजन मनुष्यो को कानून पालन करने की शिक्षा देना है।

(२) दण्ड द्वारा केवल अपराधी को ही चेतावनी व शिक्षा नही मिलती। अपराधी को जब जेल भुगतनी पडती है या कोई अन्य दण्ड भोगना पडता है, तो निरपराध लोग भी उसस शिक्षा ग्रहण करते हैं, और स्वय अपराध करने से बचते है।

(३) दण्ड द्वारा अपराधी को सुधार का अवसर मिलता है।

(४) दण्ड मे प्रतिशोध की भावना भी काम कर रही होती है। इसी कारण प्राय जुरमाने का दण्ड दिया जाता है, और हत्या आदि के अपराध मे प्राणदण्ड की भी व्यवस्था की जाती है। क्योकि दण्ड मे प्रतिशोध का तत्व भी होता है, अत दण्ड ऐसा होना चाहिए जो अपराध के अनुरूप हो।

दण्ड-विषयक सिद्धान्त—

दण्ड के सम्बन्ध में तीन सिद्धान्त बहुत महत्त्व के हैं—

प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त (Retributive Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड का उद्देश्य प्रतिशोध करना है। 'जो जैसा करता है, वह वैसा भरता है', और 'प्रत्येक मनुष्य को उसके कर्म के अनुरूप फल मिलना चाहिए' ये इस सिद्धात के मूल-भूत विचार हैं। यदि मनुष्य के किसी कार्य से दूसरे को नुकसान पहुँचे, तो उसे उसका बदला (प्रतिशोध) लेने का अधिकार है। मनुष्य की न्यायभावना तब तक सन्तुष्ट नहीं होती, जब तक कि वह बदला न ले ले। प्राचीन समय में दण्ड के इसी सिद्धान्त को प्रयोग में लाया जाता था। 'आँख के बदले में आँख और कान के बदले में कान' उस समय सबको स्वीकार्य था। अब भी अनेक लोग दण्ड के विषय में इसी सिद्धान्त को सही मानते हैं। पर आधुनिक विचारक इसे स्वीकार नहीं करते। वे इसे बर्बरता का सूचक समझते हैं।

भयात्मक सिद्धान्त (Deterrent Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड इसलिए दिया जाता है, ताकि अपराधी व अन्य लोगों के हृदय में भय उत्पन्न किया जा सके। लोग कत्ल करने से इसलिए रुक सकते हैं, क्योंकि कातिल को प्राणदण्ड दिया जाता है। डाका डालने से लम्बी कैद की सजा मिलती है, चोर-बाजारी करने से भी जेल की सजा होती है, इस भय से सर्वसाधारण लोग अपराध करने से रुकते हैं। अतः इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड इतना सख्त व भयावह होना चाहिए, ताकि लोग अपराध न करें।

सुधारात्मक सिद्धान्त (Reformatory Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड का प्रयोजन अपराधियों का सुधार करना होना चाहिए। लोग या तो परिस्थितियों से विवश होकर अपराध करते हैं, और या कुशिक्षा व कुसंस्कारों के कारण। यदि अपराधियों को अच्छे वातावरण में रखकर उनको अच्छी शिक्षा दी जाए, तो उनका सुधार कर सकना सम्भव है। जिस प्रकार कोई चिकित्सक रोगी का इलाज करने का प्रयत्न करता है, वैसे ही अपराधियों को भी ऐसी शिक्षा देनी चाहिए, ताकि वे भविष्य में अपराध न करें और उत्तम नागरिकों का जीवन व्यतीत करने योग्य हो जाएँ। इसलिए अपराधियों को कष्टमय जीवन बिताने के लिए विवश न करके जेल-खानों को सुधारगृह (Reformatory) का रूप देना चाहिए।

आजकल के विचारक दण्ड के सम्बन्ध में सुधारात्मक सिद्धान्त को ही स्वीकार करते हैं। इसी कारण बहुत से लोग मृत्युदण्ड (Capital punishment) के भी विरोधी हैं, क्योंकि मृत्युदण्ड से मनुष्य का सुधार नहीं होता, उससे केवल प्रतिशोध की भावना ही प्रकट होती है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ कानून का लक्षण कीजिए। उसके प्रमुख स्रोत कौन-कौन से हैं ? (यू० पी०, १९४२, राजपूताना, १९५२)

२ कानून का क्या उद्देश्य है ? क्या आप एक ऐसे राज्य का चित्र खींच सकते हैं, जिसमे कोई कानून न हो ? (यू० पी०, १९४५)

३ कानून के कौन-कौन से स्रोत है ? अच्छे कानून मे कौन से गुण होते हैं ? (राजपूताना, १९४३)

४ कानून से आप क्या समझते हैं ? कानून और स्वतन्त्रता मे क्या सम्बन्ध है ? (यू० पी०, १९५४)

५ कानून के विविध प्रकारो का उल्लेख कर उनका वर्गीकरण कीजिए।

६ कानून और नैतिकता मे क्या सम्बन्ध है ? उनके भेद पर भी प्रकाश डालिये।

७ नागरिक को राज्य की आज्ञाओं का पालन क्यो करना चाहिए ? क्या किसी दशा में राज्य की किसी आज्ञा का पालन न करना भी न्यायसगत हो सकता है ? (यू० पी०, १९५२)

८ दण्ड के क्या उद्देश्य हैं ? दण्ड किन प्रयोजनों से दिया जाता है ? (यू० पी० १९४७)

नवाँ अध्याय

स्वतन्त्रता

क्या राज्य और स्वतन्त्रता परस्पर विरोधी हैं ?

राज्य की एक विशेषता है, प्रभुता। राज्य मे जो भी मनुष्य रहते हैं, उन सब को उसके आदेशो व कानूनो को मानना पडता है। राज्य उन्हे जो चाहे आदेश दे सकता है, उनके कार्यों व आचरण के सम्बन्ध मे जो चाहे कानून बना सकता है। यदि कोई मनुष्य राज्य के आदेश को मानने से इन्कार करे या उसके कानून का पालन न करे, तो उसे दण्ड दिया जाता है। सब मनुष्यो को राज्य का वशवर्ती होकर रहना पडता है। इस दशा मे यह प्रश्न उत्पन्न होता है, कि राज्य मे रहता हुआ मनुष्य स्वतन्त्र कैसे हो सकता है ? स्वतन्त्रता का मतलब यही है कि मनुष्य जो चाहे कर सके, उसके कार्यों को नियन्त्रित करने वाला कोई दूसरा न हो। पर यदि राज्य प्रभुत्व-शक्ति सम्पन्न है, तो मनुष्य स्वतन्त्र कैसे रह सकता है ? यदि मनुष्य स्वतन्त्र है, तो राज्य 'प्रभु' कैसे हो सकता है ?

स्वतन्त्रता और उच्छृङ्खलता—पर यह प्रश्न स्वतन्त्रता के अभिप्राय को ठीक प्रकार से न समझने के कारण ही उत्पन्न होता है। मनुष्य जो कुछ चाहे कर सके, इसे स्वतन्त्रता नही कहते। इसे तो उच्छृङ्खलता कहना ही अधिक ठीक होगा। मनुष्य के जिन कार्यों से दूसरे मनुष्यो को हानि न पहुँचे, उन्हें करने की स्वतन्त्रता ही उसे दी जा सकती है। सब कोई इस बात को स्वीकार करेंगे, कि प्रत्येक मनुष्य को यह स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए कि वह सरपट चाल से घुडसवारी कर सके। यदि कोई मनुष्य जगल मे या निर्जन पथ पर घोडे को तेजी से भगाता है, तो उसके इस कार्य से किसी को नुकसान पहुँचने की सम्भावना नही होगी। पर यदि वही मनुष्य किसी गाँव या नगर मे तेजी से घोडा भगाने लगे, तो वह दूसरो को नुकसान पहुँचा सकता है। छोटे बच्चे घोडे के नीचे आकर चोट खा सकते हैं, या लोगो के आने-जाने मे असुविधा हो सकती है। अत. सबके हित को दृष्टि मे रखकर यह नियम बनाना पडता है, कि सार्वजनिक मार्गों पर कोई मनुष्य तेजी के साथ घोडा, मोटर या अन्य सवारी न दौडा सके। इस प्रकार के कानून से मनुष्यो की स्वतन्त्रता मर्यादित अवश्य होती है, पर ऐसा होना सबके लिए हितकारी होता है।

इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य को यह स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वह अपनी

वस्तुओ को जहाँ चाहे रखे, जहाँ चाहे फक सके। किसी के मकान के सामने खाली जगह पड़ी है। वह अपने कूडे को उस जमीन पर फेंक सकता है। पर यदि यह मकान किसी बस्ती मे है, और उसके पडोस मे अन्य मकान भी हैं, तो यह मुमकिन है कि कूडे के ढेर से पडोसियो को असुविधा हो। इस ढेर से जो दुर्गंध उठे, उनसे अन्य लोगो को कष्ट पहुँचे। अत सार्वजनिक हित के लिए यह कानून बनाना उपयोगी होगा कि कोई मनुष्य अपनी गन्दगी को जहाँ चाहे वहाँ न फेक सके। मनुष्यो की स्वतन्त्रता को इसी दृष्टि से मर्यादित किया जाता है, ताकि वे कोई ऐसे कार्य न कर सके, जिनसे दूसरो को नुकसान पहुँचे।

वस्तुत, स्वतन्त्रता और उच्छृङ्खलता मे बहुत भेद है। जो चाहे कर सकने को उच्छृङ्खलता कहते है, स्वतन्त्रता नही। यदि यह मान लिया जाय कि मनुष्य जो चाहे कर सकता है, जो ऐसा होने से मनुष्यो का सामुदायिक जीवन कायम ही नही रह सकेगा। सब मनुष्यो की शक्ति और योग्यता एक समान नही होती। कुछ लोग बलवान् होते हैं, कुछ निर्बल। यदि बलवानो को अपनी मनमानी करने की स्वतन्त्रता हो, तो निर्बल लोगो का जीवन ही कठिन हो जायगा। जैसे बडी मछली छोटी मछली को खा जाती है, वैसे ही बलवान् लोग निर्बल लोगो को नष्ट करने मे व अपने स्वार्थ के लिए उनका उपयोग करने मे अपनी शक्ति का प्रयोग करने लगेगे। शक्तिशाली लोग अपनी शक्ति को सबके हित मे ही लगाएँगे, इसका क्या भरोसा हो सकता है ?

राज्य और स्वतन्त्रता—यदि सबको मनमाने कार्य करने की स्वतन्त्रता दे दी जाए, तो जो लोग सबसे अधिक शक्तिशाली होगे, केवल वे ही अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकेंगे। राज्य के कारण मनुष्यो के लिए उच्छृङ्खल हो सकना सम्भव नहीं रह जाता, क्योकि राज्य मनुष्यो की स्वतन्त्रता को मर्यादित करता है, और उन्हें उच्छृङ्खल होने से रोकता है। राज्य के कारण सब मनुष्य उन सब कार्यों को करने मे पूर्णतया स्वतन्त्र होते ह, जिनका सम्बन्ध केवल उनके अपने साथ हो, जिनसे दूसरे लोगो को कोई हानि न पहुँचे। पर मनुष्यो ने जिन कार्यों का प्रभाव दूसरो पर भी पडे, उन्हे राज्य द्वारा इस ढग से नियन्त्रित कर दिया जाता है, ताकि उनमे दूसरो को नुकसान न पहुँच सके।

इसलिए राज्य और स्वतन्त्रता परस्पर विरोधी नही होते। वस्तुत, राज्य द्वारा ही मनुष्यो को स्वतन्त्रतापूर्वक अपना विकास करने का अवसर प्राप्त होता है। राज्य के अभाव मे स्वतन्त्रता कायम रह ही नही सकती। राज्य द्वारा ही वे परिस्थितियाँ उत्पन्न की जाती है, जिनके कारण सब मनुष्य स्वतन्त्रतापूर्वक जीवन बिता सकते हैं, और अपनी उन्नति मे तत्पर हो सकते हैं।

स्वतन्त्रता का लक्षण—ऊपर जो विचार किया गया है, उसमे स्वतन्त्रता का

अभिप्राय भली भाँति स्पष्ट हो जाता है। स्वतन्त्रता के अभिप्राय को समझने के लिए हमें निम्नलिखित बातों को दृष्टि में रखना चाहिए—

(१) मनुष्यों के मार्ग में किसी भी प्रकार के प्रतिबन्ध के न होने को स्वतन्त्रता नहीं कहा जाता। किसी भी मर्यादा, प्रतिबन्ध व नियन्त्रण के अभाव में जो दशा होगी, उसे स्वतन्त्रता न कहकर उच्छृङ्खलता कहना अधिक उपयुक्त होगा।

(२) स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक है कि ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न की जाएँ, जिनमें सब मनुष्य अपनी शक्ति, योग्यता व गुणों का भली भाँति विकास कर सकें।

(३) राज्य की प्रभुत्वशक्ति और स्वतन्त्रता में कोई विरोध नहीं होता। वस्तुतः, राज्य ही उन परिस्थितियों को उत्पन्न करता है, जिनके कारण मनुष्य स्वतन्त्रतापूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर सकते हैं, और अपनी शक्तियों का भली भाँति विकास कर सकते हैं।

विविध विद्वानों ने स्वतन्त्रता के लक्षण विविध प्रकार से किये हैं। लास्की के अनुसार "स्वतन्त्रता का अभिप्राय यह है कि उस वातावरण की उत्साहपूर्वक रक्षा की जाए, जिसमें कि मनुष्यों को अपना सर्वोत्तम रूप प्रकट करने का अवसर मिलता है।"[1]

मैकेक्नी के अनुसार "स्वतन्त्रता सब प्रकार के प्रतिबन्धों के अभाव को नहीं कहते, अपितु अयुक्तियुक्त प्रतिबन्धों के स्थान पर युक्तियुक्त प्रतिबन्धों की स्थापना को ही स्वतन्त्रता कहा जाता है।"[2]

स्वतन्त्रता के विविध प्रकार–

स्वतन्त्रता के अनेक प्रकार हैं। अब हम विविध प्रकार की स्वतन्त्रताओं पर सक्षेप में प्रकाश डालेंगे—

(१) नैसर्गिक स्वतन्त्रता (Natural Liberty)—प्रकृति ने मनुष्य को स्वतन्त्र उत्पन्न किया है। उसमें जो कुछ भी गुलामी या पराधीनता पाई जाती है, वह सब समाज का परिणाम है। इसी बात को दृष्टि में रखकर रूसो ने लिखा था—"मनुष्य स्वतन्त्र उत्पन्न होता है, पर सर्वत्र बन्धन में बँधा हुआ पाया जाता है।"[3] जगल म

1 "By liberty is meant the eager maintenance of that atmosphere in which men have the opportunity to be their best selves"
—Laski

2 "Fredom is not the absence of all restraints, but rather on substitution of rational ones for the irrational"
—Mc Kecknie

3 "Man is born free but he is everywhere in chains"
—Rousseau

रहने वाले पशु या आकाश मे उडने वाले पक्षी एक विशेष प्रकार की नैसर्गिक स्वतन्त्रता का उपभोग करते हैं। कभी मनुष्य भी इसी ढग से स्वतन्त्र था। तब आबादी कम थी, और मनुष्यो को अपनी आवश्यकता की सब वस्तुएँ सुगमता से प्राप्त हो जाया करती थीं। पर जब धीरे-धीरे वस्तुओ की कमी होने लगी, तो मनुष्यो मे उन्हे प्राप्त करने के लिए झगडे होने शुरू हो गये। इसी कारण राज्य की आवश्यकता हुई, ताकि लोगो के इन झगडो को निबटाया जा सके। राज्य द्वारा मनुष्यों की स्वतन्त्रता मर्यादित होती है, पर राज्य मे सगठित होकर मनुष्य ने अपनी स्वतन्त्रता का पूर्णरूप से परित्याग नही कर दिया है। अपने को सरकार के शासन व नियन्त्रण मे ले आने के बावजूद भी मनुष्य अपनी कुछ स्वतन्त्रताओ को कायम रखे हुए है जिन्ह वह किसी भी प्रकार राज्य से नियन्त्रित नही करवाना चाहता। राज्य के बावजूद मनुष्य के पास कुछ ऐसे अधिकार व स्वतन्त्रताएँ बच रहती हैं, जिन्हें नियन्त्रित करने की शक्ति राज्य के पास नही होती। जीवन की स्वतन्त्रता इसी ढग की है। प्रत्येक मनुष्य को इस बात की स्वतन्त्रता प्राप्त है, कि वह अपने जीवन को कायम रखे। केवल जीवित रहना ही नहीं, अपितु अपनी शक्ति व सुविधा के अनुसार सुखी जीवन बिताने की स्वतन्त्रता भी प्रत्येक मनुष्य को प्राप्त है। इसे ही 'नैसर्गिक स्वतन्त्रता' कहा जाता है। आजकल के लोकतन्त्र राज्यो के सविधानो मे नागरिको के आधारभूत अधिकारो का प्रतिपादन करते हुए इन्ही नैसर्गिक स्वतन्त्रताओ का उल्लेख किया जाता है, और सरकार को यह अधिकार नही दिया जाता कि वह उनको नियन्त्रित कर सके।

(२) **वैयक्तिक स्वतन्त्रता** (*Personal Liberty*)—मनुष्य के कार्यों को दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है, पहले वे जिनका सम्बन्ध केवल उसके अपने साथ हो, दूसरे वे जिनका सम्बन्ध अन्य लोगो के साथ भी हो। प्रथम प्रकार के कार्यों को व्यक्तिगत कहा जाता है। इनके बारे मे मनुष्य को पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। राज्य द्वारा इन पर कोई नियन्त्रण नही होना चाहिए। मनुष्य क्या भोजन करे, क्या कपडा पहने, किस ढग से ईश्वर की उपासना करे, किस रोजगार से अपनी आजीविका कमाये—ये सब बातें व्यक्तिगत हैं। इनकी स्वतन्त्रता को 'वैयक्तिक स्वतन्त्रता' कहते हैं।

(३) **राष्ट्रीय स्वतन्त्रता** (*National Liberty*)—जिस प्रकार प्रत्येक मनुष्य को स्वतन्त्र रहने का अधिकार है, वैसे ही प्रत्येक राष्ट्र को भी स्वतन्त्र रहने का अधिकार होना चाहिए। इसी को राष्ट्रीय स्वतन्त्रता कहा जाता है।

(४) **राजनीतिक स्वतन्त्रता** (*Political Liberty*)—राष्ट्रीय स्वतन्त्रता उस राज्य को भी प्राप्त हो सकती है, जिसमे किसी एक व्यक्ति या एक श्रेणी का शासन हो। पर ऐसे राज्यो मे लोगो को राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त नही होती। राजनीतिक

स्वतन्त्रता उन्हीं राज्यो के नागरिकों को प्राप्त होती है, जिनमे लोकतन्त्र शासन हो, जहां जनता को वोट का अधिकार प्रयोग मे लाने के कारण यह अवसर हो कि वह लोकमत के अनुसार सरकार का निर्माण कर सके।

(५) आर्थिक स्वतन्त्रता (Economic Liberty)—राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ मनुष्यों को आर्थिक स्वतन्त्रता भी प्राप्त होनी चाहिए। यदि धन सम्पत्ति कुछ थोडे से लोगो के हाथो मे हो, तो वे उसका उपयोग कर सर्व साधारण जनता का शोषण कर सकते हैं, और लोगो के वोटो को भी खरीद सकते हैं। इस कारण समाज का सगठन ऐसा होना चाहिए, जिसमे सब लोगो को अपनी योग्यता के अनुसार कार्य प्राप्त करने का अवसर मिले और कोई किसी का शोषण न कर सके। आर्थिक दृष्टि से बहुसख्यक लोगो का कतिपय धनिको का गुलाम बने रहना कभी वान्छनीय नहीं होता।

(६) नागरिक स्वतन्त्रता (Civil Liberty)—राज्यो के सविधान मे अनेक प्रकार की नागरिक स्वतन्त्रताओं का प्रतिपादन किया जाता है। अपने विचारो को प्रकट करने व अपने विश्वासो के अनुसार धर्म का अनुसरण करने की स्वतन्त्रता इनमें मुख्य हैं। इन्ही व इसी प्रकार की स्वतन्त्रताओं को 'नागरिक स्वतन्त्रता' कहते है।

राज्य द्वारा स्वतन्त्रता की रक्षा—

हम ऊपर लिख चुके हैं, कि वस्तुत मनुष्य की स्वतन्त्रता की स्थापना व रक्षा राज्य द्वारा ही होती है। राज्य दो प्रकार से मनुष्य की स्वतन्त्रता की रक्षा करता है—

(१) कतिपय स्वतन्त्रताओं को राजशक्ति से अबाध्य व अनुल्लघनीय बनाकर, और

(२) कतिपय स्वतन्त्रताओं को इस ढग से नियन्त्रित करके कि एक मनुष्य की स्वतन्त्रता दूसरो के लिए हानिकारक न हो सके।

यदि राज्य न हो, तो इन दोनो प्रकार की स्वतन्त्रताओं की सत्ता असम्भव होगी।

स्वतन्त्रता और कानून—

क्योंकि स्वतन्त्रता के लिए राज्य की सत्ता अनिवार्य है इसी कारण उसकी रक्षा के लिए कानूनों का होना भी बहुत आवश्यक है। कानून का अभिप्राय पिछले अध्याय मे स्पष्ट किया जा चुका है। राज्य जो कानून बनाता है, उनका एक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन यह भी होता है, कि उनसे मनुष्यो की स्वतन्त्रता की रक्षा हो सके। यदि कानून न हो, तो मनुष्यो के ऐसे कार्यों को रोक सकना कदापि सम्भव नहीं होगा,

जो दूसरो की स्वतन्त्रता व स्वतन्त्र विकास मे बाधक होते है। लीवॉक ने ठीक कहा है कि, 'स्वतन्त्रता द्वारा मनुष्यों को जो आत्मविकास का अवसर प्राप्त होता है, वह कानून की सत्ता के कारण ही है।" यदि कानून न हो, तो मनुष्यो को अपने विकास व उन्नति का अवसर ही प्राप्त न हो सके। व्यावसायिक क्रान्ति (Industrial Revolution) के कारण जब शुरू-शुरू मे बडे कारखाने खुलने प्रारम्भ हुए, तो उनमे मजदूरो के काम करन की परिस्थिति बहुत ही खराब हुआ करती थी। पूँजीपति लोग उन्हे कम से कम वेतन देते थे और उनसे अधिक से अधिक काम लेते थे। इस दशा मे मजदूरों के लिए अपना विकास कर सकना असम्भव था। पर फैक्टरी कानूनो के बनने के कारण मिल-मालिको की स्वतन्त्रता को इस ढग से मर्यादित किया गया, जिससे कि मजदूरो को अपने हितो की रक्षा करने व उन्नति करने का अवसर मिला। कानून मनुष्यों की उच्छृखलता का अपहरण करते है, और उन परिस्थितियो को उत्पन्न करते है, जिनसे मनुष्य आत्म विकास करने मे समर्थ हो सकें।

स्वतन्त्रता के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ—

मनुष्य सच्चे अर्थों मे स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकें, इसके लिए निम्नलिखित परिस्थितियां होनी चाहिए—

(१) राज्य मे कोई भी ऐसे व्यक्ति नही होने चाहियें, जिन्हें किसी भी प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त हो। शिक्षा प्राप्त करने, योग्य बनने और योग्यता के अनुसार कार्य प्राप्त करने का सबको एक समान अवसर मिलना चाहिए। जिन देशो मे आज भी छूत-अछूत की प्रथा मोजूद है, जहां कुछ जातियो को जन्म के कारण ही नीच व कुछ को ऊँचा समझा जाता है, वहाँ मनुष्य सच्चे अर्थों मे स्वतन्त्रता का उपभोग नही कर सकते क्योंकि नीच समझे जाने वाले लोग न तो योग्यता प्राप्त करने का अवसर पाते है और न योग्यता के अनुसार कार्य प्राप्त करने का।

(२) राज्य मे सब लोगो के अधिकार एक समान होने चाहियें। कानून की दृष्टि मे सबको एक बराबर होना चाहिए।

(३) राज्य ऐसे कानून बनाए, जिनके कारण कोई मनुष्य ऐसे कार्य न कर सके, जिनसे दूसरों को हानि पहुँचती हो या दूसरो की स्वतन्त्रता मे बाधा पडती हो। मनुष्यो की उच्छृखलता को नियन्त्रित करके ही सच्ची स्वतन्त्रता स्थापित की जा सकती है।

(४) कानून बनाने और व्यक्तियो के कार्यों को नियन्त्रित करने का जो अधिकार राज्य को प्राप्त है, वह उसका दुरुपयोग भी कर सकता है। अत जनता को अपने अधिकारो व स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए सतर्क व जागरूक भी होना चाहिए। लोकतन्त्र शासन मे ही जनता अपनी स्वतन्त्रता के लिए सचेष्ट हो सकती है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ 'कानून स्वतन्त्रता का आधार है', इस कथन की विवेचना कीजिए। (यू० पी० १९४०)

२ स्वतन्त्रता का लक्षण कीजिए और यह समझाइए कि किस प्रकार वह बन्धनों (प्रतिबन्धों) द्वारा ही रह सकती है। (यू० पी०, १९४१)

३ स्वतन्त्रता का लक्षण कीजिए और कानून से उसका सम्बन्ध बताइए। (यू० पी०, १९४६)

४ 'न्याय स्वतन्त्रता का सहचर है, इस कथन की व्याख्या कीजिए। राजनीतिक और नागरिक स्वतन्त्रताओं का विश्लेषण कीजिए। (यू० पी०, १९५०)

५ सरकार हमारी स्वतन्त्रता की किस प्रकार रक्षा करती है? यदि शासन-व्यवस्था न हो, तो क्या स्वतन्त्रता कायम रह सकती है? (यू० पी०, १९५१)

६ आप स्वतन्त्रता और समानता से क्या समझते हैं? व्याख्या कीजिए। (यू० पी०, १९४६)

७ क्या स्वतन्त्रता का अर्थ उच्छृखलता को कम करना है? (राजपूताना १९५१)

८ स्वतन्त्रता के विविध प्रकारों का निदर्शन कीजिए।
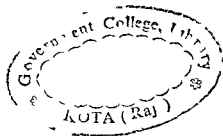
दसवाँ अध्याय

समानता

समानता का अभिप्राय—

व्यक्तिगत और सामाजिक उन्नति के लिए जिस प्रकार सब मनुष्यों को स्वतन्त्रता की आवश्यकता है, वैसे ही समानता (Equality) की भी है। पर समानता का अभिप्राय क्या है, इस विषय में अनेक भ्रम हैं। कुछ लोगों का मत है, कि सब मनुष्य एक दूसरे के समान होते हैं, अतः सबको एक बराबर वेतन मिलना चाहिए और लोगों में धन सम्पत्ति की जो भी विषमता है, उसको दूर कर सब को एक समान कर देना चाहिए।

पर सबका एक समान हो सकना सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रकृति ने सबको एक समान नहीं बनाया है। कुछ बच्चे जन्म से ही हृष्ट-पुष्ट और बलवान् होते हैं, और कुछ रोगी व निर्बल। कुछ लोगों में स्वभाव से प्रतिभा होती है, वे बहुत जल्दी बात को समझ लेते हैं, और शीघ्र शिक्षा प्राप्त कर लेते है। पर ऐसे लोग भी होते हैं, जो यत्न करके भी पढ लिख नहीं सकते। बुद्धि, बल व प्रतिभा की दृष्टि से सब लोग एक समान नहीं होते। इस दशा में यह सम्भव ही कैसे है, कि सब की आमदनी एक समान हो, और लोगों में गरीब व अमीर का जो भेद पाया जाता है, वह पूरी तरह से दूर हो जाए।

यह ठीक है कि सब लोग बल, बुद्धि व प्रतिभा में एक बराबर नहीं होते। पर आजकल मनुष्यों में जो विषमता दिखाई देती है, उसका कारण केवल बुद्धि, बल व प्रतिभा की भिन्नता ही नहीं है। हम देखते हैं कि गरीब घरों में भी अनेक बच्चे बहुत स्वस्थ व हृष्ट-पुष्ट पैदा होते हैं, पर उनके माता-पिता उन्हें दूध आदि पुष्टिकर भोजन नहीं दे सकते। परिणाम यह होता है, कि ये बच्चे अपने शरीर का विकास भली भाँति नहीं कर पाते। गरीब घरों के बहुत से बच्चे होनहार और प्रतिभाशाली होते हैं, पर पढने-लिखने का अवसर न मिलने के कारण वे अशिक्षित रह जाते हैं, और कहीं मजदूरी करने के लिए विवश होते हैं। इसके विपरीत धनी घरों के निर्बल बच्चे भी पुष्टिकर भोजन पाकर हृष्ट पुष्ट हो जाते हैं, और उनके बुद्धिहीन बालक भी शिक्षा की सुविधाएँ मिलने के कारण सुशिक्षित हो जाते हैं। शिक्षा की बात यदि छोड भी दें, तो भी हम देखते है कि सेठ साहूकारों के मूर्ख व बुद्धिहीन बालक भी

बड़े होकर अपार सम्पत्ति के मालिक हो जाते हैं, और यदि गरीब घरों के बालक किसी ढंग से पढ़-लिखकर योग्य भी हो जाएँ, तो भी वे साधारण वेतन की नौकरी की तलाश में भटकते फिरते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आजकल मनुष्यों में जो विषमता हमें नजर आती है, उसका कारण योग्यता, बुद्धि व बल की भिन्नता नहीं है। उसका कारण समाज की वे परिस्थितियाँ हैं, जो सब लोगों को जीवन-संघर्ष में आगे बढ़ने का समान अवसर प्रदान नहीं करने देतीं। इस दशा में आजकल जो विषमता विद्यमान है, उसे न्याय्य नहीं माना जा सकता।

यदि योग्यता, बल और प्रतिभा के अनुसार लोगों में विषमता हो, तो उससे किसी को एतराज नहीं हो सकता। पर सबको योग्यता प्राप्त करने का समान अवसर न मिलने के कारण जो विषमता है, वह वस्तुतः अनुचित है।

इन सब बातों को दृष्टि में रखकर हम समानता का यह अभिप्राय समझ सकते हैं, कि ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न की जाएँ, जिनके कारण सब मनुष्यों को अपने व्यक्तित्व के विकास का समान अवसर मिल सके। बचपन में सबको पुष्टिकर भोजन मिले, फिर सबको एक समान शिक्षा मिले और फिर सबको अपनी योग्यता के अनुसार कार्य मिले। समानता का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि सबकी आमदनी एक बराबर हो या पद आदि में सब एक समान हों। क्योंकि प्रकृति सबको एक जैसा नहीं बनाती, कोई अधिक बलवान् होता है, कोई निर्बल, कोई प्रतिभाशाली होता है, कोई मूर्ख, किसी की रुचि पाण्डित्य की ओर होती है, किसी की शिल्प में—इस कारण सबके व्यक्तित्व का विकास भी भिन्न भिन्न प्रकार से होगा। पर समान अवसर मिलने के कारण जब सब अपने अपने व्यक्तित्व का विकास कर लें, तो उन्हें अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार ही कार्य दिया जाना चाहिए। जो मनुष्य अधिक योग्य हो, उनकी आमदनी स्वाभाविक रूप से अधिक होगी। एक मनुष्य जो बड़ा वैज्ञानिक है, कुशल चिकित्सक है, योग्य इञ्जीनियर या प्रतिभाशाली विद्वान् है, उसकी आमदनी उन लोगों से अधिक होनी ही चाहिए, जो मामूली मजदूर या सिपाही का कार्य करते हैं। न सब लोग उच्च कोटि के वैज्ञानिक बन सकते हैं, और न उत्कृष्ट प्रकार के सेनापति व शासक ही। साहित्य, संगीत, कला आदि में भी सबकी प्रतिभा एक समान नहीं होती। पर मनुष्यों में आमदनी, पद, सम्मान आदि का जो भी भेद हो, उनका आधार उनकी योग्यता ही होनी चाहिए, और इस योग्यता को प्राप्त करने का भी सबको समान अवसर मिलना चाहिए।

समानता का लक्षण—वैयक्तिक शक्तियों का विकास करने और योग्यता के अनुरूप कार्य प्राप्त कर सकने का समान अवसर मिलने का नाम ही 'समानता' है। लास्की के शब्दों में "मनुष्य के पास जो कोई भी शक्तियाँ हों, उनका उपयोग कर सकने के लिए जहाँ तक भी हो सके, एक समान अवसर प्राप्त करने के यत्न को ही समानता

कहते हैं।"[1]

समानता के विविध प्रकार—

सब लोगो को आत्मविकास का समान रूप से अवसर मिले, इसके लिए सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन मे जिन समानताओ का होना आवश्यक है, वे निम्नलिखित हैं —

(१) सामाजिक समानता—किसी मनुष्य को जन्म व जाति के कारण नीचा नही समझना चाहिए, और समाज मे सबकी स्थिति एक-सदृश होनी चाहिए। इसी को 'सामाजिक समानता' कहते हैं। मध्यकाल मे ससार के प्राय सभी देशो मे कुछ लोग कुलीन माने जाते थे, और दूसरे साधारण व नीच। भारत मे अब तक भी यह दशा विद्यमान है। यहाँ अब तक भी करोडों नर-नारी अछूत समझे जाते हैं, और वे बहुत से गाँवो मे सार्वजनिक कुओ से पानी तक भी नही भर सकते। वे अनेक धन्धे भी अपनी इच्छा के अनुसार नही कर सकते, और अनेक स्कूलो मे उनके बच्चे शिक्षा तक भी नही प्राप्त कर सकते। यद्यपि भारत के नये सविधान मे अछूतपन को गैर-कानूनी ठहरा दिया गया है, और अब कानून की दृष्टि मे कोई अछूत नही है, पर क्रिया मे अभी छूत-अछूत और ऊँच-नीच का भेद मिटा नही है। इसके कारण अछूत समझी जानेवाली जातियो के लोग जीवन-सघर्ष मे आगे नही बढ पाते। प्रथम तो अछूत समझे जाने वाले लोगो के बच्चो को शिक्षा प्राप्त करने का समुचित अवसर ही नही मिल पाता, और यदि कोई अछूत बालक पढ लिख भी जाए, तो समाज की धारणाओ के कारण वह यथेष्ट उन्नति नही कर सकता।

जात-पांत के कारण भी सामाजिक समानता मे बाधा पडती है। हिन्दुओ मे पुरोहित का कार्य केवल वे ही कर सकते है, जो ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न हुए हो। अन्य जातियो का कोई मनुष्य चाहे शास्त्रो का कितना ही विद्वान् क्यो न हो, पर वह पुरोहित नही बन सकता। अब से कुछ वर्ष पहले तक भारत की सेना मे केवल उन जातियों के युवक ही भरती किए जाते थे, जिन्हें सैनिक जातियो (Martial Tribes) का समझा जाता था। ये सब बातें सामाजिक समानता के सिद्धान्त के विरुद्ध हैं।

(२) राजनीतिक समानता—राजनीतिक समानता के लिए आवश्यक है कि राज्य के सब लोगो को एक समान राजनीतिक अधिकार प्राप्त हो। वोट का अधिकार सबसे महत्त्वपूर्ण राजनीतिक अधिकार है, जो प्रत्येक बालिग मनुष्य (स्त्री और पुरुष) को प्राप्त होना चाहिए। अब से कुछ समय पूर्व तक वोट के अधिकार को लिंग, धर्म, आमदनी आदि के आधार पर नियन्त्रित किया जाता था। स्त्रियो को वोट का अधिकार

---

1 "Equality is an attempt to give as similar a chance as possible to utilize what power he may possess" —Laski

मिले अभी अधिक समय नही हुआ है। कई देशो मे वोट के अधिकार के लिए सपत्ति की शर्त भी जरूरी समझी जाती थी। राजधर्म से भिन्न धर्म के अनुयायियो को भी वोट का अधिकार नही दिया जाता था। लिंग, धर्म व सम्पत्ति आदि के आधार पर कुछ लोगो को वोट का अधिकार न देने के कारण जनता मे राजनीतिक विषमता रहती है, और सब लोग राजनीतिक दृष्टि से समान नही हो पाते। इसीलिए आजकल लोकतन्त्र राज्यो मे वयस्क मताधिकार (Adult Franchise) को अपनाया जाता है।

वोट के अधिकार के साथ-साथ सरकारी पदों को समान रूप से प्राप्त कर सकने का अधिकार भी राजनीतिक समानता के लिए आवश्यक है। किसी व्यक्ति को केवल उसके लिंग, जाति व धम के कारण सरकारी पद को प्राप्त करने से नही रोकना चाहिए।

(३) नागरिक समानता—राज्य द्वारा मनुष्यो को अनेक प्रकार के अधिकार प्राप्त होते हैं। जीवन का अधिकार, व्यक्तिगत सुरक्षा (Personal Security) का अधिकार, विचार भाषण व लेख की स्वतन्त्रता, समुदाय बनाने का अधिकार, धार्मिक स्वतन्त्रता और स्वेच्छापूर्वक कार्य कर सकने का अधिकार इनमें मुख्य हैं। ये सब अधिकार राज्य के सब नागरिकों को समान रूप से प्राप्त होने चाहिएँ।

(४) आर्थिक समानता—सामाजिक, राजनीतिक व नागरिक समानता के मुकाबिले मे आर्थिक समानता का अधिक महत्त्व है। आर्थिक समानता का यह अभिप्राय नही कि सब मनुष्यो की आमदनी एक समान हो, और किसी के पास दूसरे की अपेक्षा अधिक सम्पत्ति न हो। आर्थिक समानता का असली अभिप्राय यह है, कि आमदनी के भेद का आधार मनुष्यो की योग्यता, परिश्रम और कार्यक्षमता के अतिरिक्त अन्य कुछ नही होना चाहिए, और किन्ही मनुष्यो के पास इतनी सम्पत्ति सचित नही होनी चाहिए कि वे दूसरो का शोषण कर सकें। यदि सबको योग्यता प्राप्त करने और अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करने का समान रूप से अवसर मिले, तो आजकल जो आर्थिक विषमता दिखाई देती है, उसका स्वयमेव अन्त हो जायगा।

सबको योग्यता प्राप्त करने का समान अवसर देने के लिए इतना ही पर्याप्त नही है, कि शिक्षा नि शुल्क हो। बहुत-से गरीब माता-पिता की बच्चो के पालन-पोषण के लायक भी आमदनी नही होती। वे लाचार होकर अपने छोटे-छोटे बालक-बालिकाओ से मजदूरी व नौकरी कराते है। अत यदि राज्य की ओर से मुफ्त शिक्षा के साथ-साथ गरीब बच्चो के पालन-पोषण का भी इन्तजाम किया जाए, तभी सबको योग्यता प्राप्त करने का समान अवसर मिल सकेगा। इस दशा मे कितने ही गरीब बालक भी बडे विद्वान् व वैज्ञानिक बन सकेंगे और अपनी योग्यता के अनुसार आमदनी भी प्राप्त कर सकेंगे। योग्यता प्राप्त करने के समान अवसर के साथ-साथ राज्य को यह प्रबन्ध भी करना चाहिए, कि सब लोग अपनी योग्यता के अनुसार कार्य

पा सकें। ये सब प्रबन्ध हो जाने के बाद लोगों की आमदनी मे जो विषमता रहेगी, वह अनुचित नही होगी।

आर्थिक समानता के मार्ग मे सबसे बडी बाधा यह है कि कुछ सम्पत्तिशाली लोग अपनी सम्पत्ति का उपयोग इस ढग से करते है, जिससे अन्य लोगो का शोषण हो। कोई मनुष्य अपने धन से जमीन खरीद लेता है, और उसे मनमाने लगान पर किसानो को खेती के लिए देता है। कोई शहर मे इमारतें खरीदकर मनमाना किराया वसूल करता है। कोई कारखाना खोलकर मजदूरो के श्रम से माल तैयार कराता है, और उससे मुनाफा कमाता है। कोई रुपये के जोर पर बाजार से बहुत सा माल खरीद लेता है, और उसे अनुचित कीमत पर बेचकर रुपया कमाता है। इस प्रकार धनी लोग अधिक धनी बनते जाते हैं, और वे गरीबो का शोषण करने मे समर्थ होते हैं। राज्य का यह भी कर्तव्य है कि वह ऐसे उपाय करे, जिनमे प्रथम तो किसी के पास अधिक सम्पत्ति सचित ही न होने पाए, और जो सम्पत्ति हो भी, उसका उपयोग कोई मनुष्य दूसरो के शोषण के लिए न कर सके। आर्थिक समानता के लिए यह बहुत आवश्यक है।

आर्थिक समानता के अभाव मे राजनीतिक, सामाजिक व नागरिक समानता का विशेष लाभ नही है। धनी लोग रुपये के जोर पर गरीबो के वोट खरीद सकते हैं, और जमीदार व पूंजीपति अपनी रैयत व मजदूरो को अपने उम्मीदवार के पक्ष मे वोट देने के लिए विवश कर सकते है। गरीब आदमी चाहे किसी उच्च कुल मे उत्पन्न हुआ हो, गरीबी के कारण वह किसी धनी के घर मे नौकरी करने या मजदूरी करने के लिए विवश होता है। उच्च कुल मे उत्पन्न होने पर भी गरीब आदमी का कुछ नहीं बन पाता। मनुष्यो को जो नागरिक अधिकार प्राप्त होने हैं, गरीबी के कारण वह उनसे विशेष लाभ नही उठा सकता। इसीलिए अनेक विचारक यह भी मानते हैं, कि आर्थिक विषमता के रहते हुए लोकतन्त्र शासन ढकोसलामात्र ही होता है। जनता उनसे कोई लाभ नहीं उठा सकती।

(५) सांस्कृतिक समानता—अनेक राज्य ऐसे होते हैं जिनमे अनेक जातियो व धर्मों के लोग निवास करते हैं। इन सबकी अपनी अलग-अलग सस्कृति होती है। भारत एक ऐसा ही देश है। यहाँ हिन्दू, मुसलमान ईसाई, सिक्ख, पारसी आदि कितने ही धर्मों को मानने वाले लोगो का निवास है। आर्य, द्रविड आदि कितनी ही जातियाँ यहां हैं। इस देश मे बहुत सी उन्नत भाषाएँ बोली जाती हैं, जिनका साहित्य अलग-अलग है। इन सब के कारण भारतवासियो मे सस्कृति का जो भेद है, उसको कायम रखना और सब सस्कृतियो को विकास का अवसर प्रदान करना सांस्कृतिक समानता के लिए आवश्यक है।

समानता और स्वतन्त्रता

अनेक विद्वानो का मत है कि समानता और स्वतन्त्रता मे परस्पर विरोध है। इसका कारण वे यह बताते हैं, कि यदि सबको आत्मविकास व उन्नति की स्वतन्त्रता हो, तो उनमे समानता कभी रह ही नही सकती। दो मनुष्यो को व्यापार के लिए एक एक हजार रुपया दे दिया जाता है। मुमकिन है कि उनमे से एक अपनी सूझ व परिश्रम से एक हजार रुपये को बढाकर पाँच हजार बना ले और दूसरा उसका सर्वनाश कर दे। समानता तभी सम्भव हो सकती है, जब कि सरकार लोगो की स्वतन्त्रता का अपहरण कर सबको कृत्रिम रूप से एक समान करने का यत्न करे। आजकल की सरकार विषमता को दूर करने के लिए जो प्रयत्न करती हैं, उनके कारण उद्यमी लोगो की स्वतन्त्रता का अपहरण ही होता है।

पर यह विचार स्वतन्त्रता और समानता के सही अभिप्राय को न समझने का ही परिणाम है। जब लोगो को योग्यता प्राप्त करने और जीवनसघर्ष मे आगे बढने का समान रूप से अवसर मिलता है, तभी सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग किया जा सकता है। जब कुछ लोग ऊँचे माने जाते हो और कुछ नीच व अछूत, जब कुछ लोग जमीन पूँजी आदि के मालिक हो और दूसरे इनसे सर्वथा शून्य, तो इसका परिणाम यह होता है कि अछूत व भूमि सम्पत्ति आदि से शून्य लोगो को आत्मविकास की स्वतन्त्रता नही मिलती। इसमे सन्देह नही कि असली स्वतन्त्रता के लिए समानता का होना आवश्यक है। लास्की ने ठीक लिखा है कि आर्थिक विषमता स्वतन्त्रता के लिए घातक होती है। एक उदाहरण लीजिए। कारखाने मे काम करनेवाले मजदूरो को मिल-मालिक के व्यवहार से अनेक शिकायतें हैं। वे उन शिकायतो को रफा करने का प्रयत्न करते हैं। निराश होकर अन्त में वे हडताल करने का निश्चय करते हैं। पर मिल-मालिक अत्यन्त धनी है। यदि दो मास तक कारखाना बन्द रहे, तो उसे नुकसान अवश्य पहुँचता है। पर धनी होने के कारण वह नुकसान को सह सकता है। पर हडताल के कारण मजदूर बेकार हो जाते हैं, उन्हे मजदूरी मिलनी बन्द हो जाती है। उनके लिए अपना व अपने बच्चो का पेट पाल सकना कठिन हो जाता है, और उन्हें मिल-मालिक के सम्मुख फिर सिर झुका देने के लिए मजबूर हो जाना पडता है। यह सत्य है कि मजदूरो को इस बात की स्वतन्त्रता है कि वे चाहे तो काम करें, न चाहें तो न करें। वे उस स्वतन्त्रता का प्रयोग करते हैं, पर पूँजीपति के सम्मुख वे परास्त हो जाते हैं। जिन मजदूरो के पास कोई भी पूँजी नही, जिनको पेट भरने के लिए दैनिक मजदूरी पर निर्भर रहना पडता है, उनके लिए स्वतन्त्रता का क्या अर्थ है? स्वतन्त्रता के लिए समानता की भी आवश्यकता है। आर्थिक दृष्टि से समान लोग ही स्वतन्त्रता के साथ एक-दूसरे के प्रति बरत सकते हैं।

स्वतन्त्रता और समानता परस्पर विरोधी नही हैं, अपितु एक दूसरे के पूरक

हैं। यदि सब स्वतन्त्र हो, तो वे एक समान होने की प्रवृत्ति रखते हैं, और यदि सब समान हो, तभी वे स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकते है। हाँ, यदि स्वतन्त्रता का यह अभिप्राय समझा जाए कि मनुष्य जो चाहे सो कर सके, तो इस स्वतन्त्रता का समानता से अवश्य विरोध होगा। पर मनमानी कर सकने को उच्छृङ्खलता कहते हैं, स्वतन्त्रता नही।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. समानता के विविध प्रकारो का उल्लेख कीजिए। 'समानता स्वतन्त्रता की विरोधी नहीं, अपितु पूरक है', क्या आप इस कथन से सहमत हैं? (यू० पी०, १९४४)

२. आप स्वतन्त्रता और समानता से क्या समझते हैं, व्याख्या कीजिए। (यू० पी० १९४६)

३ समानता के अभिप्राय को स्पष्ट कीजिए। सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रो मे समानता की व्याख्या कीजिए। (यू० पी०, १९५२)

४ समानता का सही अर्थ क्या है? समाज में समानता किस प्रकार स्थापित की जाती है? (राजपूताना, १९४३)

५ आप समानता का क्या अर्थ समझते हैं? क्या समानता स्वतन्त्रता के साथ रह सकती है? (राजपूताना, १९४८)

६. लोकतन्त्र शासन का मूल सिद्धान्त है कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवन में उन्नति करने का समान अधिकार होना चाहिए—इस कथन को स्पष्ट कीजिए। (यू० पी०, १९४३)

ग्यारहवां अध्याय

अधिकार और कर्तव्य

अधिकार का अभिप्राय—

नागरिकशास्त्र में अधिकारों का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। राज्य में जिन निवासियों को कतिपय अधिकार प्राप्त होते हैं, उन्हीं को नागरिक कहा जाता है। समाज में रहते हुए मनुष्य के जहां एक दूसरों के प्रति अनेक कर्तव्य होते हैं वहां साथ ही उसके कतिपय अधिकार भी होते हैं। अधिकार कौन-कौन से हैं, यह जानने से पूर्व यह समझ लेना जरूरी है कि अधिकार कहते किसे हैं।

जब मनुष्य जन्म लेता है, तो वह कुछ शक्तियों को साथ लेकर संसार में आता है। नवजात शिशु में भी कुछ शक्तियां होती हैं। वह दूध को हजम कर सकता है, आंखों से देख सकता है, कानों से सुन सकता है। उसमें कुछ शक्तियां अविकसित दशा में भी होती हैं। वह अपने पैर हिला सकता है, पर पैरों से चल नहीं सकता। वह रो सकता है, पर अपने भावों को शब्दों द्वारा प्रगट नहीं कर सकता। वह वस्तुओं को देखता है, पर उनके सम्बन्ध में कुछ विचार नहीं कर सकता। जिस शक्ति द्वारा वह बड़ा होकर गणित के कठिन प्रश्नों को हल करता है, दार्शनिक सिद्धान्तों का मनन करता है, विज्ञान का आविष्कार करता है वह नवजात शिशु में भी होती है, पर अविकसित दशा में। मनुष्य इस शक्ति को साथ लेकर जन्म लेता है, पर वह इस बात की अपेक्षा रखता है कि उसे इस शक्ति को भली भांति विकसित करने का अवसर मिले। इस शक्ति को विकसित करने के लिए बच्चे को जीवन की कुछ खास परिस्थितियां प्राप्त होनी चाहिएं। यदि उसे पुष्टिकर भोजन न मिले, खेलकूद द्वारा अपने शरीर की उन्नति का अवसर उसे न प्राप्त हो, उसे शिक्षा न दी जाए, तो वह अपनी शक्तियों का भली भांति विकास नहीं कर सकेगा। ये सब परिस्थितियां शिशु को समाज द्वारा ही प्राप्त होती हैं। समाज ही उन परिस्थितियों को उत्पन्न करता है, जिनके कारण एक बलहीन बालक सुरक्षित रूप से जीवन व्यतीत करता हुआ धीरे-धीरे अपना विकास करता है, और बाद में एक बलवान् योग्य व सुशिक्षित मनुष्य बन जाता है। समाज की ये परिस्थितियां जो मनुष्य के विकास के लिए आवश्यक हैं, प्रत्येक बालक को अवश्य ही उपलब्ध होनी चाहिए, और इन्हें प्राप्त करना प्रत्येक बालक का अधिकार है।

इन अधिकारो को हम आदर्श रूप मे अपने सम्मुख रख सकते है। यह जरूरी नही कि ये सब अधिकार समाज द्वारा स्वीकृत किए हुए हो। हमने अभी लिखा है कि बच्चे के शारीरिक विकास के लिए उसे पुष्टिकर भोजन अवश्य मिलना चाहिए। यह एक ऐसी सुविधा है, जिसके बिना बच्चे का विकास सम्भव नही है। पर अभी तक बहुत कम देश ऐसे हैं, जहाँ राज्य ने इस अधिकार को स्वीकार किया है। पर विचारक लोग जनता के सम्मुख इस बात की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हैं, और लोकमत को इसके पक्ष मे करने का प्रयत्न करते है। इसी कारण वे कहते हैं, कि पुष्टिकर भोजन प्राप्त करना प्रत्येक बालक व मनुष्य का 'नैसर्गिक अधिकार' है। एक आदर्श समाज मे मनुष्यों को अपनी शक्तियो के विकास व उन्नति की जो सुविधाएँ मिलनी चाहिएँ, उन सबको नैसर्गिक अधिकारो के अन्तर्गत किया जा सकता है। पर आजकल के राज्य अभी इस आदर्श से बहुत पीछे हैं। भारत मे अभी तक भी करोडो बच्चो को पुष्टिकर भोजन प्राप्त नही हो पाता। शिक्षा द्वारा मानसिक विकास करने की सुविधाएँ भी अभी बहुत कम हैं। पर लोगो का ध्यान इन बातो की ओर है, और वे इस प्रयत्न मे हैं कि लोकमत को उद्बुद्ध करके इन अधिकारों को राज्य द्वारा स्वीकृत कराया जाए। नैसर्गिक अधिकारो का क्षेत्र बहुत व्यापक होता है, वे एक आदर्श की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते है, और हमे एक आदर्श समाज का निर्माण करने के लिए प्रेरित करते हैं।

(२) **नैतिक अधिकार**—जिन अधिकारो का उपभोग मनुष्य राज्य की सत्ता के कारण न करके अपनी नैतिक भावना के कारण करता है, उन्हे 'नैतिक अधिकार' कहा जाता है। हम कहते हैं कि माता पिता व गुरुजनो को अधिकार है कि वे अपनी सन्तान व शिष्य-मण्डली से आदर प्राप्त कर और अपराध करने पर उन्हे दण्ड दे सकें। माता-पिता का यह भी अधिकार है कि जब वे बूढे हो जाएँ, तो सन्तान उनका पालन करें। पर ये अधिकार राज्य द्वारा मान्य नही है। यदि कोई लडका अपने पिता का आदर न करे, उससे शिष्ट व्यवहार न करे या बुढापे मे उसका पालन न करे, तो उस पर अदालत मे मुकदमा नही चलाया जा सकता। उसे सरकार द्वारा दण्ड नही दिलाया जा सकता। इस प्रकार के अधिकारो की सत्ता समाज म विद्यमान नैतिक विचारो के कारण ही है।

(३) **कानूनी अधिकार**—सरकारी कानून द्वारा जिन अधिकारो को स्वीकृत कर लिया जाता है, उन्हे 'कानूनी अधिकार' कहते हैं। आजकल के कानून के अनुसार मनुष्य का यह अधिकार स्वीकृत है, कि वह अपने जीवन को कायम रख सके और सम्पत्ति पर अपना स्वत्व रख सके। इसलिए यदि कोई मनुष्य किसी दूसरे की हत्या कर दे, उसको चोट पहुँचाए या किसी की सम्पत्ति की चोरी करे या डाका डाले, तो अदालत मे उस पर मुकदमा चलाया जाता है और उसे दण्ड मिलता है।

पर बच्चों को दूध आदि पुष्टिकर भोजन प्राप्त होना, सबको शिक्षा का अवसर मिलना व रोटी कमाने के लिए मौका मिलना आदि बातें अभी तक कानूनी अधिकारों के दायरे में नहीं आई हैं। इसलिए इनके लिए राजशक्ति का उपयोग नहीं किया जाता। पर आजकल के सभ्य व प्रगतिशील राज्यों में यह प्रवृत्ति है कि कानूनी अधिकारों का क्षेत्र अधिक व्यापक होता जाए, और धीरे-धीरे उन सब अधिकारों को जिन्हें नैसर्गिक माना जाता है, कानूनी अधिकार का रूप दे दिया जाए।

(४) राजनीतिक अधिकार—आजकल के लोकतन्त्र राज्यों में सरकार के कार्यों में हाथ बँटाने के जो अधिकार नागरिकों को प्राप्त होते हैं, उन्हें 'राजनीतिक अधिकार' कहते हैं। वोट देने का अधिकार, चुने जाने का अधिकार और सरकारी पद प्राप्त करने का अधिकार इसी प्रकार के हैं, जिन्हें राजनीतिक अधिकार कहा जाता है।

नागरिकों के प्रमुख अधिकार—

राज्य द्वारा नागरिकों के जो अधिकार आजकल के प्राय सभी लोकतन्त्र राज्यों में स्वीकृत हैं, उनमें मुख्य निम्नलिखित हैं—

(१) जीवन का अधिकार—प्रत्येक मनुष्य को यह अधिकार है, कि वह अपने को जीवित रखे, और साथ ही स्वेच्छापूर्वक अपनी उन्नति करे। दास प्रथा में दास का अपने जीवन पर अधिकार नहीं होता। उसे पूरी तरह से अपने मालिक की इच्छा पर आश्रित रहना पड़ता है। इसी कारण दास प्रथा को जीवन के अधिकार में बाधक समझा जाता है। जीवन के अधिकार में निम्नलिखित बातें शामिल रहती हैं—

(क) किसी मनुष्य को यह अधिकार नहीं, कि वह दूसरे की हत्या कर सके।

(ख) आत्महत्या द्वारा अपने जीवन का अन्त कर सकने का भी किसी को अधिकार नहीं है।

(ग) प्रत्येक मनुष्य को अधिकार है कि वह आत्मरक्षा कर सके। यदि आत्म-रक्षा के लिए मनुष्य को शक्ति का भी उपयोग करना पड़े, तो वह उचित है।

(घ) जीवन के अधिकार के साथ-साथ प्रत्येक मनुष्य को यह भी अधिकार है, कि वह पारिवारिक जीवन व्यतीत कर सके और विवाह द्वारा सन्तान उत्पन्न कर सके।

(२) व्यक्तिगत सुरक्षा का अधिकार—प्रत्येक मनुष्य को यह अधिकार होना चाहिए, कि वह निश्चिन्तता और स्वतन्त्रता के साथ अपना जीवन बिता सके। कोई दूसरा मनुष्य उस पर आक्रमण न कर सके, और वह अपने जीवन को सुरक्षित रख सके। जीवित रहने के साथ-साथ प्रत्येक मनुष्य को यह अधिकार भी होना चाहिए, कि वह सार्वजनिक स्थानों का निर्बाध रूप से उपयोग कर सके। सड़कें, उद्यान,

जमीदार वर्ग के लोगो को अनेक प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त थे। अब उन्हे नष्ट कर दिया गया है।

ख कानून की निगाह मे कोई ऊँच या नीच, छूत या अछूत नही माना जाता।

ग सब नागरिको के राजनीतिक अधिकार एक समान होते है। सब को केवल एक वोट देने का ही अधिकार होता है, चाहे वह धनकुबेर हो या गरीब हो।

घ कानून को तोडने पर सब को एक ही प्रकार से दण्ड दिया जाता है।

ड यह भी यत्न किया जाता है, कि आर्थिक विषमता को दूर किया जाए। इसके लिए विविध राज्य भिन्न भिन्न नीति का अनुसरण करते हैं। समाजवादी देशो मे आर्थिक उत्पादन (Production) के साधनो को राज्य के स्वामित्व व नियन्त्रण मे ले आया जाता है, तो अन्य देशो मे सम्पत्ति-कर (Estates Duty) व सुपर टैक्स आदि लगाकर आर्थिक समानता को स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है।

(७) सम्पत्ति का अधिकार—मनुष्य के जीवन व उन्नति के लिए यह आवश्यक है, कि वह कुछ-न कुछ सम्पत्ति अपने पास रखे। उपभोग (Consumption) के लिए मनुष्य को अनेक वस्तुओ की आवश्यकता होती है। उसे पहनने के लिए वस्त्र चाहिएँ रहने के लिए मकान चाहिए और भोजन पकाने के लिए बरतन चाहिएँ। यह स्वाभाविक है, कि उपभोग की इन वस्तुओ पर मनुष्य का स्वत्व हो। ये वस्तुएँ मनुष्य की व्यक्तिगत सम्पत्ति रहे, इस पर विशेष मत भेद नहीं है। इनके सम्बन्ध मे सम्पत्ति के अधिकार को प्राय, सभी लोग स्वीकार करते है।

पर बहुत-सी वस्तुएँ ऐसी भी हैं, जो उपभोग के काम मे न आकर आर्थिक उत्पादन के काम मे आती है। अपनी सब आमदनी को खर्च न कर मनुष्य बचत करता है, और बचत द्वारा जो पूँजी उसके पास एकत्र हो जाती है, उसे वह जमीन, कारखाना, जायदाद आदि खरीदने के लिए काम मे लाता है। हम देखते हैं, कि कितने ही लोग सम्पत्ति का सचय कर पूँजीपति बने हुए है, और उत्पादन के साधनो को क्रय करके उन पर उन्होने अपना स्वत्व कायम कर लिया है। इस प्रकार की सम्पत्ति पर व्यक्तियो का स्वत्व होना चाहिए या नही, इस सम्बन्ध मे बहुत मतभेद है। समाजवादी लोगो का मत है, कि उत्पादन के साधनो पर व्यक्तियो का स्वत्व न होकर राज्य का स्वत्व होना चाहिए।

सम्पत्ति के विषय मे इस मतभेद के बावजूद इस बात से इन्कार नही किया जा सकता, कि मनुष्यो की जो भी अपनी सम्पत्ति हो, उसकी रक्षा करने का उन्हें अधिकार होना चाहिए। राज्य व समाज द्वारा जिस सम्पत्ति पर मनुष्यो का व्यक्तिगत स्वत्व स्वीकृत हो, उसकी रक्षा की व्यवस्था सरकार द्वारा अवश्य की जानी चाहिए।

(८) राजनीतिक अधिकार—प्रत्येक राज्य मे नागरिको को कतिपय ऐसे अधिकार प्राप्त होने हैं, जिनका सम्बन्ध राज्य के शासन के साथ होता है। इन्हे

राजनीतिक अधिकार कहा जाता है। ये अधिकार निम्नलिखित होते है—

क वोट देना—राज्य की विधान सभा, राज्य के अन्तर्गत विविध प्रान्तो की विधान सभा और स्थानीय सस्थाओ (जिला बोर्ड, म्युनिसिपैलिटी, ग्राम पचायत आदि) के सदस्यो का चुनाव करने के लिए वोट देने का अधिकार प्रत्येक वयस्क स्त्री-पुरुष को अवश्य प्राप्त होना चाहिए। धर्म, जाति, लिङ्ग आदि के कारण किसी व्यक्ति को इस अधिकार से वचित नही रखना चाहिए।

ख चुने जाने का अधिकार—प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार भी होना चाहिए, कि वह राज्य की विविध विधानसभाओ व स्थानीय सस्थाओ की सदस्यता के लिए उम्मीदवार बन सके। वह चुना जाए या नही, यह तो मतदाताओ की इच्छा पर निर्भर है। मतदाताओ की बहुसख्या जिसके पक्ष मे अपना वोट देगी, चुना तो वही जाएगा। पर किसी नागरिक को अपने को चुनवा सकने के अधिकार से वचित नही रखना चाहिए।

ग सरकारी सेवा के लिए समान अवसर का अधिकार—राज्य के शासन के लिए जो कर्मचारीवर्ग होता है, उसके लिए व्यक्तियो की नियुक्ति उनकी योग्यता के आधार पर की जाती है। इसके लिए प्राय किसी परीक्षा की व्यवस्था की जाती है, और उसमे जो उच्च स्थान प्राप्त करते हैं, उन्ही को सरकारी पदों पर नियुक्त किया जाता है। भारत मे इण्डियन एड्मिनिस्ट्रेटिव सर्विस, प्रान्तीय एड्मिनिस्ट्रेटिव सर्विस, जुडिशियल सर्विस, सेक्रेटरियट सर्विस आदि सभी के लिए पब्लिक सर्विस कमीशनो द्वारा परीक्षाएँ ली जाती है। बहुत छोटी सरकारी नौकरियो के लिए भी एक निश्चित योग्यता की आवश्यकता मानी जाती है। पर योग्यता के आधार पर सरकारी नौकरी प्राप्त करने के अवसर का अधिकार सब नागरिको को समानरूप से होना चाहिए। धर्म, लिंग, जाति आदि के भेद को दृष्टि मे रखकर किसी को इस अधिकार से वञ्चित नही रखना चाहिए।

(६) आर्थिक अधिकार—आर्थिक समानता के विचार के साथ साथ आजकल के प्रगतिशील लोकतन्त्र राज्यो मे मनुष्यो के कतिपय आर्थिक अधिकार भी स्वीकार किए जाने लगे है। ये अधिकार निम्नलिखित है—

क. कार्य प्राप्त करने का अधिकार—मनुष्य अपना निर्वाह तभी कर सकता है, जब वह कोई काम करे। यह काम नौकरी, व्यापार, शिल्प आदि अनेक प्रकार का हो सकता है। इसमे सन्देह नही, कि कोई मनुष्य कोई रोजगार करे या नही यह बहुत कुछ उसकी अपनी इच्छा पर निर्भर होता है। पर हम देखते है कि बहुधा इच्छा होते हुए भी मनुष्य काम प्राप्त नही कर पाता। कितने ही लोग रोजगार की तलाश मे घर छोडकर बाहर निकलते है, और दर-दर की ठोकरें खाते फिरते है। कोशिश करने पर भी उन्हे काम नही मिलता। आजकल प्राय सभी देशों मे बेरोजगारी की समस्या

विद्यमान है। जिस प्रकार जीवित रहना मनुष्य का अधिकार है और राज्य उन परिस्थितियो व सुविधाओ को उत्पन्न करता है, जिनमे मनुष्य अपने जीवन की रक्षा कर सकता है, इसी प्रकार अपनी योग्यता और सामर्थ्य के अनुसार काम प्राप्त करना भी मनुष्य का नैसर्गिक अधिकार है, और राज्य को ऐसी सुविधाएँ उत्पन्न करनी चाहिए जिनसे कि प्रत्येक मनुष्य काम पा सके। इसीलिए इगलैण्ड, फ्रास आदि देशो मे बेकार लोगो को सरकार की ओर से भत्ता दिया जाता है, और साथ ही उन्हे काम पर लगाने का प्रयत्न भी किया जाता है। बेकारी के कारण ही बहुत-से गरीब लोग भीख माँगने व अनेक अनुचित उपायो से पैसा प्राप्त करने का यत्न करते हैं। भिखारियो, वेश्याओ व गिरहकटो की सत्ता किसी भी देश के लिए कलक की बात होती है। बेकार लोग न केवल स्वय कष्ट उठाते हैं, अपितु राज्य के लिए भी हानिकारक होते हैं। बेकार लोगो मे असन्तोष, विद्रोह और अव्यवस्था की भावनाएँ सुगमता के साथ उत्पन्न हो जाती हैं। जनता के असन्तोष से बढकर राज्य का अन्य कोई शत्रु नही होता।

ख न्यूनतम आर्थिक आमदनी का अधिकार—प्रत्येक मनुष्य को इतनी न्यूनतम आमदनी प्राप्त करने का अधिकार है, जिससे कि वह अपनी न्यूनतम आवश्यकताओ को पूरा कर सके। पेट भर भोजन, तन ढकने को वस्त्र और रहने को मकान—ये मनुष्य की न्यूनतम आवश्यकताएँ हैं। यदि किसी देश के लोगों की इतनी आमदनी भी न हो, जिससे वे इन आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकें, तो ऐसे देश की कभी उन्नति नही हो सकती, क्योंकि वहाँ के लोग कभी सुखी व सन्तुष्ट जीवन नही बिता सकेंगे।

ग इच्छानुसार रोजगार करने का अधिकार—प्रत्येक मनुष्य का यह अधिकार भी होना चाहिए, कि वह जिस रोजगार को करना चाहे, उसे कर सके। भारत मे अछूत समझे जानेवाले लोग अब तक भी अनेक प्रकार के रोजगार नही कर पाते। चमार या भगी कुल मे उत्पन्न हुए किसी मनुष्य के लिए यह सुगम नही है, कि वह भोजनशाला या हलवाई की दूकान खोल सके, या किसी सवर्ण परिवार मे भोजन पकाने की नौकरी पा सके। यद्यपि कानून के अनुसार भारत मे अछूतो को भी इन कामो को करने का अधिकार है, पर बहुसख्यक जनता उन्हे ये काम नही करने देना चाहती। शिक्षा के प्रचार और उदार विचारो के प्रसार के कारण इस दशा मे परिवर्तन आ रहा है। पर अभी तक भी भारत मे यह स्थिति नही आई है, कि अछूत समझे जानेवाले लोग अपनी इच्छा के अनुसार कार्य कर सकें।

(१०) सास्कृतिक अधिकार—जिस प्रकार मनुष्य की अनेक भौतिक आवश्यकताएँ होती हैं, वैसे ही मानसिक व सास्कृतिक आवश्यकताएँ भी होती हैं। यदि मनुष्य के शारीरिक विकास के लिए पुष्टिकर भोजन की जरूरत है, तो उसके

मानसिक विकास के लिए शिक्षा व संस्कृति भी आवश्यक हैं। इसलिए राज्य द्वारा उसे निम्नलिखित अधिकार भी प्राप्त होने हैं—

क शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार—जब तक शिक्षा न मिले, मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास नही कर सकता। अत प्रत्येक मनुष्य को अधिकार है, कि वह शिक्षा प्राप्त कर सके और अपनी मानसिक शक्ति का विकास कर जीवन मे अपने लिए समुचित स्थान बना सके। यही कारण है कि आजकल के राज्य अपना यह कर्तव्य समझते है, कि न केवल बच्चो की शिक्षा का ही प्रबन्ध करें, अपितु बडी आयु के जो लोग अशिक्षित रह गए हैं, उनकी शिक्षा की भी व्यवस्था करे।

ख वाचनालय, पुस्तकालय आदि की उपलब्धि का अधिकार—शिक्षा का अन्त स्कूल कालिज के साथ ही नही हो जाता। मनुष्य जब तक जीवित रहता है, अपने ज्ञान को बढाने का यत्न करता रहता है। वाचनालय, पुस्तकालय, कला-भवन आदि इसमे बहुत सहायक होते है। इसीलिए नागरिको का यह अधिकार है, कि वे राज्य से इन संस्थाओ की स्थापना की मांग करें। प्रगतिशील राज्य इसी कारण इन संस्थाओ की स्थापना के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

ग अपनी संस्कृति का अधिकार—राज्य के सब निवासियो की एक ही संस्कृति नही होती। भारत जैसे विशाल राज्य के निवासियो की संस्कृति मे बहुत-सी भिन्नताएँ हैं। इस कारण शिक्षा की व्यवस्था इस ढग से होनी चाहिए, कि विविध लोगो की अपनी पृथक् संस्कृति सुरक्षित रहे।

घ भाषा का अधिकार—राज्य के सब निवासियो की भाषा भी एक नही होती। भारत मे कितनी ही भाषाएँ विद्यमान है, जिनका साहित्य बहुत उन्नत है। मनुष्य को अपनी भाषा द्वारा ही शिक्षा दी जानी चाहिए और व्यक्तिगत व सार्वजनिक कार्यों मे सब को अपनी-अपनी भाषा का प्रयोग करने का अधिकार मिलना चाहिए।

(११) पारिवारिक जीवन का अधिकार—प्रत्येक मनुष्य को यह अधिकार भी प्राप्त होना चाहिए, कि वह पारिवारिक जीवन बिता सके। पारिवारिक जीवन का आधार विवाह है। भारत में विवाह के मामले में अनेकविध मर्यादाओं का पालन किया जाता है। विवाह प्राय अपनी ही जाति मे होते हैं, और उनकी व्यवस्था माता-पिता द्वारा की जाती है। युवक व युवतियाँ प्राय अपनी इच्छा से अपना जीवन-साथी नही चुनते, अपितु माता-पिता ही उनके विवाह सम्बन्ध का निश्चय करते हैं। पाश्चात्य देशो मे स्थिति इससे भिन्न है। वहाँ युवक युवतियाँ प्रेम-भावना से प्रेरित होकर स्वेच्छापूर्वक विवाह करती हैं। पर समय के साथ-साथ भारत मे भी इस विषय मे परिवर्तन हो रहा है। अब लोग जात-पाँत की उपेक्षा करके भी विवाह करने लगे हैं, और विवाह-सम्बन्ध का निश्चय करते हुए वर-वधू की इच्छा को भी महत्त्व दिया

जाने लगा है। विवाह का ढंग प्राय प्रत्येक देश मे और एक देश के भी विविध सम्प्रदायो व जातियो म भिन्न भिन्न होता है। पर यह निश्चित है, कि प्रत्येक स्त्री पुरुष को विवाह करके पारिवारिक जीवन बिताने का अधिकार अवश्य प्राप्त होना चाहिए।

विवाह के साथ ही तलाक का भी प्रश्न आता है। ईसाई और मुसलमानो मे तलाक की प्रथा है। बहुसख्यक हिन्दू जातियो मे विवाह सम्बन्ध का उच्छेद सम्भव नही होता। पर नये हिन्दू कानून के अनुसार कुछ विशेष परिस्थितियो म तलाक की अनुमति दे दी गई है। विवाह का रूप चाहे कैसा ही क्यो न हो, पारिवारिक जीवन मनुष्य के विकास, कल्याण और सुख के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिए उसे बिता सकने का अधिकार सब मनुष्यो को प्राप्त होना चाहिये।

अधिकारों की सख्या अनिश्चित है—हमने ऊपर मनुष्यो के कतिपय अधिकारो का उल्लेख किया है। पर इनके अतिरिक्त अन्य भी बहुत से ऐसे अधिकार हैं, जिन्हें आजकल के राज्य स्वीकृत करते हैं। वस्तुत, अधिकारो की सख्या अनिश्चित है, और उसमे निरन्तर वृद्धि हो रही है। मनुष्य को अपनी शक्ति व व्यक्तित्व के विकास के लिए जिन सुविधाओ की आवश्यकता हो, उन सब को प्राप्त करना उसका अधिकार है। सभ्यता के विकास के साथ साथ इन सुविधाओ मे भी वृद्धि होती जा रही है, और इसी कारण मनुष्यो के अधिकारो की सख्या भी निरन्तर बढ रही है। पुराने जमाने मे जब कि एकतन्त्र राजाओ का निरकुश शासन हुआ करता था, तब मनुष्यों के अधिकार बहुत कम माने जाते थे। पर आजकल के सभ्य व प्रगतिशील लोकतन्त्र राज्यो मे मानव-अधिकारो का क्षेत्र निरन्तर बढता जा रहा है।

भारत के नये सविधान मे स्वीकृत आधारभूत अधिकार—

स्वराज्य प्राप्त करने के बाद भारत का जो नया सविधान बना है, वह अत्यन्त उच्च सिद्धान्तो पर आश्रित है। उसमे नागरिको के निम्नलिखित आधारभूत अधिकारों का प्रतिपादन किया गया है—

(१) कानून की दृष्टि मे सब बराबर हैं, सब को कानून का एक समान सरक्षण प्राप्त होगा। धर्म, नसल, जाति, लिंग व जन्मस्थान के आधार पर नागरिको मे कोई भेद नही किया जायगा। दूकान, रेस्तरां, होटल, मनोरजन के स्थान, कुएँ जलाशय, स्नान के घाट, सडक, पार्क, उद्यान आदि सार्वजनिक स्थानो का उपयोग सब नागरिक धर्म, जाति, लिङ्ग आदि के भेद भाव के बिना कर सकेंगे।

(२) कार्य प्राप्त करने और सरकारी नौकरी पाने के सम्बन्ध मे सब नागरिकों को एक समान अवसर प्राप्त रहेगा।

(३) अछूतपन को किसी भी रूप मे मानना या क्रिया मे लाना राज्य द्वारा निषिद्ध समझा जायगा।

(४) सब नागरिकों को भाषण द्वारा व अन्य प्रकार से अपने विचारों को प्रकट करने की स्वतन्त्रता होगी। सब नागरिकों को अधिकार होगा कि वे अपने विचारों को प्रकट करने में स्वतन्त्र हों, शान्तिपूर्वक सभाएँ कर सकें, अपने समुदाय व संघ बना सकें, भारत में सर्वत्र स्वतन्त्रतापूर्वक आ जा सकें, भारत के किसी भी प्रदेश में रह सकें व बस सकें, सम्पत्ति को प्राप्त कर सकें व बच सकें, और जो पेशा करना चाहें व जो व्यापार व कारोबार करना चाहें उसे कर सकें।

(५) कोई व्यक्ति तब तक किसी अपराध के लिए दोषी नहीं ठहराया जायगा, जब तक कि वह किसी कानून का भंग न करे और तब तक उसे सजा नहीं दी जा सकेगी, जब तक कि न्यायालय में उसे दोषी न सिद्ध कर दिया जाए और वहाँ उसे दण्ड न दिया जाए।

(६) मनुष्यों का क्रय विक्रय, बेगार व अन्य किसी प्रकार से जबर्दस्ती श्रम लेना कानून के अनुसार दण्डनीय अपराध माना जायगा।

(७) चौदह वर्ष से कम आयु के किसी भी बालक या बालिका को किसी कारखाने, खान व अन्य संकटमय कार्य में नहीं लगाया जा सकेगा।

(८) सब को अधिकार होगा, कि वे अपने विश्वास के अनुसार किसी भी धर्म का अनुसरण कर सकें और उसका प्रचार कर सकें।

(९) राज्य द्वारा सचालित व सरकारी आमदनी से चलाई जाने वाली किसी शिक्षा संस्था में कोई धार्मिक शिक्षा नहीं दी जायगी।

(१०) भारत में निवास करने वाले जिन लोगों की कोई अपनी भाषा लिपि व संस्कृति हो, उन्हें इनके संरक्षण व कायम रखने का अधिकार होगा।

(११) किसी मनुष्य को कानून द्वारा अभिमत रीति के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से उसकी सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जा सकेगा। सार्वजनिक प्रयोजन से कानून द्वारा व्यक्तिगत सम्पत्ति राज्य द्वारा प्राप्त की जा सकेगी, पर मुनासिब मुआवजा देकर।

भारत के नये संविधान में राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्त—

भारत के नये संविधान में जहाँ आधारभूत नागरिक अधिकारों का विशद रूप से प्रतिपादन किया गया है, वहाँ साथ ही उन सिद्धान्तों का भी निर्देश कर दिया गया है, जिसके अनुसार राज्य को अपनी नीति का निर्माण करना है। ये सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

(१) प्रत्येक नागरिक को, चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, रोजगार प्राप्त करने का अधिकार है।

(२) देश में जो भी भौतिक साधन (Material resources) विद्यमान हैं,

उसका स्वामित्व व नियन्त्रण इस प्रकार बँटा हुआ हो, जिससे कि सबका हित हो सके, और उनका प्रयोग कतिपय व्यक्तियो के हित मे न होने पाए।

(३) आर्थिक व्यवस्था ऐसी न हो, जिससे कि आर्थिक उत्पादन के साधन और सम्पत्ति कुछ थोडे से लोगो के हाथ मे एकत्र हो जाएँ और ऐसा होना सार्वजनिक दृष्टि से हानिकारक हो।

(४) पुरुषो और स्त्रियो को समान कार्य के लिए समान वेतन मिले।

(५) श्रमिको की शक्ति और स्वास्थ्य का दुरुपयोग न हो, और आर्थिक आवश्यकता से लाचार होकर नागरिको को ऐसे काम न करने पडे, जो उनकी आयु और शक्ति के लिहाज से उनको नही करने चाहियें।

(६) रोजगार प्राप्त करना, बेकारी को दूर करना, बेकारो को सहायता देना, बुढापे, बीमारी और अपाहिज होने की दशा मे मदद करना और शिक्षा देना राज्य का कर्तव्य है। अपनी शक्ति के अनुसार राज्य इन सब बातो की व्यवस्था करेगा।

(७) राज्य यह प्रबन्ध करेगा कि सब प्रकार के श्रमिको को उनके श्रम का उचित पारिश्रमिक मिले, और कारखानो खानो आदि म कार्य करने की परिस्थितियाँ ऐसी हो, जिनमे श्रमिक लोग उचित पारिश्रमिक पाते हुए अपने जीवन को इस ढग से बिता सके कि उन्हे सामाजिक और सास्कृतिक उन्नति का भी यथोचित अवसर मिले।

(८) चौदह साल की आयु तक बच्चो को नि शुल्क व बाधित रूप से शिक्षा दी जाए।

(९) अछूत समझी जाने वाली और पिछडी हुई जातियो मे शिक्षा-प्रसार करने और उनकी आर्थिक दशा को सुधारने का विशेष रूप से उद्योग किया जाए।

(१०) लोगो के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा करना और सार्वजनिक स्वास्थ्य को उन्नत करना राज्य का एक मुख्य कर्तव्य समझा जाए।

भारत के सविधान मे प्रतिपादित मानव अधिकारो और राज्य के नीति-विषयक सिद्धान्तो का अनुशीलन करने से यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि आजकल के प्रगतिशील राज्यो के कर्तव्य कितने व्यापक हैं, और उनमे मनुष्यो को कितने अधिकार प्राप्त रहते हैं।

कर्तव्य का अभिप्राय—

हम ऊपर लिख चुके हैं कि अधिकार के साथ कर्तव्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है, और अधिकार व कर्तव्य एक ही वस्तु के दो पार्श्व व पहलू हैं। जब हम कहते हैं कि हमारा इस वस्तु पर अधिकार है, तो दूसरे शब्दो मे हम यह कह रहे होते हैं कि

अन्य सब लोगो का कर्तव्य है कि उस वस्तु को अपना न समझें। अत अधिकार के विचार के साथ ही कर्तव्य का विचार भी हमारे सम्मुख आ जाता है। अधिकार उन सुविधाओ को कहते हैं, जो समाज या राज्य द्वारा मनुष्यो को अपने हित, कल्याण व विकास के लिए प्राप्त होती हैं। अधिकारो की सत्ता इसीलिये है, क्योकि मनुष्य समाज मे रहता है। जब मनुष्य समाज व राज्य से अपनी उन्नति के लिए अनेक सुविधाएँ प्राप्त करता है, तो उसके लिये यह भी आवश्यक हो जाता है कि वह समाज या राज्य के प्रति कतिपय कर्तव्यो का भी पालन करे। इसीलिए भारत के पुराने ग्रन्थो मे कर्तव्य पर बहुत जोर दिया गया है, और यह प्रतिपादित किया गया है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने 'स्वधर्म' पर सदा दृढ रहना चाहिए और कर्तव्यपालन से कभी विमुख नहीं होना चाहिए।

कर्तव्यों के दो भेद—कर्तव्य दो प्रकार के होते हैं, नैतिक (Moral) और कानूनी (Legal)। नैतिक कर्तव्य वे हैं, जिनका पालन करना मनुष्य के व्यक्तिगत व सामूहिक हित के लिए उपयोगी है, पर जिनका पालन न करने पर सरकार द्वारा दण्ड नहीं दिया जाता। मनुष्य का कर्तव्य है, कि वह साफ रहे, सदाचारपूर्वक जीवन व्यतीत करे, किसी के विषय मे बुरा न सोचे, माता-पिता व गुरुजनो का आदर करे और सबसे प्रीतिपूर्वक व्यवहार करे। ये सब मनुष्य के कर्तव्य हैं। पर यदि कोई मनुष्य इनका पालन न करे, तो सरकार द्वारा उसे दण्ड नही दिया जाता। इसीलिए इन्हें नैतिक कर्तव्य कहते हैं।

कानूनी कर्तव्य उन्हें कहते हैं, जिनका पालन करने के लिए सरकार मनुष्यो को विवश करती है। मनुष्य का कर्तव्य है कि वह दूसरो के जान माल को नुकसान न पहुँचाए चोरी न करे, किसी पर हमला न करे, टैक्सो को समय पर अदा करे और बिक्री के माल में मिलावट न करे। यदि कोई इनका पालन न करे, तो कानून के अनुसार उसे दण्ड दिया जायगा। इसीलिए इन्हे कानूनी कर्तव्य कहा जाता है। पर मनुष्य को नैतिक और कानूनी—दोनो प्रकार के कर्तव्यो का पालन करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से मनुष्यो की वैयक्तिक व सामूहिक उन्नति मे सहायता मिलती है, और ऐसा न करने से उन परिस्थितियो व सुविधाओ के उत्पन्न होने मे बाधा पड़ती है, जिनका होना मनुष्य की शक्तियो के विकास के लिए आवश्यक है।

कर्तव्यो का वर्गीकरण एक अन्य प्रकार से भी किया जाता है। कुछ कर्तव्य विधिपरक (Positive) होते हैं, और कुछ निषेधपरक (Negative)। नियमपूर्वक टैक्स देना, माता-पिता की सेवा करना आदि विधिपरक कर्तव्य हैं। चोरी न करना, झूठ न बोलना आदि निषेधपरक कर्तव्य हैं।

कर्तव्य के क्षेत्र—

मनुष्यो के कर्तव्य के क्षेत्र अनेक हैं। व्यक्ति, परिवार, ग्राम, समाज, राज्य और मनुष्य जाति—सबके प्रति मनुष्यो के अनेक प्रकार के कर्तव्य होते हैं।

अपने प्रति कर्तव्य—मनुष्य के अपने प्रति भी अनेक कर्तव्य हैं। अपने-आपको स्वस्थ, सुशिक्षित, सभ्य व सुसस्कृत बनाना मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है। समाज मनुष्यो से मिलकर ही बनता है। जो स्थान शरीर मे अवयवो व घटको का होता है, वही समाज व राज्य मे व्यक्तियो का होता है। जिस समाज मे अवयवरूप व्यक्ति स्वस्थ, सुशिक्षित, साहसी, सभ्य व परिश्रमी होगे, वह अवश्य ही उन्नति करेगा। अत प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है, कि वह अपने व्यक्तित्व का विकास करने के लिए शरीर को स्वस्थ रखे, प्रतिदिन व्यायाम करके शरीर को सुदृढ बनाये, अच्छी शिक्षा प्राप्त करे, सद्गुणो को ग्रहण करे और सभ्य बने।

परिवार के प्रति कर्तव्य—मनुष्यो के सामुदायिक जीवन की सबसे छोटी इकाई परिवार होता है। परिवार का अग होने के कारण मनुष्यो के एक-दूसरे के प्रति अनेक प्रकार के कर्तव्य हैं। माता-पिता का कर्तव्य है, कि सन्तान का पालन करें, उनके स्वास्थ्य का ध्यान रखें, उन्हें अच्छी शिक्षा दें और उनकी शक्तियो का विकास करने को महत्त्व दें। सन्तान का कर्तव्य है, कि अपने माता-पिता की आज्ञा मानें और बुढापे मे उनकी सेवा करें। इसी प्रकार पति के पत्नी के प्रति और पत्नी के पति के प्रति भी अनेक प्रकार के कर्तव्य होते हैं। जब परिवार के सब सदस्य अपने-अपने कर्तव्यो का पालन करेंगे, तभी परिवार सुखी व समृद्ध हो सकेगा।

ग्राम, जाति व विविध समुदायो के प्रति कर्तव्य—मनुष्य किसी-न किसी गाम, कस्बे व नगर मे निवास करते हैं। इस कारण अपने साथ रहने वाले अन्य मनुष्यो के प्रति उनके अनेक प्रकार के कर्तव्य हो जाते हैं। मान लीजिये, किसी गाँव मे आग लग गई। अभी आग आपके मकान से बहुत दूर है। पर प्रत्येक ग्रामवासी का यह कर्तव्य है, कि आग बुझाने मे सहयोग दे और उसे फैलने न दे। बीमारी फैलने के समय भी सब ग्रामवासियो के अनेक कर्तव्य हो जाते हैं। गाँव मे सफाई रखने मे सहयोग देना भी सबका कर्तव्य है। क्योकि मनुष्य दूसरो के साथ मिलकर रहता है, अत दूसरो के कष्ट व दुर्दशा का उस पर भी असर पडता है। यदि गाँव के रास्ते गन्दे हो, उसके कुएँ का पानी कीटाणुओ से परिपूर्ण हो और जगह-जगह पर गन्दगी के ढेर लगे हो, तो इससे सभी ग्रामवासियो को नुकसान पहुँचेगा। अत सबका कर्तव्य है, कि वे गाँव की सफाई पर ध्यान दें और रोग आदि से गाँव को मुक्त रखें।

मनुष्य अनेक धार्मिक, आर्थिक, सास्कृतिक व अन्य प्रकार के समुदायो का सदस्य होता है। इन समुदायों के प्रति भी मनुष्य के अनेक प्रकार के कर्तव्य होते हैं।

यदि मनुष्य अपने इन कर्तव्यों की उपेक्षा करे, तो समुदाय कभी उन्नति नही कर सकेंगे।

पर मनुष्यो के कर्तव्यों का क्षेत्रफल केवल परिवार ग्राम व विविध समुदायो तक ही सीमित नही होता। अपने देश व राज्य के प्रति भी मनुष्य के बहुत से कर्तव्य होते हैं। इन कर्तव्यो पर हम अभी अधिक विस्तार से विचार करेंगे। विज्ञान की उन्नति के कारण अब ससार के विविध देश एक दूसरे के इतने समीप आ गए हैं, कि अब मनुष्य के सामुदायिक जीवन का क्षेत्र बहुत विशाल हो गया है। सम्पूर्ण मानव-समाज ही अब एक विशाल समुदाय की सी स्थिति रखता है। चीन अफ्रीका आदि दूरस्थ देशो मे जो घटना घटती है, उसका प्रभाव अब सारे ससार पर पडता है। इसी कारण अब मनुष्यों के सम्पूर्ण मानव-समाज के प्रति भी अनेक कर्तव्य हो गये हैं। ससार भर मे शान्ति बनाए रखना दूसरो के धर्म व सस्कृति का आदर करना दूसरे देशो के निवासियों को भी अपने समान ही मनुष्य समझना—ये व इसी ढग के कितने ही कर्तव्य हैं जो मनुष्यो के सम्पूर्ण मानव समाज के प्रति हैं।

राज्य के प्रति कर्तव्य—

मनुष्य ने अपनी उन्नति के लिए जो विविध समुदाय बनाए हैं, उनमे राज्य सबसे उत्कृष्ट है। अत राज्य के प्रति मनुष्य के जो कर्तव्य हैं, वे अधिक महत्व के हैं। ये कर्तव्य निम्नलिखित है—

(१) राजभक्ति (Allegiance)—प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी राज्य का नागरिक होता है। राज्य के कारण ही वह निश्चिन्तता के साथ स्वतन्त्रता व अधिकारो का उपभोग कर सकता है। अत प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है, कि वह अपने राज्य के प्रति भक्ति रखे। राजभक्ति के कारण मनुष्य के अनेक कर्तव्य हो जाते हैं। सरकार के साथ सहयोग करना, सरकारी कर्मचारियो की उनके कार्य मे सहायता करना, और विदेशी आक्रमण की दशा में देश की रक्षा के लिए सब प्रकार की कुर्बानी करने के लिए तैयार हो जाना इनमे मुख्य हैं। देश म अमन चैन कायम रखना पुलिस का काम है। पुलिस चोरों व डाकुओ को पकडती है, और उन्हे कानून के अनुसार सजा दिलाती है। पर यदि देशवासियो का सहयोग पुलिस को प्राप्त न हो, तो वह अपना काम कभी ठीक ढग से नही कर सकेगी। यदि किसी गाँव मे डाका पडे, तो ग्रामवासियों का कर्तव्य है कि वे डाकुओ को पकडवाने मे पुलिस की सहायता करे। इसी प्रकार जब कोई शत्रु देश पर आक्रमण करे तो सबको धन, जन और जीवन से सरकार की सहायता करनी चाहिए। युवको का ऐसे समय मे यह कर्तव्य है, कि वे सेना मे भरती हो, धनियो कर्तव्य है कि वे अपनी थैलियाँ सरकार की सहायता के लिए खोल दें, और अन्य सबका भी यह कर्तव्य है कि जिस तरह भी सम्भव हो, शत्रु के पराजय

के लिए सरकार के साथ सहयोग करें।

(२) आज्ञापालन (Obedience)—राज्य अपने नागरिको को जो आदेश दे, उनका पालन करना भी प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है। लोकतन्त्र राज्यों मे आदेश देने या कानून बनाने कार्य उन लोगो के सुपुर्द होता है, जिन्हे जनता इन्ही कामो के लिए चुनती है। वस्तुत कानून जनता की इच्छा व लोकमत को ही प्रकट करते हैं। उनका निर्माण इसी प्रयोजन से किया जाता है, कि लोगो का हित हो और उनसे जनता की उन्नति मे सहायता मिले। अत राजकीय आदेशो और कानूनो का पालन करना सबका कर्तव्य है। यह सम्भव है कि राज्य के कतिपय कानूनो से कुछ लोग सहमत न हो, वे उन्हे अपने व समाज के लिए हानिकारक समझते हो। इस दशा मे उन्हे यह चाहिये, कि लोकमत को अपने पक्ष मे करके उन कानूनो को बदलने का यत्न करे। वैधानिक ढग से कानूनो को बदलवाने का यत्न करना सर्वथा उचित है। पर जब तक कोई कानून विहित हो, तब तक उनका पालन प्रत्येक मनुष्य को करना ही चाहिए।

(३) टॅक्स प्रदान करना (Payment of Taxes)—सरकार का कार्य चलाने के लिय धन की आवश्यकता होती है। यह धन जनता से टॅक्स वसूल करके ही प्राप्त किया जा सकता है। जनता से कौन से टॅक्स लिए जाएँ, इस बात का निर्णय व्यवस्थापन विभाग (Legislature) द्वारा किया जाता है, जिसके सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित होते हैं। अत. जनता के प्रतिनिधि जिन टॅक्सो को निर्धारित करें, उन्हे नियमपूर्वक प्रदान करना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य हो जाता है।

(४) मताधिकार का उपयोग—लोकतन्त्र शासनो की सफलता के लिए एक आवश्यक शर्त यह है, कि सब नागरिक राज्यकार्य मे हाथ बटाएँ। इसलिए उन्हें वोट देने के अपने अधिकार का सोच-समझकर उपयोग करना चाहिए। कानून बनाने व शासक-वर्ग पर नियन्त्रण रखने का कार्य पार्लियामेंट के जो सदस्य करते हैं, वे जनता द्वारा ही चुने जाते हैं। पार्लियामेंट के सदस्य यदि सच्चे अर्थों मे जनता के प्रतिनिधि होगे, तभी असल मे लोकतन्त्र शासन कायम हो सकेगा। अत प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है, कि वह वोट के अधिकार का प्रयोग करे और इस अधिकार का प्रयोग सोच समझकर व निर्भीकता के साथ करे।

(५) सार्वजनिक सेवा के लिए तत्परता—प्रत्येक नागरिक का यह भी कर्तव्य है, कि वह सदा सार्वजनिक सेवा के लिए तत्पर रहे। मनुष्य को अपनी योग्यता का उपयोग केवल अपनी सुख-समृद्धि के लिए ही नही करना चाहिए, अपितु सार्वजनिक हितों के लिए भी उसका उपयोग किया जाना चाहिए। इसलिए योग्य व्यक्तियों को ग्राम पचायत, म्युनिसिपैलिटी, जिला बोर्ड, पार्लियामेंट आदि का सदस्य बनने मे सकोच नही करना चाहिए, और यदि सरकार किसी व्यक्ति की सेवा से लाभ उठाना चाहे,

तो वैयक्तिक नुकसान उठाकर भी सरकारी सेवा के लिए तत्पर हो जाना चाहिये। सार्वजनिक सेवा के लिये तत्परता प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. अधिकारो और कर्तव्यों से आप क्या समझते हैं? नैसर्गिक (प्राकृतिक) अधिकार कौन से होते हैं? (यू० पी०, १९४६)

२. राज्य के प्रति नागरिक के क्या कर्तव्य हैं? राज्य कहां तक उसे इनका पालन करने के लिए विवश कर सकता है? (यू० पी० १९५३)

३ 'अधिकार' के अभिप्राय को स्पष्ट कीजिए। लोकतन्त्र राज्यों में नागरिको के प्रमुख अधिकार कौन से होते हैं? (यू० पी०, १९४६)

४. नागरिको के मुख्य-मुख्य अधिकार और कर्तव्य कौन से हैं? (यू० पी० १९४८)

५. अधिकारो के विविध प्रकारो पर सक्षेप से प्रकाश डालिए।

६ भारत के नये सविधान में नागरिको के किन मूलभूत अधिकारों को स्वीकार किया गया है।

७. मूलभूत अधिकारों से आप क्या समझते हैं? उनका वर्णन कीजिए, और यह बताइये कि आजकल के लोकतन्त्र राज्यों मे उन्हें इतना महत्व क्यों दिया जाता है? (राजपूताना, १९४३)

८ विचारों के प्रचार व प्रकट करने का अधिकार किस आधार पर आश्रित है? क्या उसके लिए कोई सीमाएँ होना आवश्यक हैं? (राजपूताना, १९४६)

९. 'अधिकार और कर्तव्य का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है' स्पष्ट कीजिए।

१०. कर्तव्य के अभिप्राय को स्पष्ट करके यह बताइए कि मनुष्य के कर्तव्य के विविध क्षेत्र कौन-कौन से हैं?

करे। उसका कर्तव्य तो केवल आज्ञापालन करना ही है। ईश्वर जो करता है, हम उसकी आलोचना नहीं करते। यदि कभी भूकम्प आ जाए, बाढ व तूफान आ जाए, और उसके कारण हजारों मनुष्यो का सहार हो जाए तो उसके लिए हम ईश्वर को दोष न देकर अपने कर्मों को दोष देते हैं। इसी तरह यदि राजा कभी क्रोध मे आकर प्रजा पर अत्याचार करे, तो उसे दैवी विधान मानकर चुपचाप सहन कर लेना ही मनुष्य का कर्तव्य है।

दैवी सिद्धान्त बहुत पुराना है। प्राचीन रोमन साम्राज्य मे राजा को देवता माना जाता था, और अन्य देवताओ के समान उसकी भी पूजा होती थी। एक पुराने भारतीय विचारक के अनुसार "यदि राजा बालक हो, तो भी बच्चा समझकर उसकी उपेक्षा नही करनी चाहिए, क्योकि राजा एक 'महती देवता' होता है, जो मनुष्य के आकार मे रहता है।"

अब तक भी अनेक ऐसे राजा विद्यमान हैं, जिन्हे 'दैवी' या 'लोकोत्तर' माना जाता है। जापान मे लोग राजा के प्रति विशेष भक्ति रखते हैं, और उसे लोकोत्तर मानते हैं। तिब्बत के लामा, नेपाल के राजा आदि की स्थिति भी साधारण मनुष्यो की तुलना बहुत ऊँची समझी जाती रही है।

दैवी सिद्धान्त की आलोचना—इस समय शायद ही कोई ऐसा विचारक हो, जो राजा को दैवी मानता हो या राज्य की उत्पत्ति का कारण 'ईश्वर की इच्छा' को स्वीकार करता हो। वर्तमान युग मे जब राजाओ की सत्ता ही नष्ट हो गई है, और बहुसख्यक राज्यो मे लोकतन्त्र गणराज्य (Democratic Republics) कायम हो गये हैं, तो राजा को दैवी मानने का प्रश्न ही नही रह जाता। इस सिद्धान्त के विरोध मे निम्नलिखित युक्तियाँ दी जाती हैं—

(१) इस सिद्धान्त के कारण स्वेच्छाचार और अत्याचार बढता है। राजा के अनुचित कार्यों का विरोध कर सकना भी असम्भव हो जाता है, और मनुष्यो के हित व कल्याण के उद्देश्य से राज्य का सचालन कर सकना सम्भव नही रहता।

(२) विज्ञान के विकास के कारण आजकल तो सृष्टि की उत्पत्ति भी विकास वाद (Theory of Evolution) द्वारा मानी जाती है। अब यह सिद्धान्त पुराना पड गया है, कि मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सब ईश्वर ने बनाये थे। सृष्टि के शुरू मे ईश्वर ने मनुष्य घोडे, पक्षी आदि सबके एक-एक जोडे बना दिये, और उन्हीं से अन्य सब उत्पन्न हुए, इस बात को आज के वैज्ञानिक स्वीकार नहीं करते। वे यह मानते हैं, कि मनुष्य आदि सब प्राणी विकास द्वारा अपने वर्तमान रूप मे आये हैं। इस दशा म कोई वैज्ञानिक यह कैसे स्वीकार कर सकता है, कि राज्य का निर्माण ईश्वर ने किया है।

(३) मनुष्यो की सस्थाओ मे निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं, वे अपरि-

वर्तनीय नहीं होती। यदि दैवी सिद्धान्त सही होता, तो आज भी संसार के सब राज्यों में ऐसे राजाओं का शासन होता, जिन्हें जनता दैवी या ईश्वर का प्रतिनिधि मानती हो। लोकतन्त्र शासन का विकास ही इस बात का प्रमाण है, कि यह सिद्धान्त ठीक नहीं है।

सामाजिक संविदा का सिद्धान्त (Theory of Social Contract)—

इस सिद्धान्त के अनुसार एक ऐसा समय था, जब कि राज्यसंस्था का अभाव था। उस समय मनुष्य राज्य के बिना ही अपना जीवन व्यतीत करते थे। इस काल को 'अराजक दशा' (State of Nature) कह सकते हैं। बाद में एक ऐसा समय आया, जब कि मनुष्यों ने राज्य की आवश्यकता अनुभव की, और उन्होंने आपस में मिलकर एक संविदा (इकरार या Contract) की, जिसके द्वारा राज्य की उत्पत्ति हुई। राज्य की उत्पत्ति का कारण यह इकरार, संविदा या सामाजिक समझौता ही है, जिसे मनुष्यों ने सोच-समझकर स्वेच्छापूर्वक आपस में किया था।

अराजक दशा में मनुष्यों की क्या हालत थी, इस सम्बन्ध में दो मत हैं—

(१) कुछ की सम्मति में यह एक आदर्श दशा थी, जब कि सब मनुष्य 'धर्म' द्वारा एक-दूसरे के साथ बरताव करते थे। उस समय न कोई राजा था, न प्रजा, न कोई दण्ड देने वाला था और न दण्डविधान ही था। सब मनुष्य आपस में एक दूसरे से बरतते हुए धर्म का पालन करते थे, और सब के साथ न्याय व औचित्य का बरताव करते थे।

(२) कुछ की सम्मति में अराजक दशा बहुत भयंकर थी। जिस प्रकार बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, वैसे ही बलवान् लोग निर्बलों को निरन्तर सताते रहते थे।

अराजक दशा का स्वरूप चाहे कैसा ही हो, पर बाद में एक ऐसा समय आया, जब कि लोगों को राज्यसंस्था की आवश्यकता अनुभव हुई, और उन्होंने आपस में समझौता करके राज्य की उत्पत्ति की। यह समझौता मनुष्यों ने किस ढंग से किया, और इस समझौते की क्या शर्तें थीं, इस विषय पर भी विविध विचारकों में मतभेद है। पर इस बात पर सब सहमत हैं, कि एक ऐसा समय आया, जब कि अराजक दशा का अन्त होकर संविदा द्वारा राज्य की उत्पत्ति की गई।

संसार के अनेक प्राचीन विचारकों ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। प्राचीन ग्रीस में विचारकों का एक सम्प्रदाय था, जिसे 'सोफिस्ट' कहते थे। वे मानते थे, कि राज्य की उत्पत्ति सामाजिक संविदा द्वारा ही हुई है। भारत में आचार्य चाणक्य के 'अर्थशास्त्र' में यह सिद्धान्त पाया जाता है। महाभारत में इसका विस्तार के साथ प्रतिपादन किया गया है।

आधुनिक समय में टामस हॉब्स (१५८८-१६७९), लॉक (१६३२-१७०४) और रूसो (१७१२ १७७८) ने वैज्ञानिक ढग से इस सिद्धान्त की व्याख्या की। इन तीनो विद्वानो ने किस ढग से इस मत का प्रतिपादन किया, इस पर सक्षेप से प्रकाश डालना जरूरी है।

हॉब्स (Hobbs)—हॉब्स इगलैण्ड का रहने वाला था। उसके समय मे इगलैण्ड की जनता ने अपने राजा जेम्स प्रथम के खिलाफ जो विद्रोह किया था, उसे उसने अपनी आँखो से देखा था। विद्रोह के कारण सारे देश मे जो अराजकता पैदा हो गई थी, उसे देखकर हाब्स ने अनुभव किया, कि यदि देश मे शासन करने वाला राजा न रहे, तो उसका परिणाम कितना भयकर हो सकता है।

हॉब्स ने कहा कि राज्यसस्था की उत्पत्ति से पहले जो अराजक दशा (State of Nature) थी, वह बहुत भयकर थी। मनुष्य स्वभाव से ही लोभी, स्वार्थी और झगडालू होता है। इसलिए जब कोई राजा नही था, तो लोग आपस मे निरन्तर लडते-झगडते रहते थे। उस समय प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक अन्य मनुष्य का शत्रु था।

लोग इस दशा से तग आ गये। उन्होने अपनी रक्षा के उपायो पर विचार किया, और आपस मे इकरार करके अराजक दशा का अन्त किया। पहले उन्होने आपस मे यह समझौता किया, कि सबकी सहमति से एक ऐसी शक्ति को उत्पन्न करें, जो सबको अपने वश मे रखे, और जो सबको अपनी आज्ञा का पालन करने के लिए विवश कर सके। यह समझौता करके फिर उन्होने एक मनुष्य को अपनी सब शक्ति—अपने माल और जान की स्वय रक्षा करने की शक्ति—सुपुर्द कर दी। उन्होने यह निश्चय किया, कि अब से हम इस मनुष्य की सब आज्ञाओ का आँख मीचकर पालन करेंगे और अपने सब अधिकार इसे दे देंगे। इस प्रकार राजा की उत्पत्ति हुई। जब सब मनुष्य आपस मे समझौता करके राजा के साथ यह इकरार कर चुके हैं, कि सब उसकी आज्ञाओ को मानेंगे, तब उसके विरुद्ध आवाज उठाने का उन्हे कोई अधिकार रह ही नही गया है। राजा जिस ढग से चाहे प्रजा का शासन कर सकता है, और सबको उसकी आज्ञा मे रहना ही चाहिए।

लॉक (Locke)—हॉब्स के समान लॉक भी इग्लैण्ड का निवासी था। पर वह उस समय म हुआ, जब कि इग्लैण्ड से स्टुअर्ट वश के स्वेच्छाचारी राजाओ के शासन का अन्त होकर वैध राजसत्ता (Constitutional Monarchy) की स्थापना हो चुकी थी। स्टुअर्ट वश का अन्त करके जनता ने विलियम और मेरी को अपना राजा बनाया था, और उन्होने पार्लियामेन्ट के इच्छानुसार देश का शासन करना स्वीकार कर लिया था।

लॉक के अनुसार अराजक दशा मे मनुष्य शान्ति के साथ निवास करते थे। उस समय मनुष्य पूर्णतया स्वतन्त्र था, अपनी इच्छा के अनुसार जीवन बिताता था,

और अपनी जान व मालकी रक्षा भी स्वय करता था। उस समय न कोई राजा था, न कोई प्रजा; न कोई शासक था, और न कोई शासित। मनुष्यो मे उचित-अनुचित, पुण्य-पाप व धर्म-अधर्म के जो विचार स्वाभाविक रूप से होते हैं, उन्ही के अनुसार सब लोग एक-दूसरे के साथ व्यवहार करते थे। मनुष्य स्वभाव से ही शान्ति पसद करता है, और एक-दूसरे के साथ सहयोग से रहना चाहता है।

पर यह दशा देर तक नही रह सकी। इसके दो कारण हुए। उचित-अनुचित क्या है, इस प्रश्न पर लोगो मे मतभेद होने लगे। ऐसे मतभेद होने पर यह आवश्यकता अनुभव होने लगी, कि इनका निर्णय करने वाला कोई निर्णायक अवश्य होना चाहिए जिसके फैसले को सब स्वीकार करें। दूसरा कारण यह था, कि अराजक दशा मे कोई ऐसा न्यायालय नही था, जो अपराधियों को दण्ड दे सकता।

अराजक दशा का अन्त करने के लिए मनुष्यो ने दो इकरार किए—(१) एक आपस मे, और (२) दूसरा शासकवर्ग के साथ। आपस मे इकरार करके मनुष्यो ने यह तय किया, कि अब से सब लोग मिलकर ही उन कानूनो को बनायेंगे, जिन्हे सबको पालन करना है। अब से हम उचित-अनुचित के विचारो पर निर्भर न रहकर समाज द्वारा बनाए गए नियमो व कानूनो का पालन किया करेंगे। आपस मे यह इकरार करने के बाद मनुष्यो ने एक व्यक्ति के साथ यह दूसरा इकरार किया, कि वह समाज द्वारा बनाये गए कानूनो का सबसे पालन कराया करेगा। यह इकरार करते हुए उन्होने यह भी स्पष्ट कर दिया, कि यदि यह व्यक्ति (राजा) अपने कर्तव्य का ठीक तरह से पालन नही करेगा, तो उसे अपने पद से पृथक् भी किया जा सकेगा। इस प्रकार यह बात स्पष्ट है, कि लॉक के अनुसार (१) कानून बनाने का कार्य मनुष्यो के अपने हाथो मे रहना चाहिए, किसी एक व्यक्ति के हाथ में नही। (२) यदि राजा अपने कर्तव्यो का पालन न करे, तो उसे पदच्युत करके किसी अन्य को राजा बनाने का अधिकार भी जनता को प्राप्त है।

रूसो (Rousseau)—रूसो फ्रास का निवासी था। अठारहवी सदी मे फ्रास मे अनेक क्रातिकारी विचारक हुए। रूसो उनमे प्रमुख था। १७६२ ई० मे उसने 'सामाजिक सविदा' (Social Contract) नाम की एक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी, जिसमे उसने अपने सिद्धात का बडे विस्तार के साथ प्रतिपादन किया।

रूसो के अनुसार, अराजक दशा मे मनुष्य बहुत सरलता, सादगी और स्वतन्त्रता के साथ रहते थे। न वे स्वार्थी, जगली व झगडालू थे, और न ही पूरी तरह से न्यायी व धार्मिक। उस समय सभ्यता का विकास भली-भाँति नही हुआ था। मनुष्यो की आवश्यकताएँ बहुत कम थी। अपने निर्वाह की वस्तुओ को प्राप्त कर लेने मे मनुष्यो को खास कठिनाई नही होती थी। इसीलिए वस्तुओ के प्रति ममता का भाव लोगों मे नहीं था, और वे वैयक्तिक सम्पत्ति (Private Property) को विशेष महत्व

नही देते थे। लोग आनन्द से मिल-जुलकर रहते थे। जिन कारणो से लोगों मे ईर्ष्या, द्वेष व झगड़े पैदा होते हैं, वे उस समय में थे ही नही।

पर धीरे-धीरे जनसख्या बढने लगी, और जनसख्या के बढने के कारण वस्तुओ की कमी अनुभव होने लगी। लोगो मे यह प्रवृत्ति पैदा हुई, कि वे जमीन, पशु आदि को अपनी सम्पत्ति बनाकर रखने लगे। इस दशा मे मनुष्यो के लिए आपस मे मिल-जुलकर रह सकना सुगम नही रहा। वे आपस मे लडने-भगडने लगे।

इस दशा का यह परिणाम हुआ, कि लोगो ने अपने को एक राज्यसस्था में सगठित कर लेने की आवश्यकता अनुभव करनी शुरू की। उन्होने विचार किया, कि कौन सा ऐसा तरीका है, जिससे कोई मनुष्य एक-दूसरे के साथ ज्यादती न कर सके, और अपनी स्वतन्त्रता को कायम रखते हुए सब मनुष्य अपने जान-माल की रक्षा कर सकें। इसके लिए उन्होने आपस मे यह इकरार किया, कि प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता अधिकार व शक्ति को समाज के सुपुर्द कर दे। समाज मनुष्यो से ही बनता है, सब मनुष्य समाज के अग होते हैं। मनुष्य अपनी जिस स्वतन्त्रता व शक्ति को समाज के सुपुर्द करता है उसे वह समाज का अग होने के कारण फिर से प्राप्त कर लेता है। वह एक हाथ से अपनी स्वतन्त्रता समाज को प्रदान करता है, पर दूसरे हाथ से (समाज का अग होने के कारण) उसे अपने पास वापस ले लेता है। इसलिए इकरार द्वारा मनुष्य ने अपने अधिकारो व शक्ति का परित्याग नही कर दिया, वह इकरार के बाद भी मनुष्य के ही पास रही। इस इकरार के कारण मनुष्यो के माल व जान की रक्षा की जिम्मेवारी अकेले-अकेले मनुष्य के पास न रहकर सारे समाज के सिर पर आ जाती है। अब यह सारे समाज का कर्तव्य हो गया है, कि वह सब मनुष्यो के अधिकारो व जान-माल की रक्षा करे।

इस प्रकार रूसो ने सामाजिक सविदा के सिद्धात द्वारा लोकतन्त्र शासन का समर्थन किया। उसका कहना था, कि क्योकि मनुष्यो ने इकरार द्वारा अपनी शक्ति समाज को ही प्रदान की है, अत किसी एक राजा का शासन न होकर देश का शासन जनता की सामूहिक इच्छा (General will) द्वारा होना चाहिए।

संविदा सिद्धान्त की आलोचना—

इस सिद्धान्त की आलोचना निम्न प्रकार से की गई है—

(१) इतिहास मे कोई ऐसा समय नहीं था, जबकि मनुष्य किसी प्रकार के समुदाय में सगठित न हो। समुदाय व समाज मे रहना मनुष्य का स्वभाव है। अफ्रीका और आस्ट्रेलिया मे जो जगली व असभ्य जातियां बसती हैं, वे भी समुदाय बनाकर रहती हैं, और किसी सरदार के आदेशो का पालन करती हैं। इस दशा में यह कल्पना करना कि कोई ऐसा समय था, जबकि मनुष्य पूरी तरह से स्वतन्त्र था, जबकि पूर्ण-

रूप से अराजक दशा थी, युक्तिसगत नही है ।

(२) मनुष्यो ने स्वय अपनी इच्छा से इकरार करके राज्य की उत्पत्ति की है, यह स्वीकार कर लेने का यह परिणाम होगा कि यदि कोई मनुष्य चाहे तो वह राज्य-सस्था मे शामिल होने से इन्कार भी कर सकता है। वह कह सकता है, कि मैं इस इकरार से सहमत नही हूँ, अत मैं राज्य द्वारा बनाये गए कानूनो को मानने से इन्कार करता हूँ। पर यह बात सम्भव नही है, क्योंकि कोई मनुष्य राज्य-सस्था से पृथक् होकर नही रह सकता। बर्क ने ठीक लिखा था—"यह नही समझना चाहिए कि मिर्च-मसाले, काफी, तमाखू या इसी तरह की अन्य वस्तुओ के व्यापार के लिए इकरार द्वारा जो साझेदारियाँ की जाती हैं, राज्य भी उसी तरह की एक साझेदारी है, जिसे कि लोगो की इच्छा के अनुसार बर्खास्त किया जा सकता है।"

(३) राज्य-सस्था के अभाव मे कोई भी इकरार मुमकिन नहीं हो सकता। किसी इकरार के लिए यह भी आवश्यक है, कि उसका पालन करानेवाली कोई शक्ति भी विद्यमान हो।

(४) इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य मनुष्यो द्वारा बनाई हुई एक कृत्रिम सस्था है। यह बात सही नही है, क्योंकि मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह समुदाय बनाकर रहे। इसी स्वभाव के कारण ही उसने शुरू से ही समुदाय बनाकर रहना शुरू किया, और धीरे-धीरे विकास द्वारा राज्य की उत्पत्ति हुई।

विकासवादी सिद्धान्त (Evolutionary Theory)—

राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे जो सिद्धान्त आजकल स्वीकृत किया जाता है, उसे ऐतिहासिक या विकासवादी सिद्धान्त कहते हैं। इसके अनुसार राज्य की उत्पत्ति किसी निश्चित समय पर या किसी निश्चित योजना के अनुसार नही हुई है। राज्य ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसका स्वभाव है, कि समुदाय बनाकर रहे। जैसे बोलना, विचार करना और वाणी द्वारा अपने विचारो को प्रकट करना मनुष्य की प्रकृति (Nature) है, वैसे ही समुदाय बनाकर रहना भी है। एक समय था, जब मनुष्य की भाषा भी बहुत अविकसित थी। ससार मे अब भी ऐसे मनुष्य हैं, जिनकी भाषा का शब्द-कोष कुछ सौ शब्दो से अधिक नही है। भाषा का विकास धीरे-धीरे हुआ। ठीक यही बात राज्य के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है।

प्रारम्भ के मनुष्य भी समुदाय बनाकर रहा करते थे। अफ्रीका व आस्ट्रेलिया के जगलो मे जो असभ्य लोग आजकल बसते हैं, वे भी एक प्रकार के समुदाय (Pack या रेवड) बनाकर रहते हैं। समुदाय बनाकर रहने की इस प्रकृति का ही यह परिणाम हुआ, कि धीरे-धीरे मनुष्यो ने राज्य का विकास किया। पहले मनुष्य परिवार मे

सगठित हुआ, फिर जन या कबीले (Tribe) मे। जब यह कबीला किसी एक स्थान पर स्थिर रूप से बस गया, तो जनपद या राज्य का विकास हुआ। छोटे छोटे जनपदो से बडे राज्य विकसित हुए। इस प्रकार राज्य मनुष्यो के सामुदायिक जीवन के विकास का ही परिणाम है।

राज्यसस्था के विकास मे सहायक तत्त्व (Factors in State Building)

राज्य सस्था के विकास मे जिन तत्त्वो ने सहायता दी, वे निम्नलिखित हैं—

(१) **सजातता** (Kinship)—जो लोग अपने को सजात समझते हों, उनमें परस्पर साथ मिलकर रहने की प्रवृत्ति होती है। इसी के कारण बडे कुलो व जनों (कबीलों) का सगठन हुआ।

(२) **धर्म की एकता**—सजातता या खून की एकता के कारण जो साथ रहने की प्रवृत्ति पैदा हुई, उसे धर्म की एकता ने और अधिक दृढ किया। शुरू मे कबीले आदि के रूप मे मनुष्यों के जो समुदाय बने, वे एक देवी देवताओ की ही पूजा किया करते थे।

(३) **आर्थिक आवश्यकताएँ**—अपनी आर्थिक आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए यह जरूरी होता है, कि लोग परस्पर सहयोग से काम करें। जब मनुष्य शिकार द्वारा अपना निर्वाह करते थे, तब भी वे शिकार को बाँटते हुए किन्ही नियमो का पालन किया करते थे। ज्यो-ज्यो वे पशुपालन, कृषि आदि कार्य करने लगे, उनके लिए इन नियमो का पालन और भी अधिक आवश्यक हो गया। इन नियमो के लिए किसी सगठन मे सगठित हो जाना उनके लिए बहुत उपयोगी हो गया।

(४) **युद्ध**—मनुष्यो के विविध कबीलो मे लडाई भी होती रहती थी। युद्ध के समय मे कबीले किसी नेता की अधीनता मे रहकर लडाई करना उपयोगी समझते थे। लडाई खतम हो जाने पर भी इस नेता का महत्त्व कायम रहता था।

(५) **राजनीतिक चेतना**—मनुष्य एक विचारशील प्राणी है। वह इस बात को भली भाँति समझता है, कि अपनी रक्षा व उन्नति के लिए सगठन बनाकर रहना बहुत उपयोगी है। इस ज्ञान ने, जिसे राजनीतिक चेतना कह सकते हैं, राज्य के विकास मे बहुत सहायता पहुँचाई।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे मुख्य सिद्धान्त कौन से हैं। (यू० पी० १९४०)

२ सामाजिक सविदा के सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं? उसकी आलोचना कीजिए। (यू० पी० १९४६)

३ 'हमें राज्य को धीरे-धीरे विकास का परिणाम समझना चाहिए,' इस मत को स्पष्ट रूप से समझाइए। (यू० पी० १९४५)

४ 'राज्य विकास का परिणाम है, वह कृत्रिम नहीं है,' इस कथन की विवेचना कीजिए। (राजपूताना १९५१)

५ राज्य की उत्पत्ति के विषय में हॉब्स, लॉक और रूसो के विचारों का निदर्शन, उनकी तुलना और आलोचना कीजिए। (राजपूताना १९४८)

६. राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विकासवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन कर उन बातों का निर्देश कीजिए, जिन्होंने राज्य के निर्माण में हाथ बटाया है।

७ राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विविध मतों का उल्लेख कर यह बताइए कि आपकी सम्मति में कौन सा सिद्धान्त स्वीकार्य है।

तेरहवाँ अध्याय

राज्य का कार्यक्षेत्र

(The Functions of the State)

राज्य के क्या-क्या कार्य होने चाहिएँ, यह प्रश्न बड़े महत्त्व का है। इस विषय मे मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित है—

(१) व्यक्तिवाद (Individualism),

(२) समाजवाद (Socialism),

(३) आदर्शवाद (Idealism)।

हम इन तीनो सिद्धान्तो पर क्रमश सक्षेप से प्रकाश डालेंगे।

व्यक्तिवाद (Individualism)

व्यक्तिवादी विचारक यह मानते हैं कि राज्य एक आवश्यक बुराई (Necessary evil) है। उसकी आवश्यकता अवश्य है, पर एक ऐसी बुराई के तौर पर, जिसका रहना अनिवार्य है। इस दशा मे राज्य का क्षेत्र कम से-कम होना चाहिए। देश मे अमन-चैन कायम रखने और विदेशी हमलो से देश की रक्षा करने के लिए जो बातें आवश्यक हों, उन्ही को राज्य का कार्यक्षेत्र समझना चाहिए। राज्य की आवश्यकता इसलिए है, क्योकि अभी मनुष्यो मे बहुत से दोष हैं। वे सबके लाभ की अपेक्षा स्वार्थ को अधिक महत्त्व देते हैं। यदि सब मनुष्य स्वार्थ के मुकाबिले मे सबके लाभ को अधिक महत्त्व देने लगे, तो राज्य की आवश्यकता ही न रहे। उस दशा में कोई आदमी अपराध ही क्यो करेगा? जब अपराध न रहेंगे, तो राज्य की जरूरत ही क्यों रहेगी।

इसलिए व्यक्तिवादियो का यह कहना है, कि राज्य का कार्य केवल यह होना चाहिए कि वह अमन-चैन बनाए रखे और शत्रुओ के हमलो से देश की रक्षा करे। आज कल के राज्यो की ओर से जो, रेलवे, मोटर, हवाई जहाज आदि चलाये जाते हैं, डाक तार, टेलीफोन, रेडियो आदि का सचालन किया जाता है, स्कूल, कालिज और अस्पताल खोले जाते हैं, कारखाने आदि चलाए जाते हैं, और व्यापार व व्यवसाय मे हस्तक्षेप किया जाता है—यह सब अनुचित है। ये काम राज्य के नहीं हैं। इन कामो को अपने हाथ मे लेकर राज्य मनुष्यो की स्वतन्त्रता में रुकावट डालता है।

उग्र और सयत व्यक्तिवादी—व्यक्तिवादी विचारक दो प्रकार के हैं एक वे

जो अपने विचारो म बहुत उग्र हैं, दूसरे वे जो अपने विचारो मे संयत, मध्यमार्गी या उदार हैं।

उग्र व्यक्तिवाद का सबसे प्रबल समर्थक हर्बर्ट स्पेन्सर था। उसके अनुसार राज्य के कार्य केवल निम्नलिखित होने चाहिएँ—

(१) बाहर के शत्रुओं से राज्य की रक्षा करना।

(२) देश के अन्दर के शत्रुओ से मनुष्यो की रक्षा करना।

(३) कानून के अनुसार किये गए इकरारो का पालन कराना।

जनता के हित व उन्नति के लिए जो अनेक प्रकार के कार्य राज्य की ओर से किए जाते हैं, उग्र व्यक्तिवादियो के मत मे वे राज्य को नहीं करने चाहिएँ।

संयत या मध्यमार्गी विचारको मे जॉन स्टुअर्ट मिल सबसे प्रधान है। उसने मनुष्य के कार्यों को दो भागों में विभक्त किया है—

(१) वे कार्य जिनका सम्बन्ध केवल अपने साथ होता है।

(२) वे कार्य जिनका सम्बन्ध अपने सिवा अन्य व्यक्तियों से भी होता है।

मिल का मत है, कि राज्य को पहले प्रकार के कामो मे कोई हस्तक्षेप नही करना चाहिए। उनके विषय मे मनुष्यो को पूरी पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। पर दूसरे प्रकार के कामो मे राज्य को हस्तक्षेप करने का अधिकार है। मध्यमार्गी व्यक्तिवादियो के अनुसार राज्य के कार्य निम्नलिखित होने चाहिएँ—

(१) बाहर के शत्रुओं से राज्य की रक्षा करना।

(२) अन्दर के शत्रुओ से मनुष्यो की रक्षा करना, लूटमार को रोकना और उन लोगो का दमन करना, जो मनुष्यो की जान व माल को नुकसान पहुँचाते हो।

(३) प्रत्येक मनुष्य की अन्य सब मनुष्यों से रक्षा करना। कोई मनुष्य किसी अन्य मनुष्य के माल व जीवन को नुकसान न पहुँचा सके, इस बात की व्यवस्था करना।

(४) कानून के अनुसार किये गए इकरारो का पालन कराना और झूठे इकरारो से मनुष्यो की रक्षा करना।

(५) अपाहिज असहाय व असमर्थ लोगों की रक्षा व सहायता करना।

(६) महामारियो व अन्य विपत्तियों से मनुष्यो की रक्षा करना।

व्यक्तिवाद के मुख्य मन्तव्य—व्यक्तिवाद के मुख्य मन्तव्य निम्नलिखित हैं—

(१) राज्य एक साधन (Means) मात्र है, अपने-आप मे साध्य व उद्देश्य (End) नहीं है। उसकी स्थापना केवल इसलिए हुई है, ताकि मनुष्यों को उससे लाभ पहुँच सके। इस कारण उसे इतना अधिक महत्त्व नही देना चाहिए, कि उसके कारण मनुष्यों की स्वतन्त्रता मे रुकावट पैदा होने लगे।

(२) राज्य एक आवश्यक बुराई (Necessary evil) है। वह आवश्यक होते

हुए भी एक बुराई जरूर है। अत उसके कार्यक्षेत्र को कम-से-कम रखना चाहिए।

व्यक्तिवाद के पक्ष मे युक्तियाँ—

(१) हम देखते हैं, कि प्रकृति मे कुछ नियम काम कर रहे हैं। सूर्य नियम से उदय होता है और नियम से अस्त होता है। ऋतुएँ नियम से होती है। फसलो व फलो का पकना भी नियम से होता है। मनुष्य इन नियमो को जानकर इनसे लाभ उठा सकता है, पर इनके विरुद्ध जाने पर वह नुकसान ही उठाता है। इसी प्रकार आर्थिक क्षेत्र मे भी कुछ प्राकृतिक नियम काम कर रहे हैं। वस्तुओ की कीमतें माँग और उपलब्धि के नियम (Law of Demand and Supply) से तय होती है। मजदूरो की उजरत मे जो भेद है, उसका कारण भी प्राकृतिक नियम ही हैं। मनुष्य का हित इसी मे है, कि वह आर्थिक जीवन के इन नियमो का ज्ञान प्राप्त करे और इनका उल्लघन न करे।

जब राज्य आर्थिक जीवन मे हस्तक्षेप करता है, मजदूरो के कार्य करने का समय, उनकी मजदूरी की दर आदि को निर्धारित करने का प्रयत्न करता है, तो वह प्राकृतिक नियमो मे हस्तक्षेप कर रहा होता है। इससे मनुष्यो का कभी हित नहीं हो सकता। अत राज्य को चाहिए कि आर्थिक मामलो मे 'खुला छोड दो, जैसा होना है होने दो' की नीति का अनुसरण करे, और उनमे किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप न करे।

(२) विज्ञान का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है, कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे सघर्ष होता रहता है। इस सघर्ष मे कमजोर नष्ट हो जाते है, और बलवान् जीवित रहते हैं। कमजोर वृक्ष स्वय सूख जाते है। जगल म केवल वे वृक्ष ही रहने पाते है, जिनमे जीवनशक्ति अधिक हो। इसी को 'सबसे समर्थ के बचे रहने' (Survival of the fittest) का सिद्धान्त कहा जाता है। मनुष्यो मे भी यही सिद्धान्त काम करता है। हम देखते है कि कुछ मनुष्य बुद्धि, बल व योग्यता से शून्य होते है, और कुछ मे ये गुण बहुतायत से होते हैं। यह स्वाभाविक है, कि बलवान् और बुद्धिमान् लोगो के सामने कमजोर और मूर्ख लोग न टिक सके। इस दशा मे राज्य क्यो यह कोशिश करे कि अयोग्य और निर्बल लोग भी समाज मे विद्यमान रहें, और उन्हें व्यर्थ अनेक प्रकार से सहायता दे।

(३) प्रत्येक मनुष्य को अपने विकास के लिए पूरा पूरा अवसर दिया जाना चाहिए। कोई मनुष्य अपना विकास तभी भली भाँति कर सकता है, जब राज्य उसके उचित कार्यो मे कोई हस्तक्षेप न करे। मनुष्य जैसे चाहे शिक्षा पाए, जैसे चाहे रोजगार करे। सब मनुष्यो की योग्यता एक जैसी नही होती। सबकी रुचि भी अलग-अलग होती है। इसलिए सबको अपनी योग्यता व रुचि के अनुसार अपना

विकास करने का पूरा अवसर मिलना चाहिए।

व्यक्ति अपना विकास तभी कर सकते हैं, जब उनमें खुली प्रतिस्पर्धा (Open Competition) हो। खुली प्रतिस्पर्धा होने पर सब कोई अपनी उन्नति कर सकते हैं। राज्य जब अपने कानूनों द्वारा व्यवसाय व व्यापार में हस्तक्षेप करने लगता है, तो खुली प्रतिस्पर्धा का हो सकना मुमकिन नहीं रहता।

(४) राज्य को रेल, तार, डाक आदि का सञ्चालन नहीं करना चाहिए, और न ही अपनी ओर से कोई कल-कारखाने ही खोलने चाहिए। जो लोग यह समझते हैं कि सरकार सब प्रकार के काम कर सकती है, वे भूल करते हैं। हमारे शरीर में फेफड़े आमाशय का काम नहीं कर सकते, और पेट हाथ-पैर का काम नहीं कर सकता। इसी तरह से सरकार भी व्यवसायों का सञ्चालन नहीं कर सकती। राज्य का संगठन राजनीतिक दृष्टि से होता है, उसका नेतृत्व उन्हीं लोगों के हाथों में रहता है, जो राजनीतिज्ञ हों। यह जरूरी नहीं कि ये लोग व्यापार व्यवसाय आदि में भी कुशल हों। ये सब कार्य मनुष्यों के अन्य समुदायों के हाथों में रहने चाहिएँ।

व्यक्तिवाद की आलोचना—

(१) राज्य को एक आवश्यक बुराई मानना ठीक नहीं है। यदि मनुष्य पूरी तरह से सदाचारी हो जाए और कभी कोई अपराध न करे, तो भी मनुष्यों की सामूहिक उन्नति के लिए राज्य की आवश्यकता रहेगी ही। समुदाय बनाकर रहना मनुष्य का स्वभाव है, और वह परस्पर सहयोग द्वारा ही अपनी उन्नति करता है। अरिस्टोटल ने ठीक कहा था—"राज्य की उत्पत्ति जीवन के लिए हुई थी, पर उसकी सत्ता अधिक उत्तम जीवन के लिए रहती है।"

(२) सभ्यता के विकास के साथ-साथ यह जरूरी होता जाता है, कि राज्य मनुष्यों के कार्यों में अधिक हस्तक्षेप करने लगे। यदि यह भी मान लिया जाए, कि मनुष्यों को उन बातों में पूर्ण स्वतन्त्र होना चाहिए, जिनका सम्बन्ध केवल उनके अपने साथ हो, तो भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता, कि सभ्यता की उन्नति की वर्तमान दशा में ऐसे कार्य बहुत कम रह गए हैं, जिनका प्रभाव दूसरों पर न पड़े। एक आदमी अपने घर की गन्दगी साफ करके कूड़े को बाहर फेंक देता है। यह उसका अपना व्यक्तिगत कार्य है। पर यदि घर के बाहर गन्दगी का ढेर लगा हो, तो पड़ोस के लोगों को उससे नुकसान पहुँच सकता है। इस दशा में सरकार को यह नियम बनाना होगा, कि कोई आदमी कूड़े को गली या सड़क में न फेंक सके। कारखानों की बात को लीजिए। एक मिल-मालिक ऐसे मकान में मशीनें लगाता है, जिससे धुआँ या बदबू बाहर नहीं निकलने पाती। वहाँ जो मजदूर काम करते हैं, उनके स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है। इस दशा में सरकार को यह कानून बनाना ही चाहिए, कि

कारखानो की इमारतें इस ढग की हो, जिससे मजदूरो के स्वास्थ्य की रक्षा हो सके।

(३) यह विचार गलत है, कि राज्य-सस्था स्वतन्त्रता की विरोधी है। राज्य के कारण मनुष्यो की स्वतन्त्रता नष्ट नही होती, अपितु सबको यह मौका मिलता है कि वे शक्तिशाली लोगो के अनुचित दबाव से छुटकारा पाकर स्वतन्त्रता के साथ उन्नति कर सकें।

(४) सरकार व्यापार, व्यवसाय, शिक्षा आदि के कार्य भली भाँति नही कर सकती, इस बात को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। सरकार का असली कार्य वे स्थिर कर्मचारी ही करते हैं, जो अपने-अपने काम मे निपुण होते हैं। जिस प्रकार कारखानो के मालिक इन्जीनियर, कैमिस्ट आदि विशेषज्ञो (Experts) को वेतन देकर उनसे काम कराते है, वैसे ही सरकार भी करा सकती है।

(५) 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस' 'सबसे समर्थ के बचे रहने' (Survival of the fittest) के सिद्धान्त जगली दशा या पाशविक जीवन के सिद्धान्त हैं। मनुष्य एक बुद्धिमान् व विवेकशील प्राणी है। वह यह कभी नही चाहता, कि निर्बल लोग नष्ट हो जाएँ। वह समाज मे इस ढग मे रहना चाहता है, कि सब साथ रहे और सब मिलकर अपनी उन्नति कर। यदि मनुष्यो के लिए भी 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस' के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाय, तो केवल वे ही लोग बच पाएँगे, जो बहुत बलवान् हो या जो उचित-अनुचित सब प्रकार के उपायो का प्रयोग कर दूसरो का शोषण करने मे समर्थ हो।

इन्ही कारणो से आज के सभ्य उन्नत राज्यो मे व्यक्तिवाद का पूर्ण रूप से अनुसरण नही किया जाता। वर्तमान समय के राज्य अपना कर्तव्य केवल यही नहीं समझते कि देश मे अमन-चैन कायम रखें और विदेशी हमलो से राज्य की रक्षा करें। वे ऐसे अनेक कार्य भी करते हैं, जिनसे मनुष्यो का हित व कल्याण हो।

समाजवाद (Socialism)—

समाजवाद एक विशाल विचारधारा है। इसके अन्तर्गत बहुत-से सम्प्रदाय हैं, जिनमे मुख्य निम्नलिखित है—(१) कम्युनिज्म, (२) राजकीय समाजवाद (State Socialism), (३) सिन्डिकलिज्म (Syndicalism) और, (४) गिल्ड सोशलिज्म (Guild Socialism)। इन सब पर अलग-अलग विचार करने की यहां आवश्यकता नही है। जिन बातो पर सब समाजवादी सम्प्रदाय एकमत है, वे निम्नलिखित हैं—

(१) व्यक्ति के मुकाबिले मे समाज का अधिक महत्त्व है। अत सबके हित के सम्मुख एक व्यक्ति के लाभ को तुच्छ समझना चाहिए। इसी बात को यो भी कहा जा सकता है, कि हमे केवल अपनी उन्नति से ही सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए, अपितु सबकी उन्नति मे ही अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

(२) पूंजीपति लोग अपने धन के कारण मजदूरो का शोषण करने मे समर्थ हो जाते हैं, और उन्हे अपनी मेहनत का उचित पारिश्रमिक (उजरत) नही प्राप्त करने देते। इसलिए ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए, जिससे या तो पूंजीवाद (Capitalism) का अन्त हो जाए, और या सरकारी कानूनों द्वारा पूंजीपतियो को इस बात के लिए विवश किया जाए कि वे मजदूरो का शोषण न कर सकें। इसके लिए जरूरी है, कि सम्पत्ति के उत्पादन (Production) और वितरण (Distribution) पर सरकार का नियन्त्रण हो।

(३) समाजवाद खुली प्रतिस्पर्धा (Open Competition) के बजाय सहयोग (Co-operation) पर विश्वास करता है। जब पूंजीपति लोग पूर्ण स्वतन्त्रता से आर्थिक उत्पादन करते है, तो वे प्रतिस्पर्धा के कारण विज्ञापनबाजी, माल की किस्म को हल्का कर देना आदि अनेक अनुचित उपायो को प्रयोग मे लाते है। इस प्रतिस्पर्धा के स्थान पर ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए, जिससे सब उत्पादक (Producers) आपस मे सहयोग से काम करें।

(४) समाजवाद गरीब और अमीर के भेद व आर्थिक विषमता को दूर कर समानता की स्थापना का पक्षपाती है। इसके लिए समाजवादी यह चाहते हैं, कि सब लोगो को शिक्षा व योग्यता प्राप्त करने का समान अवसर मिले, और फिर सबको अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार कार्य मिले। यह ठीक है, कि 'पांचो उँगलियां एक बराबर नही होती', सब मनुष्य भी योग्यता मे एक समान नहीं होते। इस कारण उनकी आमदनी मे भी अन्तर रहेगा ही। पर यदि सबको योग्यता प्राप्त करने का समान अवसर मिले, सब अपनी योग्यता के अनुरूप काम पा सकें और कोई किसी का शोषण न कर सकें, तो वह आर्थिक विषमता नहीं रह जायगी, जो आजकल दिखाई देती है।

समाजवादी व्यवस्था—समाजवादी लोग जिस ढग की व्यवस्था कायम करना चाहते हैं, उसकी मुख्य बातें निम्नलिखित हैं—

(१) उत्पत्ति के सब साधनों पर राज्य का स्वामित्व व नियन्त्रण रहे। जमीन राज्य की सम्पत्ति हो, कल-कारखाने, खानें व अन्य बड़े व्यवसाय भी राज्य के अधिकार मे रहे।

(२) मजदूरी की दर मांग और उपलब्धि के नियम (Law of Demand and Supply) द्वारा निश्चित न हो, अपितु मजदूरी की दर निश्चित करते हुए न्याय और औचित्य को ध्यान मे रखा जाए।

(३) खुली प्रतिस्पर्धा न रहे। किसी व्यापार व व्यवसाय मे केवल उतने ही लोग काम करें, जितने उसके लिए आवश्यक हो। सरकार यह निश्चय करे, कि कौन सा माल कितनी मात्रा मे उत्पन्न किया जाए और किस कारखाने मे किस ढंग का

माल तैयार हो। जनता की आवश्यकताओं को दृष्टि मे रखकर आर्थिक उत्पत्ति की जाए, केवल मुनाफे के लिए नही।

(४) व्यक्तिगत मुनाफे के स्थान पर सार्वजनिक सेवा व सबकी आवश्यकता के सिद्धान्त को काम मे लाया जाए।

समाजवाद के अनुसार राज्य का कार्यक्षेत्र—जहाँ व्यक्तिवाद राज्य के कार्य-क्षेत्र को कम-से-कम रखने का पक्षपाती है, वहाँ समाजवाद के अनुसार उसके कार्य-क्षेत्र की कोई सीमा व मर्यादा नही होनी चाहिए। राज्य का कार्य केवल यही नहीं है, कि वह देश मे अमन चैन कायम रखे और विदेशी शत्रुओं के हमलों से देश की रक्षा करे, उसका यह भी कर्तव्य है, कि मनुष्यो के हित, लाभ और कल्याण के लिए जो कोई भी काम उपयोगी या आवश्यक हो, उन सबको करे। यदि जमीन को व्यक्तियो की मल्कियत मे न रखना और उसे राज्य के स्वामित्व मे ले आना सार्वजनिक लाभ की दृष्टि से उपयोगी समझा जाए, तो राज्य को ऐसा करने मे ज़रा भी सकोच नहीं करना चाहिए। यही बात खानो कल कारखानो और उत्पत्ति के अन्य साधनो के विषय मे है। शिक्षा का प्रसार करना, स्वास्थ्य-रक्षा के लिए सफाई व चिकित्सा का प्रबन्ध करना आदि तो राज्य के काम होने ही चाहिएँ पर साथ ही जनता की भलाई व उन्नति के लिए आर्थिक जीवन को नियन्त्रित करना भी राज्य को अपना कर्तव्य समझना चाहिए।

आर्थिक मामलो के विषय मे राज्य किस नीति का अनुसरण करे, इस प्रश्न पर समाजवाद के सब सम्प्रदाय एकमत नही हैं। एक ओर जहाँ कम्युनिस्ट लोग आर्थिक उत्पत्ति के सब साधनो को राज्य के स्वामित्व मे ले आना चाहते है, वहाँ अन्य समाजवादी इतने मे ही सतुष्ट हैं, कि राज्य की ओर से ऐसे कानून बना दिये जाएँ, जिनके कारण पूँजीपति लोग मजदूरो का शोषण न कर सक।

समाजवाद की आलोचना—

व्यक्तिवाद के पक्ष मे जो युक्तियाँ पेश की जाती हैं, उन्हे समाजवाद के विरुद्ध प्रयुक्त किया जा सकता है। समाजवाद के विरोध मे मुख्य युक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

(१) मनुष्य इसलिए मेहनत करता है, ताकि उसका फल भी उसे मिले। लोग जो पैसा कमाने के लिए कडी मेहनत करते है, व्यापार के लिए दूर दूर तक भटकते फिरते है, नये आविष्कार करते हैं, और कल-कारखानो के लिए योजनाएँ बनाते हैं, उसका मूल कारण यही है कि वे अधिक धन प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं। समाजवादी व्यवस्था मे मनुष्यो को मेहनत करने और अपनी सूझ-बूझ से काम लेकर नये उद्योग प्रारम्भ करने की प्रेरणा नष्ट हो जाती है। उसमे बुद्धिमान्, परि-श्रमी और योग्य मनुष्यो की स्थिति प्राय वही रहती है, जो मूर्खों, आलसियो और

अयोग्य मनुष्यों को।

(२) समाजवादी लोग राज्य से इतने और इतने प्रकार के काम लेना चाहते हैं, जो उसकी शक्ति में नहीं होते। राज्य सर्वशक्तिमान् नहीं है, जो सब कामों को सँभाल सके।

(३) राज्य द्वारा व्यापार, व्यवसाय, कृषि आदि के संचालन का परिणाम यह होगा, कि राजकर्मचारी वर्ग (Bureaucracy) की शक्ति बहुत बढ़ जायगी। रिश्वत, पक्षपात आदि के जो दोष आजकल भी सरकारी कर्मचारियों में पाये जाते हैं, वे आर्थिक क्षेत्र में भी उत्पन्न हो जाएँगे, और इसका परिणाम आर्थिक उत्पत्ति के लिए अच्छा नहीं होगा।

(४) समाजवाद मनुष्यों की मनोवृत्ति के अनुकूल नहीं है। मनुष्य का यह स्वभाव है, कि वह अपने व्यक्तिगत हित को अधिक महत्त्व दे। पर समाजवाद यह मानकर चलता है, कि मनुष्य व्यक्तिगत हित की अपेक्षा सार्वजनिक हित को अधिक महत्त्व देता है।

(५) समाजवादी व्यवस्था में मनुष्य की स्थिति बड़ी मशीन में एक छोटे-से पुर्जे के समान रह जायगी, उसकी स्वतन्त्रता नष्ट हो जायगी, और वह प्रत्येक बात में दूसरों पर निर्भर हो जाएगा।

समाजवाद का भविष्य—

वर्तमान समय में समाजवाद की शक्ति निरन्तर बढ़ रही है। रूस, चीन, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया आदि कितने ही देशों में कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित हो चुकी है। कम्युनिज्म समाजवाद का सबसे उग्र रूप है। इंगलैण्ड का मजदूर दल भी समाजवाद में विश्वास रखता है। वहाँ उसकी शक्ति निरन्तर बढ़ रही है। फ्रांस, इटली आदि अन्य कितने ही देशों में अनेक राजनीतिक दल समाजवाद के विविध सम्प्रदायों के अनुयायी हैं। भारत में जहाँ कम्युनिस्ट और प्रजा सोशलिस्ट पार्टियाँ संगठित हैं, वहाँ कांग्रेस ने भी 'समाजवादी व्यवस्था' को कायम करना अपना आदर्श बनाया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि संसार में समाजवाद का प्रचार निरन्तर बढ़ रहा है। समाजवाद को किसी न किसी रूप में अपनाना अब प्रायः सभी देशों के लिए आवश्यक हो गया है। इसके कारण निम्नलिखित हैं—

(१) उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक व्यक्तिवाद बहुत प्रबल था। उसके कारण पूँजीपति लोग मजदूरों का मनमाने तरीके से शोषण कर सकते थे। वे मानव श्रम को भी एक 'वस्तु' (Commodity) समझते थे, जिसकी कीमत 'माँग और उपलब्धि' के नियम द्वारा निश्चित होती थी। इससे मजदूरों के प्रति घोर अन्याय होता था। यदि धनी व शक्तिशाली लोगों से साधनहीन व निर्धन मजदूरों की रक्षा न की जाए,

तो उनकी स्थिति दासो से अच्छी नही रह जायगी। यदि राज्य मनुष्यो का एक ऐसा समुदाय है, जिसका प्रयोजन व्यक्तियो के हितो की रक्षा करना है, तो आर्थिक क्षेत्र मे भी उसका यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह पूँजीपतियो के शोषण से मजदूर-वर्ग की रक्षा करे।

(२) आधुनिक युग मे ज्ञान-विज्ञान का जिस ढग से विकास हुआ है, उसके कारण बहुत-से ऐसे यन्त्रो का आविष्कार हो गया है, जो बहुत अधिक उत्पत्ति करते हैं। उत्पत्ति के इन साधनो पर यदि कुछ व्यक्तियो का स्वामित्व रहे, और वे अपनी इच्छा के अनुसार अपने स्वार्थ के लिए इनका उपयोग कर सके, तो मानव समाज का कभी कल्याण नही हो सकता।

(३) शिक्षा के प्रसार के कारण अब गरीब लोग अपनी गरीबी को न ईश्वर की इच्छा मानकर सन्तोष करते हैं, और न अपने कर्मों का फल समझकर। अब वे इसके लिए समाज के दूषित सगठन को जिम्मेवार मानते हैं। वे सोच समझकर समाज के सगठन मे ऐसे परिवर्तन करना चाहते है, जिनसे आर्थिक विषमता दूर हो सके।

(४) समाजवाद पर जो आक्षेप किये जाते है, उनका उत्तर भी इस विचार-धारा के अनुयायियो द्वारा दिया जाता है। उनका कहना है, कि समाजवाद मे यह जरूरी नही है, कि सबकी आमदनी एक समान हो। मनुष्यो की योग्यता के अनुसार आमदनी म भेद रहने से कोई हानि नही। पर सबको योग्यता प्राप्त करने का समान अवसर मिलना चाहिए, और प्रत्येक मनुष्य को अपनी योग्यता के अनुरूप काम करने व आमदनी प्राप्त करने का भी मौका मिलना चाहिए। समाजवादी यही चाहते हैं, कि आमदनी मे भेद का आधार योग्यता का भेद हो, किसी को दूसरो का शोषण करने का अवसर न मिले, और कोई अनुपार्जित आमदनी (Unearned income) न प्राप्त कर सके। भूमि, खान, मशीनरी आदि पर व्यक्तियो का स्वामित्व होने के कारण ये व्यक्ति ऐसी आमदनी प्राप्त करने मे समर्थ हो जाते है, जो इन द्वारा उपार्जित नही की जाती। समाजवाद श्रम को ही आमदनी का प्रधान आधार मानता है। यह सही है, कि राज्य सर्वशक्तिमान् नही है। पर समाजवाद के अनुसार राज्य को जो काम करने हैं, वे सब मनुष्यो को ही करने हैं। जो मनुष्य जिस कार्य के योग्य होगा, राज्य द्वारा उसे उसी कार्य को करने के लिये नियत किया जायगा। भेद केवल इतना होगा, कि राज्य द्वारा आर्थिक जीवन का सचालन होने पर कोई किसी का शोषण नही कर सकेगा। समाजवाद मनुष्यो की मनोवृत्ति के प्रतिकूल नही है, क्योंकि उससे जहां मनुष्यो के सार्वजनिक हितो का साधन होता है, वहां व्यक्तिगत हितो को भी कोई हानि नही पहुँचती। उसमे भी योग्य व्यक्तियो को ऊँचे पद पाने और अधिक वेतन पाने का अवसर मिलता है।

राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध मे आदर्शवादी सिद्धान्त (Idealistic Theory of State Functions)—

राज्य का कार्यक्षेत्र क्या हो, इस सम्बन्ध मे एक अन्य सिद्धान्त भी है, जिसे आदर्शवाद (Idealism) कहते हैं। इसके प्रतिपादकों मे टी० एच० ग्रीन का नाम बहुत प्रसिद्ध है। उनका मत है, कि राज्य का कार्य यह है कि वह उत्तम जीवन के मार्ग की बाधाओं को दूर करे (To hinder the hindrances of good life)। राज्य से मनुष्य यह आशा करता है, कि वह स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी उन्नति कर सके और अपने हित व कल्याण का साधन कर सके। पर ऐसा करते हुए उसके मार्ग म अनेक बाधाएँ आती हैं। ये बाधाएँ शिक्षा का अभाव, गरीबी, नशे की आदत आदि हैं। यदि कोई आदमी शिक्षित न हो, तो वह न अपना लाभ हानि को भली भाँति समझ सकता है, और न अपनी उन्नति ही कर सकता है। राज्य शिक्षा का प्रसार कर मनुष्यों के उन्नति के मार्ग की इस बाधा को दूर कर सकता है। गरीबी भी मनुष्य की उन्नति म बहुत बड़ी बाधा है। गरीब मनुष्य न उन अधिकारो का प्रयोग कर सकता है जो राज्य ने उसे प्रदान किये हैं, और न सम्मानपूर्वक अपना जीवन ही बिता सकता है। वह अपना वोट तक किसी धनी व प्रभावशाली व्यक्ति के प्रभाव मे आकर उसके कहने के अनुसार दे देता है। गरीबी मनुष्य को दीन व असहाय बना देती है। गरीब मनुष्य की सारी शक्ति अपने पेट की ज्वाला को शान्त करने मे ही लग जाती है। कला संगीत, साहित्य आदि की तरफ उसका ध्यान जा ही नहीं सकता। राज्य ऐसी व्यवस्था कर सकता है, जिसमे गरीबी दूर हो और सब मनुष्य इतनी आमदनी अवश्य प्राप्त कर सकें, जो उनकी न्यूनतम आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए पर्याप्त हो।

इसी प्रकार राज्य यह यत्न कर सकता है, कि शराबखोरी, बालविवाह, परदा आदि की कुरीतियों को दूर किया जाए। ये सब प्रथाएँ मनुष्य की उन्नति व योगक्षेम मे बाधक होती हैं। अत इनको दूर कर उन्नति के मार्ग को निष्कण्टक बनाना राज्य का कर्तव्य है।

आदर्शवाद व्यक्तिवाद और समाजवाद के बीच का मार्ग है। वह राज्य को आवश्यक बुराई (Necessary evil) न मानकर उसे एक प्राकृतिक व नैसर्गिक संस्था मानता है। राज्य के कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध मे उसके मुख्य मन्तव्य निम्नलिखित हैं—

(१) मनुष्य की उन्नति के मार्ग में जो बाधाएँ उपस्थित हों, उन्हें दूर करना राज्य का प्रधान कार्य है। कौन-सा कार्य राज्य को करना है और कौन सा नहीं, इसका निर्णय करने के लिए यही सबसे उत्तम कसौटी है।

(२) देश मे अमन चैन कायम रखना और विदेशी हमलों स देश की रक्षा करना तो राज्य के कार्य हैं ही, क्योंकि ऐसा न करने से मनुष्य कभी अपनी उन्नति नहीं कर सकेंगे। पर साथ ही राज्य को वे सब कार्य भी करने चाहिएँ, जिनके कारण

मनुष्यो को उन्नति का मार्ग निष्कण्टक बनता हो।

(३) राज्य को आर्थिक जीवन का स्वय सचालन नही करना चाहिए। पर वह मजदूरो की भलाई के लिए कानून बना सकता है। यदि पूँजीपति लोग मजदूरो का मनमाने तरीके से शोषण कर सकें, तो इससे मजदूरो की उन्नति मे बाधा उपस्थित होती है। अत राज्य फैक्टरी कानून बनाकर पूँजीपतियो को इस बात के लिए विवश कर सकता है, कि वे मजदूरो का शोषण न करें और उनके प्रति न्याय व औचित्य का बरताव करे।

आदर्शवाद की आलोचना—आदर्शवाद की आलोचना इस आधार पर की जाती है, कि राज्य के लिए केवल यही पर्याप्त नहीं है, कि वह मनुष्यो की उन्नति के मार्ग मे जो बाधाएँ आती हैं, उन्हे दूर करे। राज्य को वे सब कार्य भी करने चाहिएँ, जिनमे जनता का हित व कल्याण होना हो। राज्य मनुष्यो का सबसे उत्कृष्ट समुदाय है। उसका सगठन मनुष्यो ने अपने लाभ के लिए व उत्कृष्ट जीवन बिताने के लिए किया है। जो कार्य भी मनुष्यो के लाभ, हित व उत्कर्ष मे सहायक हो, उन सबकी व्यवस्था करना राज्य का कर्तव्य है। बाधाओ को दूर करना एक नकारात्मक (Negative) कार्य है। राज्य को जहाँ बाधाओ को दूर करना चाहिए, वहाँ साथ ही ऐसे सब कार्य भी करने चाहिएँ, जो मनुष्य के कल्याण व उन्नति मे सहायक हो।

राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध मे आधुनिक सिद्धान्त (The Modern Theory of the Functions of the State)

राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध मे जो सबसे अधिक आधुनिक सिद्धान्त है, उसे सक्षेप से इस प्रकार लिख सकते है—

(१) राज्य के कार्य दो प्रकार के हैं, अनिवार्य और ऐच्छिक।

(२) अनिवार्य कार्य ये हैं —(क) देश मे शान्ति और व्यवस्था कायम रखना (ख) बाहरी आक्रमणों से देश की रक्षा करना, और (ग) न्याय व्यवस्था अर्थात् मनुष्यो के आपसी झगडो और राज्य व व्यक्तियो के विवादो को निबटाना।

(३) ऐच्छिक कार्य वे है, जिन्हे किये बिना राज्य की सत्ता कायम रह सकती है, पर जिन्हे करना मनुष्यो के कल्याण और उन्नति के लिए उपयोगी है। ये कार्य राज्य के नागरिको को सुखी, समृद्ध व उन्नत बनाने मे सहायक होते हैं। इसी कारण आजकल के प्राय सभी राज्य इन्हे करते हैं। ये कार्य है, शिक्षा, आर्थिक उन्नति का प्रयत्न, सार्वजनिक हित के कार्यों का सम्पादन, सामाजिक सुधार, सफाई और स्वास्थ्य-रक्षा, निर्धन तथा अपाहिजो की रक्षा, मुद्रा पद्धति का सचालन, यातायात व सचार के साधनों की व्यवस्था और इसी प्रकार के अन्य कार्य।

(४) राज्य को यह यत्न करना चाहिए, कि उसके द्वारा जनता के कल्याण व

हितो का सम्पादन हो, और वह सच्चे अर्थों मे लोकहितकारी बन सके।

हम इस सिद्धान्त पर अगले अध्याय मे विस्तार से प्रकाश डालेगे।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ उन कार्यों का उल्लेख कीजिये, जो आजकल के राज्यो द्वारा किये जाते हैं। आपके विचार मे उनमें से कौन से कार्य प्रधान हैं और क्यो? (यू० पी० १९४१)

२ राज्य के कार्यों के सम्बन्ध मे व्यक्तिवादी सिद्धान्त का वर्णन कीजिये और उसकी आलोचना कीजिये। (यू० पी० १९४१ १९४२,)

३ राज्य के मुख्य कार्यों का वर्णन व विवेचना कीजिये। (यू० पी० १९४३)

४ राज्य को निर्धनो की चिन्ता क्यो करनी चाहिये? क्या यह न्यायपूर्ण है कि एक मनुष्य के बच्चो की शिक्षा मे सहायता देने के लिये दूसरे मनुष्य पर कर लगाया जाय? (यू० पू० १९४५)

५ राज्य के अनिवार्य और ऐच्छिक कार्यों का वर्णन कीजिये। (यू० पी० १९४७)

६ जो सरकार सबसे कम शासन करती है, वही सबसे उत्तम है, क्या आप इस कथन से सहमत हैं? अपने उत्तर के लिये कारण बताइये। (यू० पी० १९४८)

७ आपकी सम्मति मे राज्य का समुचित कार्यक्षेत्र क्या है? (यू० पी० १९४०)

८ राज्य शिक्षा क्यो दे और जनता की स्वास्थ्य की रक्षा व उन्नति क्यो करे? क्या आपकी सम्मति मे राज्य को विज्ञान ललित कला साहित्य आदि को प्रोत्साहन देना चाहिये? (यू० पी० १९५०)

९ उन सिद्धान्तो का वर्णन कीजिए जिनके आधार पर राज्य के कार्यक्षेत्र का निर्धारण किया जाना चाहिये। क्या राज्य मनुष्यो को ईमानदार शिक्षित व मदिरा का सेवन न करने वाला बना सकता है? (यू० पी० १९५१)

१० समाजवाद से आप क्या समझते हैं? आधुनिक राज्यो के कार्य क्षेत्र को समाजवाद के सिद्धान्त ने कहाँ तक प्रभावित किया है? (यू० पी० १९५३)

११ राज्य के कार्य-क्षेत्र के सम्बन्ध मे आधुनिक सिद्धान्त क्या हैं?

१२ राज्य के कार्य-क्षेत्र के विषय में व्यक्तिवादी और समाजवादी सिद्धान्तो मे क्या अन्तर है? क्या आप समझते हैं कि पाकिस्तान से आने वाले शरणार्थियों को सहायता करना और उन्हे पुनर्वास की सुविधा देना राज्य का कर्तव्य है? क्यो? (राजपूताना १९५६)

१३ 'राज्य का उद्देश्य अधिकतम मनुष्यों को अधिकतम सुविधाएँ देना है।' बताइये कि उस उद्देश्य की पूर्ति के लिये राज्य को क्या-क्या कार्य करने चाहियें।

कीमत पर बेच देने के लिये विवश कर सकते है। इस दशा मे राज्य का यह कर्तव्य भी हो जाता है, कि वह ऐसे कानून बनाए, जिनके कारण धनी लोग गरीबो का शोषण न कर सकें।

इसी दृष्टि से आधुनिक समय मे राज्य के कार्य क्षेत्र के सम्बन्ध मे विचारकों की यह धारणा नही रह गई है, कि राज्य को केवल 'पुलिस स्टेट' ही रहना चाहिये और उसका एक-मात्र कार्य बाहरी व अन्दरूनी शत्रुओ से देश की रक्षा करना ही होना चाहिये। अब यह माना जाता है, कि राज्य को 'लोकहितकारी' बनना चाहिये और वे सब कार्य राज्य के कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत है, जिनमे जनता का हित व कल्याण होता है। ये कार्य निम्नलिखित है—

(१) शिक्षा का प्रसार—मनुष्यों की उन्नति के लिये यह आवश्यक है, कि वे शिक्षित हों। शिक्षा के बिना मनुष्य अपना विकास नहीं कर सकता। अत शिक्षा के प्रचार के लिये राज्य को विशेष रूप से यत्न करना चाहिये। इसी कारण बहुत-से राज्यो मे प्रारम्भिक शिक्षा का संचालन राज्य की ओर से होता है और यह प्रबन्ध किया जाता है कि बालकों और बालिकाओ को नि शुल्क व बाधित रूप से (Compulsory) शिक्षा दी जाए। शिक्षणालय खोलकर और पुस्तकालय, वाचनालय, म्यूजियम आदि की स्थापना कर राज्य जनता मे शिक्षा के प्रचार का यत्न करता है।

(२) सार्वजनिक स्वास्थ्य और चिकित्सा—जनता को रोग व महामारियो से बचाने के लिए राज्य की ओर से अनेक प्रबन्ध किये जाते है। रोगो की रोक थाम के लिए राज्य नगरो और ग्रामो मे सफाई का इन्तजाम करता है, और छूत की बीमारियो का टीका लगवाता है। इसी कारण राज्य की ओर से यह प्रबन्ध भी किया जाता है, कि बाजार मे शुद्ध भोज्य पदार्थ ही बिक सके, और स्वच्छ पानी पीने को मिले। बीमारी का इलाज करने के लिए राज्य की ओर से चिकित्सालय खोले जाते हैं, जहाँ नि शुल्क रूप से या उचित मूल्य पर चिकित्सा की व्यवस्था की जाती है।

(३) व्यापार का नियन्त्रण—व्यापार को नियन्त्रित करने के लिए राज्य जहाँ मुद्रा पद्धति (Currency) का सचालन करता है, वहाँ साथ ही यह भी व्यवस्था करता है, कि व्यापारी लोग नाप तोल के लिए सच्चे व सही परिमाणो का ही उपयोग करें। राज्य इस बात पर भी ध्यान देता है, कि व्यापारी लोग माल मे मिलावट न करें और वस्तुओ को उचित मूल्य पर ही बेच सकें। युद्ध, अकाल आदि असाधारण अवसरों पर राज्य की ओर से वस्तुओ की कीमतें निश्चित कर दी जाती हैं, और कोई मनुष्य कितना माल खरीद सके, यह भी तय कर दिया जाता है।

(४) कल कारखानों का नियन्त्रण—मजदूरो की दशा को उन्नत करने के लिए राज्य की ओर से अनेक प्रकार के कानून बनाए जाते है। मजदूर अधिक-से-अधिक कितने घन्टे काम कर सके उन्हे कम से-कम कितना वेतन दिया जाए, कार-

खानों की इमारतें हवादार व स्वच्छ हों, यदि काम करते हुए कोई मजदूर चोट खा जाए तो उसके इलाज का उचित प्रबन्ध हो, रोग व बुढ़ापे के कारण जब मजदूर काम करने लायक न रहे, तो उसके गुजारे का मुनासिब इन्तजाम हो, उसके बच्चे शिक्षा पा सकें—इस प्रकार की कितनी ही बातों के सम्बन्ध में राज्य की ओर से कानून बनाए जाते हैं। इन सब कानूनों का यही प्रयोजन होता है, कि पूँजीपति लोग मजदूरों का शोषण न करने पाएँ।

(५) कृषि की उन्नति—खेती की उन्नति के लिए राज्य सिंचाई का प्रबन्ध करता है, नहर व कुएँ बनवाता है, और साथ ही यह यत्न भी करता है कि किसानों को अच्छे बीज व खाद मिल सकें। बिखरे हुए खेतों को एकत्र करना, जमींदारों के मुकाबिले में किसानों के हितों की रक्षा करना या जमींदार प्रथा का नाश कर किसानों को जमीन का स्वामी बना देना आदि कार्य भी इसी प्रयोजन से किए जाते हैं ताकि खेती की उन्नति हो और किसानों का जीवन सुखी व सम्पन्न बन सके। इसी उद्देश्य से राज्य यह प्रयत्न करता है, कि किसानों को सहकारी समितियों (Co-operative Societies) में संगठित किया जाए, ताकि जहाँ वे बढ़िया बीज व खाद प्राप्त कर सकें, वहाँ अपनी फसल को भी उचित कीमत पर बेच सकें।

(६) व्यवसायों की उन्नति—कोई देश केवल खेती व पशुपालन पर निर्भर रहकर समृद्ध व सम्पन्न नहीं हो सकता। आर्थिक उन्नति के लिए व्यवसायों (Industries) का उन्नत होना बहुत जरूरी है। दूसरे देशों की प्रतिस्पर्धा (Competition) में अपने देश के व्यवसायों की रक्षा करने के लिए राज्य विदेशी माल के आयात पर आयात-कर (Import duty) लगाता है, और स्वदेशी कल कारखानों को अन्य अनेक प्रकार से सहायता पहुँचाता है। जो व्यवसाय राष्ट्रीय दृष्टि से बहुत महत्त्व के हों, जिन पर देश की रक्षा व उन्नति निर्भर हो, उनका संचालन राज्य अपनी ओर से करता है। रेलवे के इंजनों और अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण लोहे व इस्पात के कारखाने आदि कितने ही ऐसे व्यवसाय हैं, जो राष्ट्रीय महत्त्व के हैं। बहुत से देशों में आजकल यह प्रवृत्ति है कि इनका संचालन राज्य की ओर से ही किया जावे।

(७) यातायात—लोगों के आने-जाने और सामान को ले जा सकने की सुविधा के लिए राज्य की ओर से रेलवे और सड़क बनवाई जाती हैं, और जलमार्गों की व्यवस्था की जाती है। मोटर बस सर्विसें और हवाई सर्विस भी अनेक देशों में सरकार की अधीनता में हैं, क्योंकि इनका मनुष्यों की भलाई व लाभ के साथ गहरा सम्बन्ध है।

(८) संचार-(Communications) डाक, तार, टेलीफोन, रेडियो आदि ऐसे साधन हैं, जिनके द्वारा मनुष्य अपने सन्देश व सूचना अन्यत्र पहुँचाते हैं। इन सबका संचालन भी राज्य की अधीनता में ही होना चाहिए।

(९) समाज सुधार—राज्य यह यत्न भी करता है कि समाज मे जो अनेक प्रकार की बुराइयाँ हैं, उनको दूर करे। इसीलिए वह बालविवाह के विरुद्ध कानून बनाता है, मद्य-सेवन को रोकने का प्रयत्न करता है और किसी वर्ग को अछूत मानने आदि को भी कानून के विरुद्ध ठहराता है।

(१०) कला और विनोद—मनुष्य के जीवन म कला और विनोद का बहुत महत्त्व है। मनुष्य अपनी भौतिक आवश्यकताओ को पूरा करके ही सन्तुष्ट नहीं होता, वह यह भी चाहता है, कि उसके जीवन मे कला और सौन्दर्य का भी स्थान हो। इसीलिए राज्य कला और सस्कृति के विविध अगो को प्रोत्साहन देता है, और जनता के विनोद के लिए अनेक व्यवस्थाएँ करता है।

(१०) असहाय और अपाहिज लोगो की सहायता—अनेक मनुष्य ऐसे होते हैं, जो रोगी, अपाहिज व असहाय होने के कारण स्वय अपनी आजीविका नही कमा सकते। इन्हे भीख माँगने के लिए विवश होना पडता है। राज्य इनके लिए दरिद्र गृहो (Poor houses) की व्यवस्था करता है, जहाँ रहकर ये अपनी न्यूनतम आवश्यकताओ को पूरा कर सकते हैं, और अपनी शक्ति व सामर्थ्य के अनुसार काम भी करते हैं।

लोकहितकारी राज्य के जिन कार्यो का हमने ऊपर उल्लेख किया है, उनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक कार्य ऐसे हैं, जिन्हे आजकल के राज्य करते हैं। वस्तुत, आधुनिक युग मे राज्य का कार्यक्षेत्र निरन्तर बढ रहा है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य का जीवन अब निरन्तर अधिक अधिक जटिल होता जाता है। आजकल की परिस्थितियो मे कोई भी मनुष्य केवल अपने ही प्रयास से अपने हितो का सम्पादन नही कर सकता। अपने जीवन को सुखी व सम्पन्न बनाने के लिए उसे अन्य मनुष्यो के सहयोग की आवश्यकता होती है। क्योकि राज्य मनुष्यो का सबसे उत्कृष्ट समुदाय है, अत उसका यह कर्तव्य हो जाता है, कि वह मनुष्यो के हित व कल्याण के लिए कार्य करे। राज्य को मनुष्यो के कल्याण के लिए जो जो कार्य करने चाहिएँ, उनकी सूची तैयार कर सकना सम्भव नहीं है, क्योकि समय के साथ साथ इन कार्यो मे लगातार वृद्धि होती जा रही है।

एक समय था, जबकि राज्य आर्थिक जीवन मे कोई हस्तक्षेप नही करता था। उस समय कारीगर लोग अपने घर पर रहते हुए विविध प्रकार की वस्तुओ को तैयार किया करते थे। पर विज्ञान की उन्नति के कारण जब बडे-बडे कारखाने खुलने लगे, और हजारो मजदूर एक छत के नीचे एकत्र होकर काम करने लगे, तो राज्य के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह ऐसे कानून बनाए, जो मजदूरो के हितो की रक्षा करने वाले हो। अब जबकि विज्ञान ने और अधिक उन्नति कर ली है, यह अनुभव किया जाने लगा है कि बडे आधारभूत व्यवसायो (Basic industries) का सचालन राज्य के हाथो मे ही रहना चाहिए। यदि ये आधारभूत व्यवसाय कतिपय पूँजी-

पतियो के हाथो मे रहेगे, तो इनका उपयोग सार्वजनिक हित के लिये कदापि नही किया जा सकेगा। साथ ही, अन्य व्यवसायो पर भी राज्य का इस ढग का नियन्त्रण होना चाहिए, जिससे मजदूरो को अपने श्रम का उचित पारिश्रमिक मिल सके, और पूँजीपति उनका शोपण न कर सकें।

आजकल के विचारक इस बात को स्वीकार करते हैं, कि राज्य को 'लोक हितकारी' बनने का आदर्श अपने सामने रखना चाहिए और, वे सब कार्य उसे करने चाहिएँ, जो जनता के हित, कल्याण और समृद्धि मे सहायक हो।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. लोकहितकारी राज्य का आप क्या अभिप्राय समझते हैं ?
२ राज्य के अनिवार्य (Essential) और लोकहितकारी कार्यों मे क्या भेद है ? राज्य के किन कार्यों को आप लोकहितकारी कहेंगे ?
३. क्या यह सत्य है कि आजकल के राज्यों मे अनिवार्य और लोकहित-कारी कार्यों में भेद कर सकना कठिन है ? क्यों ?
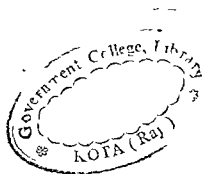
अन्य देशों मे बहुत से छोटे-छोटे राज्य हुआ करते थे, जिन्हे नगर-राज्य (City State) कहते थे। कुछ राज्य ऐसे थे, जिनमे *एक राजा का शासन था*। कहीं कतिपय कुलीन श्रेणियाँ शासन करती थीं, और कुछ राज्य ऐसे भी थे, जिनमे सब नागरिक लोग सभाओं म एकत्र होकर अपने शासको का स्वय चुनाव किया करते थे। पर आजकल *के राज्यो व सरकारो का अरिस्टोटल के ढग से वर्गीकरण कर सकना सम्भव नहीं है।*

इसलिए आजकल के विचारक राज्यो का वर्गीकरण निम्नलिखित आधारों पर करते हैं—

(१) राजशक्ति कितने व्यक्तियों के हाथों में है, इस आधार पर सरकार के तीन भेद किये जाते हैं, एकतन्त्र (Monarchy), श्रेणितन्त्र (Aristocracy) और लोकतन्त्र (Democracy)

वर्तमान समय मे ससार के बहुसख्यक देशो मे लोकतन्त्र शासन विद्यमान हैं। पर अब से कुछ साल पूर्व तक तुर्की, चीन, अफगानिस्तान आदि कितने ही देशो मे एकतन्त्र शासनो की सत्ता थी। श्रेणितन्त्र शासन भी अब ससार से प्राय नष्ट हो चुके हैं, पर अनेक देश अब तक भी ऐसे हैं, *जिनम कतिपय कुलीन परिवारो व धनी वर्ग* को शासन म विशेष अधिकार प्राप्त हैं।

(२) सरकार का स्वरूप एकात्मक (Unitary) है, या सघर्गात्मक (Federal)। *फ्रान्स, इटली, इङ्गलैण्ड आदि राज्य एकात्मक हैं, उनका शासन एक केन्द्रीय सरकार* के हाथों मे है, जो सारे राज्य के लिए कानून बनाती है। इसके विपरीत सयुक्तराज्य अमेरिका, स्विट्जरलैण्ड आदि अनेक राज्य सवर्गात्मक है। इनम अनेक राज्यों ने *परस्पर मिलकर अपना एक सवर्ग (Federation) बना लिया* है। जहाँ *सम्पूर्ण सवर्ग* की एक केन्द्रीय सरकार है, वहाँ साथ ही सवर्ग के अन्तर्गत राज्यो की भी अपनी-अपनी पृथक् पृथक् सरकारें हैं। शासनसम्बन्धी कुछ विषय विविध राज्यो की सरकारों *के हाथ मे रखे गये हैं, और कुछ सवर्ग की सरकार के।*

(३) राजशक्ति का उपयोग पालियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल करता है या ऐसा राष्ट्रपति, जो पलियामेण्ट के प्रति उत्तरदायी नहीं है। इङ्गलैण्ड, भारत, फ्रान्स आदि अनेक राज्यो मे ऐसी सरकारें हैं, जिन्हें 'मन्त्रिमण्डल के अधीन' कह सकते हैं। इसीको अग्रेजी मे 'कैबिनेट सिस्टम' कहते हैं। इसमे मन्त्रिमण्डल पालियामेन्ट के प्रति उत्तरदायी होता है, और तभी तक अपने पद पर रह सकता है, जब तक पालियामेण्ट के बहुमत का विश्वास उसे प्राप्त हो। इसके विपरीत 'राष्ट्रपति के अधीन' शासनों म राजशक्ति का प्रयोग राष्ट्रपति द्वारा किया जाता है, और वह राष्ट्रपति अपने कार्यो के लिए किसी पालियामेन्ट के प्रति उत्तरदायी नहीं होता। वह एक निश्चित काल के लिए चुना जाता है, और पालियामेन्ट उसे अपने पद से नहीं *हटा सकती। सयुक्तराज्य अमेरिका स_श* अनेक राज्यो मे *इस ढग का शासन* विद्य-

मान है, और इसे अंग्रेजी मे 'प्रेजिडेन्शल सिस्टम' कहते हैं।

सरकार के विविध भेद–

इस प्रकार वर्तमान युग की विविध सरकारो के निम्नलिखित भेद किये जा सकते हैं—

(१) एकतन्त्र, श्रेणितन्त्र और लोकतन्त्र।

(२) एकात्मक (Unitary) और सवर्गात्मक (Federel)।

(३) मन्त्रिमण्डल के अधीन (Cabinet or Parliamentary) और राष्ट्रपति के अधीन (Presidential) सरकारें।

एकतन्त्र सरकार के विविध प्रकार—

एकतन्त्र सरकार के दो मुख्य प्रकार है—(१) स्वेच्छाचारी एकतन्त्र शासन और (२) वैध (Constitutional) या मर्यादित (Limited) एकतन्त्र शासन।

प्राचीन और मध्य कालो मे बहुत-से देशो मे स्वेच्छाचारी एकतन्त्र राजाओ का शासन था। भारत के अफगान और मुगल बादशाह, इङ्गलैण्ड के टयूडर और स्टुअर्ट वशी राजा, फ्रास के बूर्बो वश के राजा और चीन के मचू वश के सम्राट् सब स्वेच्छाचारी एकतन्त्र शासक ही थे। इन राजाओ की इच्छा ही कानून थी, और इनकी शक्ति को मर्यादित करने वाली कोई पार्लियामेन्ट या राजसभा उस समय विद्यमान नही थी।

जिन राजाओ की राजशक्ति किसी सविधान द्वारा या किसी पार्लियामेण्ट द्वारा मर्यादित हो, उन्हे 'वैध' या 'मर्यादित' कहते हैं। इङ्गलैण्ड का राजा इसी प्रकार का वैध शासक है। वहाँ अब भी एक राजा का शासन है। इङ्गलैण्ड मे सब कानून राजा द्वारा प्रचारित होते हैं, और सब शासन-कार्य उसीके नाम पर किया जाता है। पर उसकी राजशक्ति पार्लियामेण्ट द्वारा नियन्त्रित होती है, और वह देश के विधान या कानून का उल्लघन नही कर सकता। इसी कारण इङ्गलैण्ड की सरकार को स्वेच्छाचारी एकतन्त्र शासन न कहकर वैध व मर्यादित एकतन्त्र शासन कहा जाता है।

एकतन्त्र शासन का एक अन्य प्रकार है, जिसे दैवतन्त्र (Theocracy) कहते हैं। जिस राज्य मे राजशक्ति किसी ऐसे व्यक्ति के हाथो मे हो, जिसे साक्षात् भगवान् या पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि समझा जाता हो, उसे 'दैवतन्त्र' कहते हैं। प्राचीन समय मे रोमन साम्राज्य के सम्राटो को 'दैवी' या 'साक्षात् देवता' माना जाता था। तुर्की के सुलतान जहाँ तुर्क साम्राज्य के सम्राट् होते थे, वहाँ साथ ही वे मुस्लिम जगत् के खलीफा या धर्माचार्य भी हुआ करते थे। वस्तुत, दैवतन्त्र भी स्वेच्छाचारी एकतन्त्र शासन का ही एक भेद है, क्योकि ऐसे राज्य मे राजा की शक्ति मर्यादित

नही होती और न वह किसी संविधान के अधीन होता है।

श्रेणितन्त्र के विविध प्रकार—

श्रेणितन्त्र शासन के भी अनेक भेद होते हैं। कुछ राज्यो मे राजशक्ति कतिपय कुलीन परिवारो के हाथो मे होती है, और कुछ मे कतिपय धनी परिवार अपने धन के कारण शासन करते हैं। जिस समय रोम मे रिपब्लिक (गण शासन) की सत्ता थी, वहाँ की जनता दो भागो मे विभक्त थी, पेट्रिसियन और प्लेबियन। पेट्रिसियन लोग कुलीन माने जाते थे, और प्लेबियन सर्वसाधारण लोगो को कहते थे। रोम की रिपब्लिक म प्लेबियन लोगो को शासनसम्बन्धी कोई भी अधिकार प्राप्त नही थे, सब राजशक्ति कुलीन पेट्रिसियन परिवारो के हाथो मे थी। रोम की प्राचीन रिपब्लिक कुलीनता पर आश्रित 'श्रेणितन्त्र' का उत्तम उदाहरण है। मध्यकालीन यूरोप मे अनेक ऐसे छोटे छोटे राज्य थे, जिनमे धनी व्यापारी लोगो का शासन था। हमेटिक लीग मे सम्मिलित विविध राज्य इसके उदाहरण हैं। इन राज्यो का शासन कतिपय धनिक कुलो के ही हाथो मे था।

लोकतन्त्र के विविध प्रकार—

लोकतन्त्र शासन के मुख्य भेद दो हैं—(१) शुद्ध या प्रत्यक्ष (Pure of direct) और (२) प्रतिनिधिसत्तात्मक या परोक्ष (Representative)। प्रत्यक्ष लोकतन्त्र शासन वे होते है, जिनमे सब नागरिक राजसभा मे एकत्र होकर अपनी इच्छा को प्रगट करे, स्वय कानूनो को बनाएँ और स्वय शासको का चुनाव करें। इस प्रकार का प्रत्यक्ष लोकतन्त्र शासन उन्ही राज्यो मे सम्भव है, जो आकार मे बहुत छोटे हो, जिनके नागरिको के लिए राजसभा मे एकत्र हो सकना मुमकिन हो। प्राचीन ग्रीस में एथेन्स ऐसा राज्य था, जहाँ सब नागरिक राजसभा (एक्लीजिया) मे एकत्र होकर अपने राज्यकार्य को किया करते थे। इस समय भी स्विट्जरलैंड मे अनेक राज्य (कैन्टन) ऐसे है, जिनके सब नागरिक राजसभा मे एकत्र होकर वे सब कार्य करते है, जो बडे राज्यो में विधान सभाएँ या पालियामेन्ट करती हैं।

प्रतिनिधिसत्तात्मक या परोक्ष लोकतन्त्र शासन वे होते हैं, जिनमे नागरिक लोग प्रतिनिधियों का चुनाव करके प्रतिनिधियो द्वारा ही अपनी इच्छा को प्रगट करते हैं। आजकल के बडे राज्यो मे यह मुमकिन नही रह गया है, कि सब नागरिक एक स्थान पर एकत्र हो सके। इसलिए वे पार्लियामेन्ट के सदस्यो के रूप मे अपने *प्रतिनिधियों का चुनाव करते हैं। ये प्रतिनिधि जो सम्मति प्रगट करें, उसे ही नागरिको की सम्मति मान लिया जाता है। आजकल के प्राय सभी लोकतन्त्र राज्य 'प्रत्यक्ष' न होकर 'प्रतिनिधिसत्तात्मक' व 'परोक्ष' लोकतन्त्र ही है।*

आधुनिक सरकारों का वर्गीकरण—

ऊपर हमने सरकारों के जो विविध भेद व प्रकार बताए हैं, वे वर्तमान समय के राज्यों को दृष्टि में रखकर उपयुक्त नहीं समझे जा सकते। आजकल न एकतन्त्र राज्य रहे हैं, और न श्रेणीतन्त्र। वर्तमान समय में प्राय सभी राज्यों में लोकतन्त्र शासन स्थापित हो गए हैं। इगलैण्ड जैसे कुछ राज्यों में यद्यपि आजकल भी वंश क्रम से आये हुए राजाओं का शासन है, पर उनकी शक्ति नाममात्र की ही है। असल में वहाँ भी अब लोकतन्त्र शासन ही विद्यमान है। इस समय लोकतन्त्र शासन मुख्यतया दो प्रकार के हैं—(१) जिनमें कोई वंशक्रमानुगत राजा शासन करता है, पर जो नाम-मात्र को ही राजा होता है, असल में राजशक्ति जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथों में रहती है। (२) गणराज्य या रिपब्लिक, जिनमें कोई वंशक्रमानुगत राजा नहीं होता, जहाँ सरकार का प्रधान व राष्ट्रपति भी निर्वाचित ही होता है।

इस प्रकार वर्तमान समय की सरकारों का वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है—
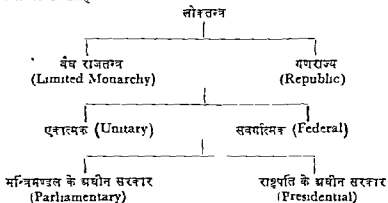
अभ्यास के लिए प्रश्न

१ विविध शासन-पद्धतियों (Forms of Government) का वर्गीकरण कीजिए। प्रत्येक की विशेषतायें बताते हुए व्याख्या कीजिए। (राजपूताना १९४१)।

२. राज्यों के कौन से भेद व प्रकार हैं ? एकात्मक और सवर्गात्मक शासन के अन्तर को स्पष्ट कीजिए। (यू० पी० १९४८)

३ राज्यों का वर्गीकरण किन आधारों पर किया जाता है ?

४. एकतन्त्र सरकार के विविध प्रकारों का उल्लेख कीजिए।

५. लोकतन्त्र सरकार के विविध प्रकारों का वर्णन कीजिए।

———

सोलहवाँ अध्याय
विविध शासन-पद्धतियों के गुण और दोष

एकतन्त्र शासन का ह्रास—इतिहास मे एकतन्त्र शासन-पद्धति सबसे पुरानी है, और हजारो वर्षों तक रही है। उन्नीसवी सदी तक एशिया और यूरोप के बहुसख्यक देशा मे यही शासन पद्धति विद्यमान थी। पर बीसवीं सदी मे ससार के कितने ही देशो से वशक्रम से आये हुए राजाओ के शासन का अन्त हो गया है। १९१४-१८ के महायुद्ध द्वारा लोकतन्त्र भावना को बहुत बल मिला, और जर्मनी, रूस, आस्ट्रिया-हगरी, तुर्की आदि के पुरान राजवशो का अन्त हो गया। १९३९-४५ के महायुद्ध के बाद तो ऐसे राज्य और भी कम रह गए हैं, जिनमे राजाओ का शासन है।

एकतन्त्र शासन के गुण—

जब हम एकतन्त्र शासन के गुण-दोषो पर विचार करते हैं तो वैध या मर्यादित एकतन्त्र शासन को अपनी दृष्टि मे नही रखते। वैध राजाओ का शासन लोकतत्र सरकार का ही एक रूप है। यहाँ हम निरकुश व स्वेच्छाचारी राजाओ के एकतन्त्र शासन के गुण-दोषों पर ही विचार करेगे। एकतन्त्र शासन के ये गुण माने जाते हैं—

(१) *एकतन्त्र शासन के कारण राज्य का कार्य चलाना बहुत सुगम होता है।* किसी विकट समस्या के सम्मुख आने पर मतभेद व वादविवाद की आवश्यकता नही होती। युद्ध के अवसर पर सेनापति अपनी सूझ से काम लेते हैं, सिपाहियो व जनता की राय लेने का यत्न नहीं करते। इसी कारण वे युद्ध मे विजयी होते हैं। इसी प्रकार जब राज्य का शासन एक व्यक्ति के हाथ मे रहता है, तो वह अपनी समझ के अनुसार ऐसा निर्णय करता है, जो सबके लिए लाभकारी हो। वह व्यर्थ के वाद-विवाद मे समय नष्ट नहीं करता।

(२) एकतन्त्र शासन मे राज्य की नीति एक जैसी रहती है। लोकतन्त्र शासन मे कभी किसी एक दल का प्रभुत्व रहता है, कभी किसी दूसरे दल का। इन राजनीतिक दलो की नीति व आदर्श भिन्न-भिन्न होते हैं। एक दल चाहता है, कि व्यवसायो पर सरकार का नियन्त्रण हो, दूसरा दल आर्थिक जीवन पर सरकार के नियन्त्रण का विरोधी होता है। विचारो के इस विरोध के कारण जनता को व्यर्थ मे परेशानी उठानी पडती है। इसके विपरीत एकतन्त्र राज्यो मे सरकार की नीति

सदा एक-सी रहती है, और जनता को यह भय नही होता, कि सरकारी नीति म अचानक परिवर्तन हो जाने से उसे नुकसान उठाना पडेगा।

(३) एकतन्त्र शासन का एक विशेष रोब होता है। प्रजा अपने राजा को सम्मान की दृष्टि से देखती है। विदेशो मे भी राजा के प्रभाव को स्वीकार किया जाता है।

(४) एकतन्त्र राज्यो मे कानूनो का पालन अधिक सुगमता से होता है, क्योंकि राजा अपनी इच्छा से योग्य व्यक्तियों को सरकारी पदो पर नियुक्त करता है। ये राजकर्मचारी केवल राजा के प्रति उत्तरदायी होते हैं, अत जनता स दबने की उन्हे कोई आवश्यकता नही होती। वे अपने कर्तव्या का पालन अधिक अच्छी तरह से कर सकते हैं।

(५) एकतन्त्र राज्यो मे राजा सब दलबन्दिया से ऊपर होता है। इसी कारण वह न्यायपूर्वक शासन करने मे समर्थ होता है।

(६) जिन देशा की जनता शिक्षित व उन्नत नहीं है, उनम तो एकतन्त्र शासन और भी उपयोगी होते है। सब मनुष्य राजशक्ति के प्रयोग मे हाथ बटाएं इसके लिए जनता को बहुत शिक्षित, उन्नत व समझदार होना चाहिए। पर ऐसे राज्य बहुत कम हैं, जिनकी जनता म ये गुण विद्यमान हा। इसलिए मनुष्या के हित की दृष्टि से एकतन्त्र शासन बहुत उपयोगी हैं, और इसी कारण वे हजारा वर्षों तक कायम रहे है।

एकतन्त्र शासन के दोष—

(१) जब सारी राजशक्ति किसी एक मनुष्य के हाथ मे केन्द्रित हो, तो यदि वह मनुष्य असाधारण शक्तिसम्पन्न, धर्मात्मा, न्यायी और सदाचारी हो, तब तो वह अपने कार्य को भली भांति कर सकेगा। अन्यथा, एक साधारण मनुष्य राज्य की जिम्मेवारी को अकेला नही संभाल सकता। यदि इतिहास मे राम, अशोक और अकबर जैसे न्यायी और योग्य राजा हुए हैं, जिन्होंने अपनी प्रजा के हित के लिए काम किया, तो ऐसे राजाओ के उदाहरणो से इतिहास भरा पडा है, जिन्होने प्रजा की भलाई पर जरा भी ध्यान न देकर अपनी शक्ति का उच्छृङ्खलता के साथ प्रयोग किया। रोम का नीरो, भारत का मुहम्मद तुगलक, स्पेन का फिलिप द्वितीय आदि कितने ही ऐसे राजाओ के नाम पेश किए जा सकते हैं, जिन्होंने प्रजा पर मनमाने अत्याचार किए और अपनी नासमझी से जनता को हानि पहुँचाई।

(२) एकतन्त्र शासनों म राजा प्राय वशक्रम से होते हैं। यह सही है, कि पिता के गुण पुत्र मे आते हैं, और इस कारण यह आशा की जा सकती है, कि उत्तम राजा का पुत्र भी उत्तम होगा। पर इस नियम के अपवाद भी होते हैं। हम देखते

है, कि योग्य पिता के पुत्र बहुधा निकम्मे व अयोग्य भी होते हैं। गुप्तवंशी सम्राट चन्द्रगुप्त और समुद्रगुप्त जैसे वीरों के वंश में रामगुप्त जैसा निर्बल राजा हुआ, जो अत्यन्त कायर था। अकबर यदि धर्म के मामले में सहिष्णु था, तो उसका वंशज औरङ्गजेब धर्मान्ध था। एकतन्त्र शासनों में यह भरोसा कभी नहीं हो सकता, कि किसी वंश के सभी राजा वीर, योग्य व सदाचारी होंगे।

(३) यदि यह मान भी लें, कि एकतन्त्र शासनों में सभी राजा योग्य व वीर होंगे, तो भी ऐसे शासन को अच्छा नहीं माना जा सकता। कारण यह कि इस शासन पद्धति में जनता का कोई हाथ नहीं होता। एकतन्त्र शासन में जनता में राजनीतिक चेतना उत्पन्न नहीं हो पाती, और वह यह अनुभव नहीं करती कि राज्य की रक्षा व उन्नति उसका अपना कर्तव्य है। कोई राज्य तभी उन्नति कर सकता है, जब सारी जनता का सहयोग उसे प्राप्त हो। यदि हम यह भी मान लें, कि अशोक और अकबर जैसे सुयोग्य राजा सब राज्यों को सब काल में प्राप्त होते रहेंगे, तो भी ऐसे राज्य कभी शक्तिसम्पन्न व उन्नत नहीं हो सकते, क्योंकि राज्य की वास्तविक शक्ति इसी बात पर निर्भर है, कि उसकी जनता उद्बुद्ध हो, वह अपने कर्तव्य और अधिकारों को भलीभांति समझती हो, और राज्य की रक्षा व उन्नति के लिए कुर्बानी करने को उद्यत हो। एकतन्त्र राज्यों की जनता में यह कर्तव्य भावना विकसित ही नहीं हो सकती।

श्रेणितन्त्र शासन के गुण—

श्रेणितन्त्र शासन के मुख्य गुण निम्नलिखित हैं—

(१) श्रेणितन्त्र शासन में गुण को महत्त्व दिया जाता है, संख्या को नहीं। लाखों मूर्खों की अपेक्षा कुछ थोड़े-से विद्वानों की सम्मति का मूल्य अधिक होता है। श्रेणितन्त्र शासन में राजशक्ति कतिपय ऐसे मनुष्यों के हाथों में रहती है, जो विद्या, ज्ञान व कुलीनता आदि की दृष्टि से अन्य लोगों के मुकाबिले में अधिक उत्कृष्ट हों। यह स्पष्ट है, कि ऐसे थोड़े से मनुष्य सर्वसाधारण जनता की अपेक्षा राज्यकार्य को अधिक अच्छा कर सकते हैं।

(२) श्रेणितन्त्र शासन में राज्य का कार्य उन लोगों के हाथों में रहता है, जो अपने कार्य में दक्ष व योग्य होते हैं। राजा लोग जो हजारों सालों तक शासन करने में समर्थ रहे, उसका कारण यही था, कि वे कतिपय कुलीन लोगों की सहायता से अपना कार्य किया करते थे। भारत के मुगल बादशाहों ने राजपूत और मुगल सरदारों की सहायता प्राप्त की हुई थी, जो देश की रक्षा के लिए अपना खून तक बहा देने में जरा भी संकोच नहीं करते थे।

(३) श्रेणितन्त्र शासन में शासक लोग प्रथाओं व मर्यादाओं का भली भांति पालन करते हैं। उसमें जल्दी जल्दी शासन-नीति में परिवर्तन नहीं होता रहता।

श्रेणितन्त्र शासन के दोष—

(१) किसी खास कुल में जन्म लेने के कारण कोई मनुष्य राज्यकार्य के लिए अधिक योग्य हो जाता है, इस बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह जरूरी नहीं, कि योग्य इन्जीनियर व प्रोफेसर का पुत्र भी योग्य इजीनियर व योग्य प्रोफेसर हो। जब हम किसी प्रोफेसर की नियुक्ति करने लगते है, तो उसकी योग्यता देखते हैं। किसी प्रोफेसर का पुत्र होने के कारण ही कोई मनुष्य प्रोफेसर पद के योग्य नहीं हो जाता। इसी प्रकार शासन के कार्य के लिए किन्हीं मनुष्यों को केवल इस कारण योग्य नहीं समझा जा सकता, क्योंकि वे किसी कुलीन व शासकवर्ग के परिवार में पैदा हुआ है। मुगल बादशाहत में सेनापति व सूबेदार आदि पदों पर वशक्रम के अनुसार नियुक्ति की जाने लगी थी। यह बात मुगलों के लिए बहुत हानिकारक सिद्ध हुई। मराठा साम्राज्य के प्रधान मन्त्री को पेशवा कहते थे। पर जब पेशवा का पद भी पिता के बाद पुत्र को मिलने लगा, तो अनेक अयोग्य व्यक्ति इस पद पर नियुक्त हुए, और मराठों की शक्ति के नष्ट होने में इस बात ने बहुत सहायता पहुँचाई।

(२) श्रेणितन्त्र शासन में यदि शासक श्रेणि का आधार जन्म या कुल को न मानकर धन या विद्या को माना जाए, तो भी ऐसी धनी व विद्वान् श्रेणियों के लोगों का शासन उचित नहीं होगा। धन कमाने की योग्यता और शासनकार्य की योग्यता दो भिन्न बात है। यह जरूरी नहीं कि जो आदमी धनी हो, वह अच्छा शासक भी हो। यही बात विद्या के सम्बन्ध में भी है। विद्वान् होना एक बात है, और अच्छा शासक होना दूसरी बात है। केवल विद्या या धन के कारण किन्हीं लोगों को शासन का कार्य दे देना कभी ठीक नहीं माना जा सकता।

(३) श्रेणितन्त्र शासन में जनता का राज्यकार्य में हाथ नहीं होता। इस कारण सर्वसाधारण लोगों में राजनीतिक चेतना विकसित नहीं होने पाती। वे यह नहीं अनुभव करते, कि राज्य की रक्षा करना व उसकी उन्नति के लिए यत्न करना उनका अपना कर्तव्य है।

(४) सर्वसाधारण जनता में जो योग्य मनुष्य होते हैं, श्रेणितन्त्र शासन में उनकी योग्यता का राज्य की भलाई के लिए प्रयोग नहीं किया जा सकता।

(५) श्रेणितन्त्र शासन में राजशक्ति जिन लोगों के हाथों में रहती है, वे अपनी शक्ति का उपयोग सबके हित व कल्याण के लिए करेंगे, इसकी कोई गारण्टी नहीं होती।

ये सब दोष होते हुए भी इसमें सन्देह नहीं, कि राजशक्ति के प्रयोग का अधिकार उन्हीं लोगों के हाथों में रहना उचित है, जो अत्यन्त योग्य हों। पर प्रश्न यह है, कि यह कैसे निश्चय किया जाए कि कौन लोग योग्य हैं। यदि इस इस बात का निर्णय जनता के हाथ में हो, तो वह शासनपद्धति श्रेणितन्त्र न रहकर लोकतन्त्र हो जाएगी।

लोकतन्त्र शासन—

आजकल लोकतन्त्र शासन सबसे अधिक प्रचलित है। ससार के प्राय सभी उन्नत व सभ्य देश इसी का अनुसरण कर रहे हैं। लोकतन्त्र शासन उसे कहते हैं, जिसमे प्रत्येक नागरिक राजशक्ति के प्रयोग मे हाथ बटाता हो, या हाथ बटाने का अधिकार रखता हो। अब्राहम लिंकन ने लोकतन्त्र शासन का जो लक्षण किया था, वह बहुत प्रसिद्ध है—"लोकतन्त्र शासन वे होते हैं, जिनमे जनता का शासन हो, जो जनता के लिए हो, और जनता द्वारा हो।"

लोकतन्त्र शासन के जो दो मुख्य भेद है, प्रत्यक्ष और प्रतिनिधिसत्तात्मक शासन, उनका जिक्र हम पिछले अध्याय मे कर चुके हैं। प्राचीनकाल के प्राय सभी लोकतन्त्र शासन 'प्रत्यक्ष' थे। उस समय प्रतिनिधि चुनने की प्रथा नही थी। उस समय इसकी आवश्यकता भी नही थी, क्योकि राज्य बहुत छोटे-छोटे हुआ करते थे। उनका स्वरूप नगर-राज्यो (City States) का होता था। पर आजकल के विशाल राज्यो मे यह आवश्यक हो गया है, कि जनता अपने प्रतिनिधियो को चुनकर उनके द्वारा शासन-कार्य मे हाथ बटाए। वर्तमान समय के लोकतन्त्र राज्यो मे शासन जनता का होता है, पर चुने हुए प्रतिनिधियो द्वारा।

लोकतन्त्र शासन के गुण—

(१) लोकतन्त्र ही एक ऐसी शासनपद्धति है, जिसमे इस बात की गारण्टी दी जा सकती है, कि शासन जनता की इच्छा के अनुसार किया जाएगा। चाहे कोई नागरिक अमीर हो चाहे गरीब, लोकतन्त्र मे सबके समान अधिकार होते हैं। इस कारण सब नागरिक अनुभव करते हैं, कि राज्य हमारा अपना है। इसलिए नागरिको मे राज्य के प्रति एक ऐसी भक्ति, प्रेम व निष्ठा उत्पन्न हो जाती है, जिससे वे उसके लिए बडी से-बडी कुर्बानी करने को तैयार हो जाते हैं।

(२) किसी शासनपद्धति की सफलता के लिए केवल यही पर्याप्त नही है, कि शासक लोग अपने कार्य मे निपुण हो। कोई सरकार तभी सफल हो सकती है, जब उसके शासको को जनता की इच्छा व आवश्यकताओ का भी ज्ञान हो। जनता की इच्छाओ और आवश्यकताओ को जाने बिना योग्य-से योग्य शासक भी अपने कार्य मे सफल नही हो सकता। लोकतन्त्र ही एक ऐसी शासनपद्धति है, जिसमे शासक लोग जनता की इच्छा व आवश्यकताओ से परिचित रहते हैं।

(३) कोई मनुष्य अपने अधिकारो की रक्षा और अपने हितो का सम्पादन तभी भली-भांति कर सकता है, जब वह स्वय उसके लिए प्रयत्नशील हो। यदि हम अपने माल की रक्षा का भार किसी दूसरे पर छोडकर स्वय निश्चिन्त हो जाएँ, तो हम शायद कभी अपने धन की रक्षा नही कर सकेंगे। इसी प्रकार यदि राज्य के नाग-

रिक अपनी रक्षा व हित के सम्पादन के कार्य को किसी एक राजा या किसी एक श्रेणी के हाथ मे सौंपकर स्वय उस ओर ध्यान न दें, तो वे भारी भूल करेंगे। लोकतन्त्र शासन ही ऐसा है, जिसमें मनुष्य अपनी जान व माल की रक्षा करने व अपने योगक्षेम की स्वय चिन्ता करते है।

(४) एकतन्त्र और श्रेणितन्त्र शासनो मे जनता मे यह विचार उत्पन्न हो जाता है—'कोउ नृप होय हमे का हानी, चेरि छाडि नहि होउब रानी।' इस विचार के कारण मनुष्य न अपने अधिकारो के लिए सघर्ष कर पाते हैं, और न अपने कर्तव्यो का ज्ञान ही प्राप्त कर सकते हैं। इन शासनो मे सर्वसाधारण लोग अपने को दीन व हीन अनुभव करने लगते हैं। वे शासको की उचित व अनुचित सब प्रकार की आज्ञाओ का पालन करने मे ही अपनी भलाई समझने लगते हैं। इसके विपरीत लोकतन्त्र शासन मे प्रत्येक मनुष्य को यह अनुभव करने का अवसर मिलता है, कि उसकी भी समाज मे कोई स्थिति है, वह भी राजशक्ति के प्रयोग मे हाथ बटा सकता है। अपने अधिकारो का ज्ञान होने के साथ-साथ मनुष्यो को अपने कर्तव्यो का भी बोध होता है। अपने अधिकारो के लिए लडने की भावना, राज्य के प्रति अपने कर्तव्यो का पालन करने की इच्छा, और राजशक्ति के प्रयोग मे हाथ बटाने का अवसर मनुष्यो को अपनी उन्नति करने मे सहायता प्रदान करते हैं।

(५) लोकतन्त्र शासन मे जनता को नागरिकता की शिक्षा मिलती है। जनता राजनीतिक दृष्टि से जागृत हो जाती है, और अपने विचारो को स्वतन्त्रता व स्पष्टता के साथ प्रगट करने लगती है। इससे जनता की मानसिक शक्तियो का विकास होता है।

(६) शासन की क्षमता की दृष्टि से भी लोकतन्त्र शासन-पद्धति सर्वश्रेष्ठ है। कारण यह कि इसमे शासन का कार्य उन लोगो के हाथो मे रहता है, जिन्हे जनता का विश्वास प्राप्त हो। यदि मन्त्री व अन्य शासक लोग अपने कर्तव्यो का पालन न करें या किसी अनुचित नीति का अनुसरण करें, तो जनता उन्हे अपने पद से हटा सकती है। इसके विपरीत एकतन्त्र व श्रेणितन्त्र शासनो मे शासको को अपने पदो से हटाया नही जा सकता। यदि वे अपने कार्य मे कुशल हो तो राज्य का सौभाग्य है। पर यदि वे अयोग्य व निर्बल हो, तो राज्य का दुर्भाग्य है।

लोकतन्त्र शासन के दोष—

(१) सब मनुष्य बराबर हैं, शिक्षित व अशिक्षित, सच्चरित्र व दुराचारी—सब एक समान है, यह बात कभी स्वीकार नही की जा सकती। पाँचो उँगलियाँ कभी बराबर नहीं हो सकतीं। लोकतन्त्र शासन मे सख्या को महत्त्व दिया जाता है, गुण को नही। हो सकता है, कि लाखो मूर्ख लोगो के मुकाबिले मे एक बुद्धिमान् जो

(१) लोकतन्त्र राज्यो मे धन का महत्त्व बहुत अधिक है। धनी लोग अपने अपार धन को प्रयोग मे लाकर सरकार को अपने असर मे कर लेते हैं।

(२) लोकतन्त्र राज्यो मे राजनीति कुछ लोगो का पेशा बन जाता है।

(३) लोकतन्त्र शासन बहुत खर्चीला होता है।

(४) लोकतन्त्र राज्यो मे समानता के सिद्धान्त का दुरुपयोग भी होता है।

(५) लोकतन्त्र राज्यो मे राजनीतिक दलो की शक्ति अनुचित रूप से बढ जाती है।

(६) पार्लियामेंट के सदस्यो मे यह प्रवृत्ति होती है, कि वे वोट प्राप्त करने के लिए प्रभावशाली लोगो से सौदे करें।

लार्ड ब्राइस के अनुसार दो ऐसे खतरे हैं जो लोकतन्त्र शासनो के लिए बहुत भयावह हैं—

(१) राजशक्ति उन लोगो के हाथो मे आ जाए, जो स्वार्थी हो और जो अपनी स्थिति का दुरुपयोग करने मे सकोच न करें।

(२) राजनीतिक नेताओ मे यह प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, कि वे मतदाताओ के सम्मुख असत्य व अर्धसत्य बातो को पेश करके उन्हे अपने पीछे लगा लें।

विवेचना—लोकतन्त्र शासन-पद्धति मे जो दोष ऊपर दिखाये गए हैं, उनमे बहुत कुछ सचाई है। पर ये दोष मनुष्यो की कमजोरी के कारण हैं। यह बात बिल्कुल सच है, कि मनुष्य अपने हितो की रक्षा तभी कर सकता है, जब वह स्वय उनके लिए सजग हो। किसी एक राजा या किसी एक श्रेणी के हाथो मे अपने हित व कल्याण को सुपुर्द कर स्वय निश्चिन्त बैठ जाने से जनता का कभी भला नहीं हो सकता। मनुष्य जब एक बार स्वतन्त्रता, समानता व अधिकारो का अनुभव कर लेता है, तो वह उन्हे कभी भी छोडना नहीं चाहता। यही कारण है, जो पिछली डेढ सदी मे लोकतन्त्र शासन का निरन्तर विकास हुआ है, और अब ससार के प्राय सभी राज्यो मे लोकतन्त्र शासन कायम हो गए हैं। यह सम्भव नही है, कि अब मनुष्य अपने स्वशासन को छोडकर फिर से किसी एक राजा या एक श्रेणी की अधीनता मे रहना स्वीकार कर ले।

लोकतन्त्र शासन की सफलता के लिये आवश्यक शर्तें—

इसमे सन्देह नहीं, कि लोकतन्त्र शासन जैसे वर्तमान समय मे बहुत लोकप्रिय है, वैसे ही वह भविष्य मे भी रहेगा। पर उसकी सफलता के लिए निम्नलिखित शर्तें बहुत आवश्यक हैं—

(१) नागरिको को ईमानदार व प्रलोभनो से ऊपर होना चाहिए। यदि किसी राज्य के नागरिक कुछ रुपयो के लोभ से या किसी अन्य प्रभाव मे आकर अपने

वोट को बेच देने के लिए तैयार हो जाएँ, तो इसमें लोकतन्त्र शासन कभी सफल नहीं हो सकेगा।

(२) लोकतन्त्र शासन की सफलता के लिए जनता में नागरिकता का विचार भली भाँति विकसित हुआ होना चाहिए। प्रत्येक नागरिक को यह समझना चाहिए, कि उसके क्या अधिकार और कर्तव्य हैं। लोकतन्त्र शासन की सफलता की मुख्य शर्त यह है, कि नागरिकों का सहयोग उसे प्राप्त हो। कानून का पालन करना, टैक्सों को ईमानदारी के साथ अदा करना, अपराधियों की गिरफ्तारी में सरकार के साथ सहयोग करना और रिश्वत देकर अपने स्वार्थ को सिद्ध करने का प्रयत्न न करना—ये ऐसी बातें हैं, जो लोकतन्त्र की सफलता के लिए नागरिकों में अवश्य होनी चाहिएँ।

(३) लोकतन्त्र शासन की सफलता के लिए जनता का शिक्षित होना भी बहुत जरूरी है। यहाँ शिक्षा का अभिप्राय यह नहीं कि सब कोई विद्वान् हों, पर उनमें यह योग्यता अवश्य होनी चाहिए कि वे भले-बुरे में तमीज कर सकें और अपने सच्चे व झूठे नेता की पहचान कर सकें। किस राजनीतिक दल के विचार व नीति उनके लिए लाभदायक है, यह समझ सकने की योग्यता जनता में अवश्य होनी चाहिए।

(४) लोकतन्त्र शासन की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है, कि जनता में एकता की भावना हो। जिस राज्य की जनता जात बिरादरी, सम्प्रदाय और प्रान्त आदि के भेदों को बहुत महत्त्व देती हो, उसमें लोकतन्त्र शासन का सफल हो सकना कठिन है।

(५) लोकतन्त्र शासन की सफलता की एक महत्त्वपूर्ण शर्त यह है, कि सब नागरिक सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से भी एक समान हों। जिन राज्यों की जनता में कुछ लोग बहुत अधिक धनी होते हैं और शेष जनता बहुत गरीब, उनमें भी लोकतन्त्र शासन सफल नहीं हो सकता। इसका कारण यह है, कि धनी लोग अपने धन के जोर से राजशक्ति को अपने हाथों में कर लेते हैं। गरीब लोग साधारण मजदूर व किसान की हैसियत में जमींदारों व पूँजीपतियों के वशवर्ती होते हैं, और चुनाव के अवसर पर अपने मालिकों के खिलाफ नहीं जा सकते। जिस राज्य की जनता में अमीर और गरीब का भेद कम होगा, कतिपय जमींदार व पूँजीपति किसानों व मजदूरों को अपने अधीन रख सकने में समर्थ नहीं होंगे, वहाँ जनता अपने वोट के अधिकार को स्वतन्त्रता के साथ प्रयोग में ला सकेगी, और स्वतन्त्र रूप से ऐसे प्रतिनिधियों को चुन सकेगी, जो असल में योग्य होंगे।

तानाशाही (Dictatorship) का उदय—

वर्तमान समय के लोकतन्त्र राज्यों में जो अनेक कमियाँ हैं, उन्हीं के कारण

१९१४-१८ के महायुद्ध के बाद तानाशाही का उदय हुआ। जर्मनी मे हिटलर ने और इटली मे मुसोलिनी ने लोकतन्त्र शासनो का अन्त कर सारी राजशक्ति को अपने हाथों मे कर लिया, और वे तानाशाह (Dictator) के रूप मे शासन करने लगे। रूस आदि अनेक देशो मे समाजवादी (Communist) शासन की स्थापना हुई, और कम्युनिस्ट लोगो ने फ्रास, इगलैण्ड व अमेरिका के ढग के लोकतन्त्र शासन के मुकाबिले मे ऐसी सरकारें कायम की, जिनमे राजनीतिक स्वतन्त्रता की अपेक्षा आर्थिक समानता या गरीब और अमीर के भेद को दूर करने पर अधिक जोर दिया गया। यद्यपि जर्मनी और इटली से नाजीज्म और फैसिज्म का अब अन्त हो गया है, पर कम्युनिज्म का प्रचार अब निरन्तर बढ रहा है। रूस के समान पूर्वी यूरोप के अनेक देशों और चीन मे अब कम्युनिस्ट शासन की स्थापना हो गई है। यद्यपि ये कम्युनिस्ट लोकतन्त्र शासन मे विश्वास रखते हैं, पर इनका लोकतन्त्र इंगलैंण्ड, फ्रास आदि के लोकतन्त्र से बहुत भिन्न है।

लोकतन्त्र शासन का भविष्य—लोकतन्त्र शासन की सफलता के लिए जिन शर्तों का होना आवश्यक है, उनका उल्लेख हमने ऊपर किया है। यदि ये शर्तें विद्यमान हो, तो लोकतन्त्र से अच्छी कोई अन्य शासनपद्धति नही हो सकती। इनमे भी आर्थिक समानता की शर्तें बहुत महत्त्व की है। जब तक जनता मे गरीब और अमीर का भेद उग्र रूप से बना रहेगा, लोकतन्त्र शासन सफल नही हो सकेगा। कम्युनिज्म का प्रसार इसीलिए हो रहा है, क्योकि कम्युनिस्ट लोग आमदनी के भेद का आधार योग्यता के भेद को मानते हैं। वे समाज मे न्याय चाहते हैं। जिस मनुष्य की योग्यता अधिक हो, उसे यदि आमदनी भी अधिक हो—तो इसे अनुचित नही समझा जा सकता। पर दिक्कत तो यह है, कि पूंजी के कारण कुछ धनी लोग गरीब मजदूरो के शोषण का अवसर प्राप्त कर लेते हैं। इसी कारण लोकतन्त्र शासन की सफलता मे बाधा उपस्थित होती है। यदि समाज का सगठन न्याय पर आश्रित हो, और उन शर्तों को पूरा किया जाए, जिनका जिक्र ऊपर किया गया है, तो लोकतन्त्रवाद के उज्ज्वल भविष्य मे कोई सन्देह नही हो सकता।

वर्तमान युग मे प्रत्यक्ष लोकतन्त्र शासन—

पिछले अध्याय मे प्रत्यक्ष (Direct) और परोक्ष या प्रतिनिधिसत्तात्मक (Representative) लोकतन्त्र शासन का भेद स्पष्ट किया जा चुका है। पुराने समय मे जब राज्य छोटे-छोटे हुआ करते थे, लोकतन्त्र शासन का प्रत्यक्ष रूप से हो सकना सम्भव था, क्योकि उन राज्यो के नागरिक राजसभा में एकत्र होकर अपना राज्यकार्य चला सकते थे। तब प्रतिनिधि चुनने की आवश्यकता नही थी। वर्तमान समय मे भी स्विट्जरलैण्ड के कतिपय कैन्टनो (प्रान्तो व राज्यो) मे प्रत्यक्ष शासन विद्-

मान हैं।

पर आजकल के कतिपय बड़े राज्यों में भी प्रत्यक्ष लोकतन्त्र शासन को आंशिक रूप में जारी करने का प्रयत्न किया गया है। इसके लिए जो ढंग उपयोग में लाये गये हैं, वे निम्नलिखित हैं—

(१) रिफरेन्डम (Referendum)—इस पद्धति के अनुसार पार्लियामेन्ट द्वारा स्वीकृत किसी कानून को तभी अन्तिमरूप से स्वीकार हुआ माना जाता है, जब कि राज्य के मतदाताओं व निर्वाचकों द्वारा उसके पक्ष में वोट ले लिए जाएँ। यदि मतदाताओं की एक निश्चित संख्या पार्लियामेन्ट द्वारा स्वीकृत किसी कानून को पसन्द न करे, तो वह प्रार्थनापत्र भेजकर यह मांग कर सकती है, कि जब तक उस कानून पर रिफरेन्डम न ले लिया जाए, उसे अमल में न लाया जाए। इस प्रार्थनापत्र के पेश होने पर एक दिन निश्चित करके उस कानून पर निर्वाचकों की राय ली जाती है, और यदि बहुसंख्यक मतदाता उसके खिलाफ वोट दें, तो उसे रद्द कर दिया जाता है।

(२) प्लेबिसिट (Plebiscite)—इसके अनुसार महत्त्वपूर्ण मामलों पर मतदाताओं की सम्मति ली जाती है, और पार्लियामेन्ट के सदस्य अपना निर्णय करते हुए प्लेबिसिट में प्रकट हुए लोकमत को समुचित महत्त्व प्रदान करते हैं।

(३) इनीशिएटिव (Initiative)—इसका अभिप्राय यह है, कि यदि मतदाता लोग किसी कानून को उपयोगी समझें, तो वे उसका मसविदा तैयार करके उस पर एक निश्चित संख्या में मतदाताओं के हस्ताक्षर करा लेते हैं, और फिर उस मसविदे को पार्लियामन्ट के सम्मुख पेश कर देते हैं। ऐसा होने पर पार्लियामेन्ट के लिए उस मसविदे पर विचार करना अनिवार्य हो जाता है।

(४) रिकाल (Recall)—इसके अनुसार यदि निर्वाचक लोग चाहें, तो अपने चुने हुए प्रतिनिधियों को उनके कार्य की अवधि के समाप्त होने से पहले ही वापस बुला सकते हैं। यदि एक निश्चित संख्या में मतदाता इस आशय के प्रार्थनापत्र पर हस्ताक्षर करके सरकार के पास भेज दें, कि उन्हें अपने चुने हुए प्रतिनिधि पर विश्वास नहीं रह गया है, तो सरकार के लिए यह आवश्यक होता है, कि वह उस प्रतिनिधि के पक्ष और विपक्ष में निर्वाचकों के वोट ले। यदि बहुसंख्या उस प्रतिनिधि के विपक्ष में वोट दे, तो वह प्रतिनिधि नहीं रहने पाता और नया चुनाव किया जाता है।

स्विट्जरलैण्ड, संयुक्त राज्य अमेरिका के अन्तर्गत कतिपय राज्यों और अन्य अनेक छोटे राज्यों में रिफरेन्डम, प्लेबिसिट, इनीशिएटिव और रिकाल की इन पद्धतियों का अनुसरण किया जाता है। इन पद्धतियों के कारण वर्तमान समय के राज्यों में भी प्रत्यक्ष लोकतन्त्र शासन की अनेक विशेषताएँ क्रियान्वित हो सक रही हैं।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ एकतन्त्र शासन का क्या अभिप्राय है ? उसके गुणो व दोषों का विवेचन कीजिये ।

२. लोकतन्त्र शासन की व्याख्या कीजिये । लोकतन्त्र शासन मे भाषण और समाचार-पत्र की स्वतन्त्रता का क्या महत्त्व है ? इस पर प्रकाश डालिये । (यू० पी० १९४२)

३ लोकतन्त्र शासन और तानाशाही मे क्या अन्तर है ? दोनो के गुण-दोषों की तुलना कीजिये । (यू० पी० १९४४)

४ श्रेणितन्त्र से आप क्या समझते हैं ? उसके गुणों और दोषो का उल्लेख कीजिये ।

५ लोकतन्त्र शासन का क्या अभिप्राय है ? उसके गुणों और दोषों पर प्रकाश डालिये ।

६ लोकतन्त्र शासन की सफलता के लिये कौन सी शर्तें आवश्यक हैं ? ये शर्तें भारत मे कहाँ तक पाई जाती हैं ?

७ 'लोकतन्त्र शासन को सफलता के लिए व्यापक शिक्षा अत्यन्त आवश्यक हैं', विवेचना कीजिये । (राजपूताना १९४४)

८ लोकतन्त्र मे आप क्या समझते हैं ? उसकी सफलता के लिए किन शर्तों की आवश्यकता है ? (यू० पी० १९५२)

९ 'शिक्षा से विहीन लोकतन्त्र शासन सबसे निकृष्ट शासनपद्धति है', विवेचना कीजिये । (यू० पी० १९५१)

सत्रहवाँ अध्याय

एकात्मक और संवर्गात्मक शासन

(Unitary and Federal Governments)

एकात्मक और संवर्गात्मक शासनों का अभिप्राय—

राज्य की राजशक्ति का प्रयोग एक सरकार द्वारा होता है, या अनेक (केन्द्रीय और प्रादेशिक) सरकारो द्वारा, इस आधार पर शासन के दो भेद किये जाते है, एकात्मक (Unitary) और संवर्गात्मक (Federal)। एकात्मक शासन मे राज्य की सरकार एक ही होती है। इन राज्यो मे शासन की सुविधा के लिए राज्य को अनेक प्रान्तो व जिलो मे अवश्य विभक्त कर दिया जाता है, और इन विभागो को शासन सम्बन्धी अनेक अधिकार भी दे दिये जाते हैं, पर असली राजशक्ति एक केन्द्रीय सरकार के पास ही रहती है। यह केन्द्रीय सरकार प्रान्तो और जिलो के शासन के लिए स्वेच्छापूर्वक व्यवस्था करती है, और इन विभागो के अधिकारो को कम व अधिक भी करती रह सकती है। इङ्गलैण्ड, फ्रास, इटली, बल्जियम आदि राज्यो की सरकारें एकात्मक हैं। उदाहरण के लिए फ्रास को लीजिये। शासन की सुविधा के लिए फ्रास को बहुत से प्रान्तो मे विभक्त किया हुआ है, पर ये प्रान्त केवल शासन की सुविधा के लिए हैं। उनका शासन पूरी तरह से फ्रास की केन्द्रीय सरकार के अधीन है। यही बात इङ्गलैण्ड आदि अन्य एकात्मक राज्यो के विषय मे भी कही जा सकती है।

संवर्गात्मक शासन वे होते हैं, जिनमे प्रादेशिक सरकारो के अधिकार व शक्ति केन्द्रीय सरकार की इच्छा पर निर्भर नहीं करते। संवर्ग (Federation) के अन्दर जो अनेक राज्य शामिल होते हैं, उनकी सरकारें अपनी शक्ति संवर्ग सरकार (Federal Government) से नहीं प्राप्त करतीं। इन (संवर्ग के अतर्गत) राज्यो की सरकारो की क्या शक्ति हो, क्या अधिकार हो—ये बातें संविधान (Constitution) द्वारा निर्धारित कर दी जाती हैं। संविधान द्वारा यह भी निश्चित कर दिया जाता है कि संवर्ग सरकार का क्षेत्र क्या हो, और संवर्ग के अन्तर्गत विविध राज्यो की सरकारो का क्षेत्र क्या हो। संवर्ग सरकार विविध राज्यो की सरकारो के इस क्षेत्र मे हस्तक्षेप नहीं कर सकती।

संयुक्त राज्य अमेरिका संवर्ग सरकार का सबसे उत्तम उदाहरण है। उसके

रहते हैं। इस कारण राज्य के विविध अंगों के अधिकारों और शक्ति के विषय में कोई विवाद या संघर्ष उत्पन्न नहीं होता। वहाँ इस सवाल के पैदा होने की गुंजाइश ही नहीं होती कि कौन-सा विषय सवर्ग सरकार का है, और कौन-सा प्रादेशिक सरकारों का।

(३) एकात्मक सरकारों के काम कम खर्च में चल जाते हैं, क्योंकि उन्हें दोहरे राजकर्मचारी नहीं रखने पड़ते। सवर्गों में प्रत्येक स्थान पर दो प्रकार के कर्मचारी होते हैं, एक केन्द्रिय सवर्ग सरकार के और दूसरे सवर्ग के अन्तर्गत राज्यों की सरकारों के, इससे दोहरा खर्च पड़ता है।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एकात्मक सरकारें अधिक शक्तिशाली होती हैं, क्योंकि उनकी नीति स्पष्ट और निश्चित होती है। इसके विपरीत सवर्गों को अपनी विदेशी नीति का निर्धारण करते हुए यह ध्यान में रखना पड़ता है, कि विविध राज्यों की सरकारें उसके विरुद्ध न हों।

एकात्मक शासन के दोष (Defects of Unitary Government)—

(१) एकात्मक शासन में सारी राजशक्ति एक केन्द्रीय सरकार के हाथों में रहती है, जिसके कारण राजधानी से दूर के प्रदेशों की स्थानीय समस्याओं पर भली भाँति ध्यान नहीं दिया जा सकता। राज्य के विविध प्रदेशों की कितनी ही ऐसी समस्याएँ होती हैं, जिन्हें वहाँ के लोग ही भली भाँति समझ सकते हैं। जब इनके बारे में निर्णय करना भी एक केन्द्रीय सरकार के हाथों में होता है, तो वह केन्द्रीय सरकार इनके विषय में ठीक ठीक निर्णय नहीं कर पाती।

यह सही है, कि बड़े एकात्मक राज्यों को शासन की सुविधा के लिए अनेक प्रान्तों में और फिर प्रान्तों को अनेक जिलों में विभक्त किया जाता है। इन प्रान्तों और जिलों की भी अपनी सरकारें होती हैं। पर ये स्थानीय सरकारें केन्द्रीय सरकार के हाथ में कठपुतली के समान होती हैं, इन्हें कानून बनाने का जो थोड़ा बहुत अधिकार दिया जाता है, उस पर केन्द्रीय सरकार कठोर नियन्त्रण रखती है। स्थानीय सरकारें जो कानून बनाती हैं, या जिस नीति को अपनाना चाहती हैं, उसके लिए उन्हें प्रायः केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति लेनी पड़ती है, जिसमें बहुधा बहुत देर लग जाती है।

(२) लोकतन्त्र शासन एकात्मक राज्यों में सफल नहीं हो पाते। लोकतन्त्र शासन में राज्यकार्य जनता के हाथों में होना चाहिए। यह तभी सम्भव है, जब शासन में विकेन्द्रीकरण (Decentralization) की नीति का अनुसरण किया जाए। प्रत्येक ग्राम, कस्बे व नगर की अपनी पंचायतें हों, और इन पंचायतों को ठोस अधिकार प्राप्त हों। इनकी स्थिति छोटी-छोटी स्वतन्त्र रिपब्लिकों के समान हो, और इनकी जनता

अपने साथ सम्बन्ध रखने वाले मामला का स्वय ही निर्णय किया करे। साथ ही, राज्य के विविध प्रदेशो मे भी स्वायत्त शासन विद्यमान हो। एकात्मक शासन मे ये बातें सम्भव नही होती।

(३) एकात्मक शासन छोटे-छोटे राज्यो के लिए चाहे उपयुक्त हो, पर बडे राज्यों के लिए वह कदापि उपयुक्त नही हो सकता।

(४) जिन राज्यो की जनता म भाषा, नसल, धर्म आदि की विभिन्नताएँ हो, जिनके विविध प्रदेशो मे भिन्न-भिन्न भाषाएं बोलने वाले या विभिन्न नसलों के लोगो का निवास हो, उनमे तो एकात्मक शासन कभी सफल हो ही नही सकता। उनके लिए तो सवर्गात्मक शासन ही उपयुक्त होता है।

संवर्गात्मक शासन के गुण (Merits of Federal Government)—

(१) सवर्ग (Federation) के कारण छोटे-छोटे राज्यों को यह अवसर मिलता है, कि वे परस्पर मिलकर शक्तिशाली व विशाल राज्य का निर्माण कर सकें। वर्तमान युग मे सघशक्ति ही सबसे बडी शक्ति है। सयुक्त राज्य अमेरिका का निर्माण जिन बहुत से राज्यो से मिलकर हुआ है, यदि वे पृथक्-पृथक् रहते, तो आज उनकी वह शक्ति कहाँ होती, जो अमेरिकन सवर्ग के कारण उन्हे प्राप्त है। भारत भी एक प्रकार का सवर्गात्मक राज्य ही है, जिसमे बगाल, बिहार, पजाब, आन्ध्र मध्यप्रदेश आदि कितने ही राज्य सम्मिलित हैं। यदि ये सब राज्य पूर्णतया स्वतन्त्र हो जाएँ, तो इनकी शक्ति व महत्त्व कम हो जायँगे। एक सगठन मे सगठित हो जाने से राज्यो का बल बढता है, और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे उनके महत्त्व मे वृद्धि होती है।

(२) सवर्गात्मक शासन के कारण छोटे-छोटे राज्यो को यह अवसर मिलता है, कि वे अपनी विभिन्नताओ और विशेषताओ को कायम रखते हुए एक विशाल व शक्तिशाली राज्य के अग बन सकें। भारत के सघ (यूनियन) मे जो राज्य शामिल हैं, उन्हे इस बात का पूरा अवसर दिया गया है, कि वे अपनी भाषा, सस्कृति आदि को न केवल कायम रख सकें, अपितु उनका विकास भी कर सकें।

(३) सवर्गात्मक शासन लोकतन्त्र के अधिक अनुकूल होते हैं, क्योंकि उनमे जनता को अपनी इच्छा के अनुसार स्वय शासन करने का मौका मिलता है। सवर्ग मे जो अनेक छोटे-छोटे राज्य शामिल होते है, वे अपने साथ सम्बन्ध रखने वाले मामलो मे स्वतन्त्र रहते हैं। अपने लिए कानून बनाने व अपनी नीति का निर्धारण करने की उन्हे स्वतन्त्रता रहती है।

(४) सवर्गात्मक शासन मे सारी राजशक्ति एक केन्द्रीय सरकार मे निहित नहीं होती। इस कारण केन्द्रीय सरकार का बोझ हलका हो जाता है, और वह अपनी सारी शक्ति ऐसे मामलो म लगा सकती है, जिनका सम्बन्ध सारे राज्य की रक्षा व

अठारहवाँ अध्याय

मन्त्रिमण्डल के अधीन शासन और राष्ट्रपति के अधीन शासन

(Parliamentary or Cabinet form of Govrnment and Presidential form of Government)

मन्त्रिमण्डल के अधीन शासन (Cabinet form of Government)—

व्यवस्थापन विभाग (Legislature) और शासन विभाग (Executive) मे क्या सम्बन्ध है, इस आधार पर सरकार के दो भेद किये जाते हैं, मन्त्रिमण्डल के अधीन शासन और राष्ट्रपति के अधीन शासन।

जिन सरकारो मे शासन विभाग या मन्त्रिमण्डल व्यवस्थापन विभाग (पार्लियामेन्ट) के प्रति उत्तरदायी होते है, उन्हे 'मन्त्रिमण्डल के अधीन शासन' कहते हैं। इसी को ससदात्मक (Parliamentary) शासन भी कहा जाता है। इस पद्धति की निम्नलिखित विशेषताएं होती है—

(१) इस शासन पद्धति मे मन्त्रिमण्डल के सदस्यो की नियुक्ति पार्लियामेन्ट के सदस्यो मे से ही की जाती है। पार्लियामेन्ट मे जिस दल की बहुसख्या हो, उसके नेता को प्रधानमन्त्री का पद दिया जाता है और वह अपने दल के सदस्यो मे से अन्य मन्त्रियो की नियुक्ति करता है। यदि प्रधान मन्त्री किसी ऐसे व्यक्ति को मन्त्री बनाना चाहे, जो उस समय पार्लियामेन्ट का सदस्य न हो, तो उसे सामयिक रूप से मन्त्री बनाया जा सकता है। पर कुछ समय (प्राय छ महीने) के अन्दर अन्दर ऐसे व्यक्ति को पार्लियामेन्ट का सदस्य अवश्य बन जाना चाहिए। इस प्रकार 'मन्त्रिमण्डल के अधीन' शासन मे व्यवस्थापन विभाग और शासन विभाग का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ रहता है।

(२) मन्त्रियो की सयुक्त जिम्मेवारी (Joint Responsibility) इस शासन-पद्धति की दूसरी विशेषता है। इस पद्धति मे सारा मन्त्रिमण्डल सयुक्त रूप से पार्लियामेन्ट के प्रति उत्तरदायी होता है। यदि पार्लियामेण्ट किसी एक मन्त्री के प्रति भी अविश्वास का प्रस्ताव (Motion of No-confidence) स्वीकृत कर दे, तो सारा मन्त्रिमण्डल त्यागपत्र दे देता है।

(३) इस पद्धति में मन्त्रिमण्डल ही उन सब कानूनों व प्रस्तावों के मसविदों को तैयार करता है, जिन्हें सरकारी तौर पर पार्लियामेन्ट के सामने पेश करना होता है। सरकार के सब कार्यों के लिए मन्त्रिमण्डल को जिम्मेवार माना जाता है। इस कारण शासन का जो मुखिया हो, चाहे वह वंशक्रम से आया हुआ राजा हो और चाहे चुना हुआ राष्ट्रपति उसके सम्बन्ध में यह सिद्धान्त मान लिया जाता है, कि वह कोई गलती नहीं कर सकता। सरकारी नीति व कार्यों में यदि कोई गलती हो, तो उसका जिम्मेवार मन्त्रिमण्डल को समझा जाता है, सरकार के प्रधान—राजा या राष्ट्रपति—को नहीं।

(४) इस पद्धति की चौथी विशेषता यह है, कि इसमें मन्त्रिमण्डल की कोई अवधि निश्चित नहीं होती। जब तक उसे पार्लियामेन्ट के बहुमत का विश्वास प्राप्त रहे, वह अपने पद पर रह सकता है। जब कभी पार्लियामेन्ट में मन्त्रिमण्डल के प्रति अविश्वास का प्रस्ताव पास हो जाए, या उसके द्वारा पेश किया गया कोई कानून व महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव अस्वीकृत हो जाए, तो मन्त्रिमण्डल अपने पद से त्यागपत्र दे देता है। पर यदि मन्त्रिमण्डल का यह विचार हो, कि पार्लियामेन्ट जनता का सच्चे अर्थों में प्रतिनिधित्व नहीं करती और जनता उसकी अपनी नीति के पक्ष में है, तो उसे यह अधिकार होता है कि वह पार्लियामेन्ट को बर्खास्त करा दे और नया चुनाव कराये।

राष्ट्रपति के अधीन शासन (Presidential form of Government)—

जिन सरकारों में शासन विभाग (Executive) व्यवस्थापन विभाग (Legislature) से सर्वथा पृथक् हो, और शासन विभाग का मुखिया एक ऐसा व्यक्ति हो जो अपने कार्यों के लिए पार्लियामेन्ट के प्रति उत्तरदायी न हो, उन्हें 'राष्ट्रपति के अधीन' शासन कहते हैं। इस सरकार की निम्नलिखित विशेषताएँ होती है—

(१) व्यवस्थापन विभाग और शासन विभाग का पृथक्त्व (Separation of Executive from Legislature) इस पद्धति की पहली विशेषता है। इस पद्धति में मन्त्रियों के लिए यह जरूरी नहीं होता कि वे पार्लियामेन्ट के भी सदस्य हों। साथ ही यह भी जरूरी नहीं होता, कि मन्त्री केवल उस दल के हों, जिसका पार्लियामेन्ट में बहुमत है। संयुक्तराज्य अमेरिका में, जहाँ की सरकार राष्ट्रपति के अधीन है, केवल *ऐसे लोगों को ही मन्त्री बनाया जाता है, जो वहाँ की पार्लियामेन्ट के सदस्य न हों।*

(२) राष्ट्रपति के अधीन शासन में शासन विभाग पार्लियामेन्ट के प्रति उत्तरदायी नहीं होता। इस पद्धति में शासन विभाग का मुखिया राष्ट्रपति होता है, जिसे मतदाता लोग सीधे चुनते हैं। राष्ट्रपति मतदाताओं द्वारा चुना हुआ होता है, और पार्लियामेन्ट के सदस्य उसे अपने पद से नहीं हटा सकते। शासन-कार्य में सहायता के

लिए वही मन्त्रियो की नियुक्ति करता है, और ये मन्त्री राष्ट्रपति के प्रति ही उत्तरदायी होते हैं। राष्ट्रपति जब चाहे इन मन्त्रियो को अपने पदों से हटा सकता है।

(३) शासन विभाग के मुखिया (राष्ट्रपति) को एक निश्चित अवधि (Fixed Term) के लिए चुना जाता है। इस अवधि म उसे अपने पद से नही हटाया जा सकता।

(४) पार्लियामेन्ट मे जो कानून व प्रस्ताव पेश होते हैं, मन्त्री लोग न उन्हे तैयार करते हैं, और न उन्हे पेश करते हैं। मन्त्री लोग यदि कोई कानून या प्रस्ताव पार्लियामेन्ट मे पेश करना चाहें, तो वे पार्लियामेन्ट के किसी ऐसे सदस्य से उसे पेश कराते हैं, जो उनके अपने दल का हो और उस कानून व प्रस्ताव का समर्थक हो।

(५) मन्त्री लोग पार्लियामेन्ट मे उपस्थित हो सकते हैं, और वहां भाषण भी कर सकते हैं। पर वे वोट नही दे सकते, क्योंकि वे पार्लियामेन्ट के सदस्य नही होते।

मन्त्रिमण्डल के अधीन शासन के गुण

(१) इस पद्धति मे व्यवस्थापन और शासन विभागो मे घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है, और ये दोनो विभाग परस्पर सहयोग से कार्य करते हैं। इस पद्धति में पार्लियामेन्ट के सदस्यो को यह ज्ञात रहता है, कि शासक वर्ग की क्या कठिनाइयाँ हैं, उसका क्या दृष्टिकोण है, और वह किन बातो को व किस नीति को राज्य के लिए उपयोगी समझता है। मन्त्रियो को भी इस पद्धति मे यह जानने का अवसर मिलता रहता है, कि जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि उनके कार्यों को किस दृष्टि से देखते हैं। इस प्रकार सरकार के इन दोनो महत्त्वपूर्ण विभागो मे सहयोग और सौमनस्य बना रहता है।

(२) इस पद्धति मे मन्त्री लोग तभी तक अपने पदो पर रह सकते हैं, जब तक कि जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियो का विश्वास उन्हे प्राप्त रहे। इस कारण मन्त्रिमण्डल के अधीन सरकार लोकतन्त्रवाद के अधिक अनुकूल होती है। राष्ट्रपति के अधीन शासन मे जनता को यदि राष्ट्रपति पर विश्वास न भी हो, वह उसके कार्यों व नीति को चाहे अनुचित भी समझती हो, तो भी निश्चित अवधि से पूर्व उसे अपने पद से पृथक् नहीं किया जा सकता।

(३) मन्त्रिमण्डल के अधीन शासन मे अनुभवी व योग्य व्यक्तियो को शासन कार्य सँभालने का अवसर मिलता है। जो योग्य व्यक्ति हो, पहले वे जनता के हृदयो मे अपने लिए स्थान प्राप्त करके पार्लियामेन्ट के सदस्य चुने जाते हैं। फिर वे पार्लियामेन्ट मे अपनी योग्यता का सिक्का जमाते हैं। धीरे धीरे जब वे अपने दल मे प्रमुख स्थान प्राप्त कर लेते हैं, तभी उन्हे मन्त्री बनने का मौका मिलता है।

(४) मन्त्रिमण्डल के अधीन शासन का एक मुख्य गुण यह है, कि वे जनता की इच्छा या लोकमत के अधिक अनुकूल होते हैं। यदि राष्ट्रीय विपत्ति के किसी असाधारण अवसर पर जनता यह अनुभव करे, कि सरकार मे परिवर्तन होना जरूरी है और प्रधान मन्त्री के पद पर किसी ऐसे व्यक्ति को नियुक्त किया जाना चाहिये, जिसे सब दलो का सहयोग प्राप्त हो, तो इस पद्धति मे मन्त्रिमण्डल को बदल सकना बहुत सुगम होता है।

मन्त्रिमण्डल के अधीन शासन के दोष

(१) लोकतन्त्र की सफलता के लिए यह जरूरी माना जाता है, कि सरकार की तीन मुख्य शक्तियाँ—व्यवस्थापन, शासन और न्याय एक हाथ मे न रहकर पृथक्-पृथक् हाथो मे रहे। पर इस पद्धति मे व्यवस्थापन और शासन की शक्तियाँ एक दूसरे से पृथक् नहीं रहती। मन्त्रिमण्डल की स्थिति पार्लियामेन्ट की एक उपसमिति के सदृश होने के कारण 'राजशक्ति के विभाजन' (Separation of Power) के सिद्धान्त को अमल मे नहीं लाया जा सकता।

(२) मन्त्रिमण्डल के अधीन शासन मे किसी एक राजनीतिक दल का ही शासन रहता है। इस कारण अन्य राजनीतिक दलो के योग्य व्यक्तियो का शासन मे सहयोग नही मिलता।

(३) जिन देशो मे बहुत से राजनीतिक दल होते हैं, उनमे मन्त्रिमण्डल जल्दी-जल्दी बदलते रहते है। यह बात शासन की स्थिरता के लिए बहुत हानिकारक होती है। फ्रास मे प्राय एक साल मे चार-पांच मन्त्रिमण्डल बदलते रहे हैं। इस कारण वहाँ कोई सरकार चैन व निश्चिन्तता से अपना कार्य कर सकने म समर्थ नही रहती रही।

(४) इस पद्धति मे पार्लियामेन्ट की स्थिति मन्त्रिमण्डल के हाथो मे कठपुतली के समान हो जाती है। मन्त्रिमण्डल जिन कानूनो को पेश करता है व जिस नीति का निर्धारण करता है, उसके दल के सब लोग आँख मीचकर उसके पक्ष मे वोट दे देते हैं, और पार्लियामेण्ट किसी प्रश्न पर स्वतन्त्रता से विचार नही कर पाती।

राष्ट्रपति के अधीन शासन के गुण

(१) इस पद्धति मे राष्ट्रपति व उसके मन्त्री अपना सब समय शासन-कार्य मे लगा सकते हैं। उन्हे इस बात की जरूरत नही होती, कि वे अपने को लोकप्रिय बनाये रखने के लिए जगह-जगह पर व्याख्यान देते फिरें व इसी प्रकार के अन्य कार्य करें। वे अपनी शक्ति राज्य के सुशासन के लिए लगा सकते हैं।

(२) इस पद्धति मे शासन विभाग को यह भरोसा रहता है, कि एक निश्चित अवधि से पूर्व उसे अपने पद से पृथक् नही किया जा सकता। इस कारण राष्ट्रपति व

उसके मन्त्री ऐसी योजनाएँ भी बना सकते है, जिन्हे पूरा करने मे कई वर्षों का समय लग जाए।

(३) इस पद्धति मे दलबन्दी की बुराइयां प्रगट नही होने पाती।

(४) शासन और व्यवस्थापन विभागो के पृथक् होने के कारण यह पद्धति लोकतन्त्रवाद के अधिक अनुकूल है।

राष्ट्रपति के अधीन शासन के दोष

(१) इस पद्धति मे शासन और व्यवस्थापन विभागो मे मतभेद उत्पन्न होते रहने की बहुत गु जाइश रहती है। ऐसा हो सकता है, कि राष्ट्रपति किसी एक दल का हो और पार्लियामेन्ट म उसके विरोधी दल का बहुमत हो। इस दशा मे उन कानूनो को पार्लियामेन्ट द्वारा स्वीकृत करा सकना सुगम नही होता, जिन्हे राष्ट्रपति राज्य के लिए हितकारी समझता हो।

(२) इस पद्धति मे यह मुमकिन नही होता, कि समय के अनुसार शासकवर्ग मे परिवतन हो सके। शान्ति के समय मे एक आदमी राष्ट्रपति चुना जाता है, पर उसके कार्य की अवधि मे ही महायुद्ध शुरू हो जाता है। वह आदमी शान्ति के काल के लिए बहुत योग्य था, पर युद्ध के समय देश का नेतृत्व करने की उसमे योग्यता नही। इस पद्धति मे यह बडा दोष है, कि समय की आवश्यकता के अनुसार शासन विभाग मे परिवर्तन कर सकना सुगम नहीं होता।

(३) इस पद्धति मे राष्ट्रपति की स्थिति एक निरकुश राजा के समान हो जाती है, क्योंकि जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि उसके कार्यों पर अकुश नही रख सकते।

अधिक प्रचलित शासन-पद्धति—सयुक्त राज्य अमेरिका ही एक ऐसा बडा व शक्तिशाली राज्य है, जिसमे राष्ट्रपति के अधीन शासन की सत्ता है। अर्जेन्टिना, ब्राजील आदि अमेरिकन महाद्वीप के कतिपय अन्य राज्यो ने भी इसी पद्धति का अनुसरण किया है। पर यूरोप, एशिया, आस्ट्रेलिया आदि के अन्य प्राय सभी राज्यो मे मन्त्रिमण्डल के अधीन शासन की पद्धति प्रचलित है। इङ्गलैण्ड, इटली आदि अन्य सभी शक्तिशाली राज्यो मे इसी ढग की सरकारें हैं, जिनमे मन्त्रिमण्डल पार्लियामेन्ट के प्रति उत्तरदायी है। भारत के नये सविधान मे भी इसी पद्धति का अनुसरण किया गया है।

उत्तम शासन-पद्धति की परख (Test of Good Government)

पिछले चार अध्यायो मे हमने उन बहुत-सी शासन पद्धतियो पर सक्षेप से प्रकाश डाला है, जो इस समय ससार के विविध राज्यो मे प्रचलित हैं, या पुराने

जनयों में प्रचलित रही हैं। इनमें से कौन-सा पद्धति सर्वोत्तम है, यह कह सकना बहुत कठिन है। इसका कारण यह है, कि सरकार की उत्तमता की कोई ऐसी परख नहीं है, जो सर्वमान्य हो। साथ ही यह भी सत्य है, कि किसी एक शासनपद्धति को सब कालों में व सब राज्यों के लिए उपयुक्त नहीं समझा जा सकता। गार्नर ने ठीक लिखा है, 'कि जैसे कपड़े का कोई एक ऐसा नाप नहीं हो सकता, जो सब मनुष्यों को ठीक बैठ जाए, वैसे ही कोई एक शासन पद्धति ऐसी नहीं हो सकती, जो सब राज्यों के लिए उपयुक्त हो।'

जिन राज्यों की जनता सुशिक्षित हो, अपने कर्तव्यों और अधिकारों को भली-भांति समझती हो, और सरकार के साथ सहयोग करने के लिए सचेष्ट हो, उनके लिए लोकतन्त्र शासन उपयुक्त होता है। इसके विपरीत जहाँ जनता अशिक्षित हो, छोटे-छोटे प्रलोभनों में आकर अपने वोट के अधिकार का दुरुपयोग करने में सकोच न करे, और जिसे अपने कर्तव्यों का ज्ञान न हो, वहाँ लोकतन्त्र शासन सफल नहीं हो सकता। ऐसे राज्यों के लिए सम्भवत एकतन्त्र या श्रेणितन्त्र शासन पद्धति अधिक उत्तम होगी।

उन राज्यों के लिए सवर्ग शासन अधिक उपयुक्त है, जिनमें अनेक नसलों, धर्मों, भाषाओं और संस्कृतियों के लोगों का निवास हो। एकात्मक शासन ऐसे राज्यों के लिए उत्तम है, जो आकार में बहुत विशाल न हों और जिनके सब निवासी राष्ट्रीय दृष्टि से पूर्णतया एक हों।

मन्त्रिमण्डल के अधीन शासन उन राज्यों के लिए अधिक उपयुक्त है, जिनमें दो या तीन सुसगठित राजनीतिक दलों की सत्ता हो। कुछ विशेष दशाओं में तानाशाही शासन को भी उपयोगी माना जा सकता है। जब किसी देश पर कोई सकट आया हुआ हो, तो किसी एक योग्य व्यक्ति के हाथों में सरकार की बागडोर दे देने में भी लाभ हो सकता है। इसीलिए एक विद्वान् का मत है, कि सरकार एक मकान के समान होती है। जिस प्रकार किसी मकान का निर्माण उसमें रहने वाले लोगों की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर किया जाता है, वैसे ही किसी राज्य की शासन-पद्धति का निर्माण भी उसकी जनता की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर करना चाहिए।

इसमें सन्देह नहीं, कि कोई एक शासन पद्धति सब राज्यों के लिए उपयुक्त नहीं हो सकती, पर साथ ही जॉन स्टुअर्ट मिल के इस कथन में भी बहुत सचाई है, कि "उत्तम सरकार के लिए पहली शर्त यह है, कि वह जनता में उत्तम गुण और बुद्धिमत्ता उत्पन्न करे।" इस लिहाज से लोकतन्त्र शासन के मुकाबिले में अन्य किसी शासन-पद्धति को उत्तम नहीं माना जा सकता, क्योंकि लोकतन्त्र ही ऐसा शासन होता है, जिसमें जनता में उत्तम गुणों और बुद्धिमत्ता का विकास हो सकता है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. मन्त्रिमण्डल के अधीन (मन्त्रिमण्डल-प्रधान) और राष्ट्रपति के अधीन (राष्ट्रपति-प्रधान) शासन-पद्धतियों मे क्या अन्तर है ? उनके गुण-दोषों का विवेचन कीजिये। (राजपूताना, १९५१)

२. मन्त्रिमण्डल के अधीन और राष्ट्रपति के अधीन सरकारों के गुणों और दोषों का वर्णन कीजिए। (यू० पी०, १९४७)

३ मन्त्रिमण्डल के अधीन शासन (Parliamentary Executive) की क्या मुख्य विशेषताएँ हैं ? यह बताइये कि राजनीतिक दलों की सत्ता इसकी सफलता के लिए क्यों आवश्यक है ? (यू० पी०, १९४०)

४ राष्ट्रपति के अधीन शासन की क्या मुख्य विशेषताएँ हैं ? इस पद्धति के गुणों और दोषों की विवेचना कीजिये।

५. उत्तम शासन-पद्धति की परख क्या है ? कौन-सी शासन-पद्धति किस प्रकार के राज्य के लिए अधिक उपयुक्त होती है ?

६. 'शासन-पद्धति के विषय मे मूर्ख लोग झगडा करते हैं। जिसका शासन सर्वश्रेष्ठ हो, वही सर्वोत्तम शासन-पद्धति है।' इस कथन की विवेचना कीजिये। (अजमेर, १९५२)

उन्नीसवाँ अध्याय

राज्य का संविधान

(Constitution)

संविधान की आवश्यकता—

प्रत्येक राज्य के लिए एक सविधान की आवश्यकता होती है, विशेषतया उन राज्यो के लिए जिनमे लोकतन्त्र शासन हो। सरकार का सगठन सारे राज्य मे विद्यमान होता है। उसके सब कर्मचारी किन्ही निश्चित नियमो व व्यवस्थाग्रो के अधीन होते हैं। गांव के चौकीदार से लेकर राष्ट्रपति तक सब इस सगठन के अन्दर रहते हुए ही अपना-अपना कार्य करते है। इसलिए यह जरूरी होता है, कि इन सब सरकारी कर्मचारियो के अधिकार और कर्तव्य भली भाँति स्पष्ट हो, ताकि कोई भी कर्मचारी न अपने अधिकारो का दुरुपयोग कर सके, और न अपने कर्तव्यो की उपेक्षा कर सके। साथ ही, राज्य मे प्रत्येक नागरिक के भी कतिपय अधिकार व कर्तव्य होते हैं। जब लोकतन्त्र शासनो मे सब लोग राजशक्ति के प्रयोग मे हाथ बटाते हैं, तो उन्हे यह भी भली भाँति मालूम होना चाहिए कि उनके शासन मे क्या-क्या अधिकार हैं, और क्या-क्या कर्तव्य हैं। सविधान मे इन्ही सब बातो का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया जाता है। यदि सविधान न हो, तो सरकारी कर्मचारी अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर सकेंगे, और जनता के अधिकार सुरक्षित नही रहने पाएँगे।

संविधान का अभिप्राय—

सविधान का लक्षण अनेक प्रकार से किया गया है। सर जेम्स मैकिन्टोश के अनुसार "सविधान उन लिखित व अलिखित आधारभूत कानूनों के समूह को कहते हैं, जो कि उच्च पदाधिकारियो के सबसे महत्त्वपूर्ण अधिकारो और जनता के सबसे महत्वपूर्ण विशेषाधिकारो (Privileges) को नियमबद्ध करते हैं।"

स्विट्जरलेण्ड के विद्वान् बोर्जो (Borgeaud) ने सविधान का जो लक्षण किया है, वह अधिक स्पष्ट है—"सविधान उस आधारभूत कानून को कहते हैं, जिसके अनुसार राज्य की सरकार का सगठन किया जाता है, और जिसके अनुसार व्यक्तियो और समाज का पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित होता है।"

जेलीनेक के अनुसार "सविधान उन कानूनो का नाम है, जिनके द्वारा राज-

शक्ति को प्रयोग मे लाने वाले प्रधान साधनो का स्वरूप निश्चित होता है, और इन विविध साधनो का निर्माण किस ढग से किया जाए, इनमे परस्पर क्या सम्बन्ध हो, इनका कार्यक्षेत्र क्या हो, और इनमे से प्रत्येक का राज्य के साथ क्या सम्बन्ध हो—ये बाते जिनसे निर्धारित होती हैं।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि सविधान द्वारा निम्नलिखित बातें प्रतिपादित की जाती हैं—

(१) किसी राज्य की सरकार के कौन कौन से अग हैं।

(२) इन विविध अगो की क्या शक्ति है, क्या कार्यक्षेत्र है, उनके परस्पर क्या सम्बन्ध है, और राज्य के साथ उनका क्या सम्बन्ध है।

(३) जनता के कौन से ऐसे आधारभूत अधिकार हैं, जिनका सरकार अतिक्रमण नही कर सकती, और वे कौन से ऐसे साधन हैं, जिनसे जनता अपने इन अधिकारो की रक्षा कर सकती है।

सविधानो के भेद व प्रकार (Types of Constitutions)—

सविधानो का वर्गीकरण (Classification) अनेक प्रकार से किया जाता है। मुख्य वर्गीकरण निम्नलिखित हैं—

(१) विकसित (Evolved) और विहित (Enacted)—जिन राज्यो की शासनपद्धति धीरे-धीरे विकसित हुई हो, जिनकी शासनपद्धति का आधार पुरातन परम्पराएँ व प्रथाएँ हो, जिनकी शासनपद्धति का निर्माण किसी सविधान परिषद् (Constituent Assembly) द्वारा न किया गया हो, उनके सविधान को 'विकसित' (Evolved) कहते है। इङ्गलैण्ड इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। वहाँ के सविधान का निर्माण किसी सविधान परिषद् द्वारा नही किया गया। वहाँ राजा, मन्त्रिमण्डल, पार्लियामेण्ट आदि की शक्ति व अधिकारक्षेत्र आदि किसी एक कानून द्वारा लेखबद्ध भी नही कर दिये गये है। वे ऐतिहासिक विकास के परिणाम हैं। इसीलिए वहाँ के सविधान को 'विकसित' कहा जाता है। इस समय तक भी इगलैण्ड का सविधान लेखबद्ध नही हुआ है। उसमे यदि कोई परिवर्तन करना हो, तो उसके लिए किसी सविधान परिषद् की आवश्यकता नही समझी जाती। अब भी उसमें विकास जारी है, और जनता के विचारो और समय के अनुसार उसमे परिवर्तन होता रहता है। नई परिस्थिति के उत्पन्न होने पर इङ्गलैण्ड मे नई परम्परा का विकास हो जाता है, और इस प्रकार वहाँ का सविधान निरन्तर विकसित होता रहता है।

विहित सविधान (Enacted Constitution) वह सविधान है, जिसका निर्माण किसी सविधान परिषद् (Constituent Assembly) द्वारा हुआ हो। इस प्रकार के सविधान लेखबद्ध होते है, और उनमे सब बातें स्पष्ट रूप से लिखित रहती

है। भारत, सयुक्तराज्य अमेरिका आदि कितने ही राज्यो के सविधान 'विहित' ही हैं।

(२) लिखित और अलिखित सविधान (Written and Unwritten Constitutions)—लिखित सविधान वे कहाते हैं, जो पूर्णतया या अधिकाश रूप से लेखबद्ध हो। इनका निर्माण पालियामेंट या सविधान-परिषद् द्वारा किया जाता है। लिखित सविधान मे एक या एक-से-अधिक ऐसे विधानो (Acts) का समावेश होता है, जिनमे शासन की विधि का स्पष्ट व विशद रूप से प्रतिपादन किया गया हो। सरकार का सगठन किस प्रकार का हो, उसके विविध विभागों के क्या अधिकार और कर्तव्य हो, उनकी रचना किस प्रकार की जाए, और नागरिकों के आधारभूत (Fundamental) अधिकार कौन से हो—इन सब बातो का लिखित सविधान मे समावेश किया जाता है।

अलिखित सविधान वे होते हैं, जिनमे सरकार के सगठन की अधिकांश बातें किसी एक जगह पर लेखबद्ध नहीं होती। इन सविधानो मे लिखित कानून के मुकाबिले मे परम्परागत रिवाजो, प्रथाओं और न्यायालय के निर्णयों का महत्त्व अधिक होता है। इङ्गलैण्ड का सविधान अलिखित सविधान का सब से उत्तम उदाहरण है। इङ्गलैण्ड मे मन्त्रिमण्डल (कैबिनेट) का महत्त्व बहुत अधिक है, वही वहाँ के शासन का सचालन करता है। पर इङ्गलैण्ड के लिखित कानूनो मे उसका कही भी उल्लेख नही है। उसकी सत्ता, अधिकार व कर्तव्य उस परम्परा पर आश्रित हैं, जिसका इङ्गलैण्ड मे धीरे धीरे विकास हुआ है। इङ्गलैण्ड के कानूनो के अनुसार राजा अब भी सर्वशक्ति-सम्पन्न व निरकुश है। वह जो चाहे, कर सकता है। पर परम्परा के अनुसार वह कोई ऐसा कार्य नही कर सकता, जो पालियामेण्ट को स्वीकार न हो।

सयुक्त राज्य अमेरिका, भारत, फ्रास आदि राज्यों के सविधान 'लिखित' हैं। इनका निर्माण सविधान-परिषदो द्वारा ही हुआ है।

लिखित और अलिखित सविधानो के विषय मे विचार करते हुए यह ध्यान मे रखना चाहिये, कि इनमे भेद पूरी तरह से वास्तविक नहीं होता। इसके दो कारण हैं—

(क) जिन राज्यो के सविधान लिखित हैं, उनम भी बहुत-सी ऐसी परम्पराओ व प्रथाओ का विकास हो जाता है, जो लिखित न होते हुए भी कानून का महत्त्व रखती हैं।

(ख) इगलैण्ड का सविधान अलिखित कहाता है। पर वह भी अब पूरी तरह से अलिखित नही रह गया है। वहाँ जो बहुत-सी बातें पहले परम्परागत रूप से चली आती थीं, उनमें से बहुत-सी अब पालियामेण्ट द्वारा स्वीकृत लेखबद्ध कानूनो के रूप में आ चुकी हैं।

(३) सुपरिवर्तनीय और दुष्परिवर्तनीय सविधान (Flexible and Rigid

Constitutions)—जिस सविधान को कानून बनाने के साधारण तरीके से बदला जा सके, उसे 'सुपरिवर्तनीय' (Flexible) कहते है। राज्य के कानूनो का निर्माण व्यवस्थापन विभाग (पालियामेण्ट) द्वारा किया जाता है। वही राज्य के लिए नये कानून बनाता है, और पहले बने हुए कानूनो मे परिवर्तन व सशोधन करता है। यदि यही व्यवस्थापन विभाग सविधान मे भी परिवर्तन व सशोधन कर सके, तो ऐसे सविधान को 'सुपरिवर्तनीय' कहेगे। इङ्गलैण्ड का सविधान सुपरिवर्तनीय है। वहाँ कानून बनाने का कार्य पालियामेण्ट (हाउस आफ कामन्स और हाउस आफ लार्ड्स) के हाथो मे है। यही पालियामेण्ट साधारण कानून बनाती है, और यही उन कानूनो को भी, जिन्हे 'सवैधानिक कानून' (Constitutional Law) कहा जाता है। हाउस आफ कामन्स का चुनाव कितने सालो के लिए हो, वोट का अधिकार किन व्यक्तियो को हो, हाउस आफ लार्ड्स के क्या अधिकार हो—इन बातो का सम्बन्ध सवैधानिक कानून से है। इङ्गलैण्ड की पालियामेण्ट इनमे भी परिवर्तन कर सकती है।

जिस सविधान को बदलने के लिये असाधारण तरीको को बरतना पडे, उसे 'दुष्परिवर्तनीय' कहते हैं। जो व्यवस्थापन विभाग (पालियामेण्ट) साधारण कानूनो को बनाता है या उनमे सशोधन करता है, उसे जब यह अधिकार न हो, कि वह सविधान मे किसी प्रकार का परिवर्तन कर सके, तो ऐसे सविधान को दुष्परिवर्तनीय कहा जाता है। सयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रास, भारत आदि के सविधान इसी ढंग के है। इन राज्यो मे सवैधानिक कानून को साधारण कानून की अपेक्षा ऊँचा माना जाता है, और उसमे परिवर्तन करने के लिए कुछ विशेष उपायो की आवश्यकता होती है।

भारत के सविधान मे यदि परिवर्तन करना हो, तो एक विशेष पद्धति का अनुसरण किया जाता है। सविधान मे सशोधन सम्बन्धी प्रस्ताव को पहले सघ (Union) की पालियामेण्ट के दोनो सदनो (Chambers) मे पृथक् पृथक् स्वीकार किया जाता है और इस स्वीकृति के लिए यह जरूरी है, कि सदस्यो की बहुसख्या या उपस्थित सदस्यो का दो तिहाई भाग उसके पक्ष मे वोट दे। सविधान की जिन धाराओ का सम्बन्ध भारतीय सघ के अन्तर्गत राज्यो के साथ हो, उनमे परिवर्तन करने के लिए यह भी आवश्यक है, कि बहुसख्यक राज्य भी उस परिवर्तन के पक्ष मे हो।

दुष्परिवर्तनीय सविधानो के गुण और दोष—

दुष्परिवर्तनीय सविधानो के गुण निम्नलिखित है—(१) इनमे परिवर्तन करना सुगम नही होता, अत इनके कारण देश के शासन मे स्थायित्व रहता है। इन्हे एक सविधान-परिषद् बहुत सोच-समझकर बनाती है। राज्य की पालियामेण्ट मे कभी किसी दल का बहुमत होता है, कभी किसी का। प्रत्येक राजनीतिक पार्टी

देश का शासन अपने विचारो के अनुसार करने का यत्न करती है। यदि सविधान को भी साधारण कानून के सामान सुगमता से बदला जा सके, तो देश के शासन म स्थिरता या स्थायित्व नही आने पाएँगे। मान लीजिये, एक पार्टी सम्पत्ति को व्यक्तियो से लेकर राज्य के स्वामित्व मे ले आने के पक्ष मे है, और दूसरी वैयक्तिक सम्पत्ति (Private property) की पक्षपाती है। पर यदि सविधान मे सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार को स्वीकार किया गया है, तो सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार का विरोधी समाजवादी दल तब तक वैयक्तिक सम्पत्ति का अन्त कर देने के लिए कोई कानून पास नहीं करा सकेगा, जब तक कि वह पहले सविधान मे परिवर्तन न करा ले। पर क्योकि सविधान मे परिवर्तन कराना सुगम नही होता, अत समाजवादी पार्टी पालियामेण्ट मे बहुमत प्राप्त करके भी देश की आर्थिक व्यवस्था मे भी सुगमता से परिवर्तन नही कर सकेगी।

(२) दुष्परिवर्तनीय सविधानो मे नागरिको के आधारभूत अधिकारो का स्पष्ट रूप से उल्लेख रहता है। सरकार का कोई अग (व्यवस्थापन या शासन) उनका उल्लघन करने की शक्ति नही रखता। इसलिए नागरिको की स्वतन्त्रता इस प्रकार के सविधानो मे अधिक सुरक्षित रहती है।

(३)अल्पसख्यक (Minorities) लोगो के अधिकारो की रक्षा के लिए भी इस प्रकार के सविधानो मे व्यवस्था की जाती है। इस कारण बहुसख्यक जातियो के लोग, जिनका स्वाभाविक रूप से पालियामेण्ट मे बहुमत होता है, केवल अपने बहुमत के कारण अल्पसख्यक लोगो के लिए हानिकारक कानूनो को पास नहीं कर पाते।

दुष्परिवर्तनीय सविधान मे कतिपय दोष भी होते हैं—

(१) मनुष्यो के विचारो और आवश्यकताओ मे निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। आज मनुष्य जिन विचारो को ठीक समझता है, कल वे पुराने पड जाते है। समाज के सगठन और शासनपद्धति के विषय मे भी मनुष्यो के विचार सदा एक से नही रहते। अत यदि सविधान को बहुत दुष्परिवर्तनीय बना दिया जाए,तो जनता क्रान्ति के अतिरिक्त किसी अन्य उपाय से उसमे परिवर्तन नही कर सकती। उसे नये सामाजिक सगठन को लाने के लिए हिंसा के उपायो का प्रयोग करना पडता है।

(२) अनेक बार ऐसे अवसर भी आ जाते हैं, जब किसी कानून को तुरन्त बनाने की आवश्यकता हो। महायुद्ध के अवसर पर नागरिको की अनेक स्वतन्त्रताओ व अधिकारो को छीन लेने की जरूरत हो सकती है। पर यदि सविधान मे सुगमता से परिवर्तन कर सकना सम्भव न हो, तो ये जरूरी कानून समय पर नही बनाये जा सकते।

सुपरिवर्तनीय संविधान के गुण और दोष—

सुपरिवर्तनीय संविधान के गुण निम्नलिखित हैं—

(१) जनता के विचारो मे जैसे-जैसे परिवर्तन आते जाएँ, संविधान को भी उसी के अनुसार बदलते रहना चाहिए। सुपरिवर्तनीय संविधान होने पर समाज के संगठन व शासनपद्धति मे परिवर्तन लाने के लिए क्रान्ति व हिंसात्मक उपायो की आवश्यकता नही रह जाती।

(२) किन्ही विशेष दशाओ मे शासन-व्यवस्था की अनेक बातो मे परिवर्तन की जरूरत पड जाती है। संयुक्तराज्य अमेरिका के संविधान के अनुसार हर चार साल बाद राष्ट्रपति और कांग्रेस (पालियामेण्ट) का नया चुनाव होना चाहिये। यदि महायुद्ध आदि के कारण नया चुनाव कर सकना सम्भव न हो, या उसे उचित न समझा जाए, तो भी अमेरिका मे नया चुनाव करना ही होगा, बशर्ते कि संविधान म संशोधन न किया जाए। पर क्योंकि वहाँ संविधान मे परिवर्तन करना आसान नहीं है, अत ऐसी दशा मे वहाँ एक विकट समस्या उपस्थित हो जायगी।

सुपरिवर्तनीय संविधान के कुछ दोष भी हैं—

(१) इसके कारण पालियामेण्ट के सदस्यो के हाथ मे बहुत शक्ति आ जाती है। वे अपने इच्छानुसार नागरिको के आधारभूत अधिकारो तक का अपहरण कर सकते है।

(२) राजनीतिक दलो और उनके नेताओ की शक्ति भी इससे बहुत बढ जाती है, और कोई ऐसी मर्यादा नही रह जाती, जिसका पालन करना उनके लिए अनिवार्य हो। बहुमत वाली पार्टी अपनी इच्छानुसार बिना किसी मर्यादा के जो चाहे कानून बनवा सकती है।

उपसंहार—इसमे सन्देह नही, कि सुपरिवर्तनीय और दुष्परिवर्तनीय दोनो प्रकार के संविधानो मे अनेक गुण और अनेक दोष हैं। संविधान को इतना दुष्परिवर्तनीय भी नही होना चाहिए, कि समय के अनुसार उसमे परिवर्तन कर सकना कठिन हो जाए। एक विद्वान् ने ठीक कहा है, कि दुष्परिवर्तनीय संविधान उस वस्त्र के समान है, जिसे मनुष्य के शरीर के नाप का बनाया जाना है, पर जिसे बनाते समय यह ध्यान मे नहीं रखा जाता कि मनुष्य का शरीर बढता भी है। उसे घटाने-बढाने की उसमे गुन्जाइश नही रखी जाती।

साथ ही यह भी सत्य है, कि संवैधानिक और साधारण कानूनो मे कोई भी भेद न करना भी उचित नही है। यदि संविधान मे भी साधारण कानून के समान ही सुगमता से परिवर्तन किये जा सकें, तो पालियामेण्ट मे जिस दल का बहुमत होगा, उसे मनमानी करने का अवसर मिल जायगा, उसकी शक्ति अमर्यादित हो जायगी। अत संविधान को न पूरी तरह से सुपरिवर्तनीय ही होना चाहिए, और न बहुत दुष्परिवर्तनीय ही। भारत का संविधान संयुक्तराज्य अमेरिका के संविधान के समान

दुष्परिवर्तनीय नहीं है, यद्यपि यहाँ संवैधानिक कानून और साधारण कानून मे परिवर्तन करने के लिए एक खास प्रक्रिया की व्यवस्था की गई है। पर वह इङ्गलैण्ड के संविधान के समान सुपरिवर्तनीय भी नही है। आजकल के राज्यो की प्रवृत्ति यही है, कि संविधान दुष्परिवर्तनीय हो, पर उनमें परिवर्तन करना बहुत कठिन न हो।

संविधान के आवश्यक अंग—

आजकल संविधानों मे निम्नलिखित विषयो का समावेश किया जाता है—

(१) नागरिकों के आधारभूत अधिकार—राज्य मे नागरिकता का अधिकार किन्हे प्राप्त हो, यह बताकर संविधान मे नागरिको के उन आधारभूत अधिकारो का उल्लेख किया जाता है, जिनका उल्लघन सरकार नही कर सकती। ये अधिकार प्राय निम्नलिखित होते हैं—सब नागरिको की समानता, धर्म की स्वतन्त्रता, सम्पत्ति पर व्यक्तियो का स्वामित्व, भाषण लेख व अन्य प्रकार से अपने विचारो को प्रकट करने की स्वतन्त्रता, न्यायालय द्वारा सजा दिये बिना किसी नागरिक का जेल मे बन्द न रख सकना और अल्पसख्यक समुदायो (Minorities) के हितो की रक्षा।

(२) राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्त—भारत के संविधान मे उन सिद्धान्तो का भी प्रतिपादन किया गया है जिन्हे सरकार को अपनी नीति का निर्धारण करते हुए सम्मुख रखना चाहिए। ये सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—(क) सब नागरिको को आजीविका कमाने के साधन व अवसर प्राप्त करने का अधिकार है। (ख) आर्थिक उत्पादन के साधनो पर व्यक्तियो के स्वामित्व को इस तरह से नियन्त्रित करना चाहिए, जिससे उनका उपयोग सब के हित के लिए हो सके। (ग) ग्राम पचायतो का सगठन किया जाए। (घ) प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है कि वह शिक्षा प्राप्त कर सके, और बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी व अपाहिज होने की दशा मे राज्य से सहायता पा सके। (ङ) प्रत्येक श्रमिक को इतनी मजदूरी अवश्य मिले जिससे कि वह न केवल अपना भरण-पोषण कर सके, अपितु अपने रहन-सहन को भी समुचित स्तर पर ला सके।

(३) शासन व्यवस्था—राज्य के शासन का क्या ढांचा हो, सरकार के विविध अगो या विभागो के क्या अधिकार व कर्तव्य हो, उनका निर्माण कैसे किया जाए, और यदि राज्य का शासन सघात्मक (Federal) हो, तो सघ सरकार और उसमे शामिल हुए राज्यो की सरकारों का क्षेत्र क्या हो—इन सब बातो को संविधान मे स्पष्ट किया जाता है।

(४) संविधान में परिवर्तन—संविधान मे परिवर्तन करने का ढग भी संविधान मे भली भाँति स्पष्ट कर दिया जाता है।

ये कर्मचारी मन्त्रिमण्डल के निरीक्षण व नियन्त्रण मे कार्य करते हैं। पार्लियामेंटरी सिस्टम वाले राज्यो मे यह मन्त्रिमण्डल पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी होता है। जिन राज्यो मे प्रेजिडेन्शल सिस्टम होता है, उनमे मन्त्री लोग राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होते हैं। प्राय सब राज्यो मे न्याय विभाग व्यवस्थापन और शासन विभागो से पृथक् होता है, ताकि वह कानूनो की व्याख्या करने और अपराधियो को दण्ड देने के कार्य को बिना किसी दबाव के स्वतन्त्रतापूर्वक कर सके।

राजशक्ति के पृथक्करण का सिद्धान्त—

व्यवस्थापन, शासन और न्याय—सरकार के ये तीनो कार्य अलग-अलग विभागो के हाथ मे रहे, इनमे से प्रत्येक विभाग अपने अपने दायरे मे रहे, और दूसरे विभाग के दायरे मे हस्तक्षेप न करे—इस सिद्धान्त को 'राजशक्ति के पृथक्करण का सिद्धान्त' (Theory of Separation of Power) कहते है। इसके अनुसार सरकार के किसी एक विभाग या अग के पास यह शक्ति नही होनी चाहिए, कि वह दूसरे किसी विभाग पर नियन्त्रण रख सके या उसके काम मे हस्तक्षेप कर सके।

मातस्क्यू (Montesquieu) द्वारा इस सिद्धान्त का प्रतिपादन—

राजशक्ति को अनेक विभागो मे बांटा जा सकता है, यह विचार प्राचीन समय मे भी विद्यमान था। अरिस्टोटल ने राजशक्ति को तीन भागो मे बांटा था—एसेम्बली, मजिस्ट्रेट और न्याय विभाग। ये विभाग व्यवस्थापन, शासन और न्याय विभागो को ही सूचित करते हैं। पर ये तीनो विभाग पूरी तरह से एक-दूसरे से अलग रहने चाहिएँ, इस सिद्धान्त का प्रबलता के साथ प्रतिपादन पहले पहल मातस्क्यू ने किया। मातस्क्यू फ्रास का निवासी था और अठारहवी सदी मे हुआ था। अपने देश मे राजा लुई चौदहवें के शासन को वह अपनी आंखो से देख चुका था। लुई चौदहवां बडा स्वेच्छाचारी और निरकुश राजा था, और अपनी 'इच्छा को ही कानून' मानता था। राज्य के शासन मे जनता की इच्छा का भी कोई स्थान होता है, और राजशक्ति मे कोई अन्य भी राजा का हाथ बटा सकता है, यह बात लुई चौदहवें की कल्पना से भी परे थी। ऐसे समय मे मातस्क्यू ने 'राजशक्ति के पृथक्करण' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उसका यह मत था, कि राज्य के व्यवस्थापन, शासन और न्याय विभागो को पूर्णतया पृथक्-पृथक् होना चाहिए। वह कहता था कि यदि ये तीनो शक्तियां या इनमे से कोई दो भी एक ही हाथो मे रहे, तो उसका परिणाम निरकुश व स्वेच्छाचारी शासन होगा। उदाहरण के लिए यदि कानून बनाना और उनको क्रियान्वित कराना एक ही व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को दे दिया जाए, तो शासक ऐसे कानून बनायेंगे, जिनसे उनके हाथो मे अनियन्त्रित शक्ति आ जायगी। यदि

शासन विभाग को न्याय का काम भी सुपुर्द कर दिया जाए, तो उसका यह परिणाम होगा कि मुद्दई (अभियोक्ता) ही जुर्म का फैसला करने वाला भी हो जायगा।

मान्टस्क्यू के राजशक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त ने अट्ठारहवी सदी की राजनीति पर बहुत असर डाला। मैडिसोन नामक अमेरिकन लेखक ने लिखा, कि यदि व्यवस्थापन, शासन और न्याय की शक्तियाँ एक ही हाथो मे केन्द्रित हो जाएँ, तो इससे बढ़कर निरंकुशता और कोई हो ही नही सकती। इस युग के प्राय. सभी विचारक यह मानने लगे थे, कि शक्ति का पृथक्करण एक स्वयसिद्ध सत्य सिद्धान्त है।

इसलिए जब अठारहवी सदी के अन्त मे सयुक्त राज्य अमेरिका का सविधान बना, तो उसमे इस सिद्धान्त का पूरी तरह से उपयोग किया गया।

राजशक्ति के तीन विभाग हैं या कम अधिक—

मान्टस्क्यू के अनुसार राजशक्ति के तीन विभाग होते है, पर कुछ विद्वानो का मत इसमे भिन्न है। कुछ विद्वान् राजशक्ति के केवल दो विभाग मानते है, और कुछ उसे पाँच विभागो मे विभक्त करना उचित समझते हैं।

जो लोग राजशक्ति के केवल दो विभाग करने के पक्ष मे है, उनका कहना है कि असल मे राजशक्ति के दो ही विभाग होते हैं, व्यवस्थापन (Legislature) और शासन (Executive)। व्यवस्थापन विभाग राज्य की इच्छा का निर्माण करने और उसे प्रकट करने का कार्य करता है, और शासन विभाग उस इच्छा को क्रिया मे परिणत कराता है। न्याय विभाग की कोई अलग सत्ता नही होती, क्योकि उसका कार्य यही है कि वह व्यक्तियों को कानूनो का पालन करने के लिए विवश करे। यह सही है, कि न्याय विभाग का सगठन पृथक् व स्वतन्त्र होना चाहिए। पर असल मे यह विभाग शासन विभाग का ही अग होता है।

इन विचारको के अनुसार शासन विभाग के तीन उप-विभाग होते है—

(१) कार्यकारिणी (Executive)—यह उप-विभाग शासन सम्बन्धी कार्यो का निरीक्षण व नियन्त्रण करता है, और सरकार की नीति का निर्धारण करता है।

(२) प्रशासन (Administrative)—यह उप विभाग कार्यकारिणी के निरीक्षण मे शासन का असली काम करता है।

(३) न्याय (Judicial)—यह उप-विभाग कानूनो की व्याख्या करके और कानूनो का उल्लघन करने वालो को दण्ड देकर शासन के काम मे सहायता पहुँचाता है।

अनेक विचारक ऐसे भी हैं, जो राजशक्ति को पाँच भागो मे बाँटते हैं। ये विभाग निम्नलिखित हैं—

(१) व्यवस्थापन विभाग (Legislature)—यह विभाग कानून बनाता है,

और सरकार की नीति की रूपरेखा तैयार करता है।

(२) निर्वाचक मण्डल (Electorate)—लोकतन्त्र शासन मे निर्वाचको का स्थान बड़े महत्त्व का है। चुनाव के समय निर्वाचक (*मतदाता या वोटर*) ही यह निर्णय करते हैं, कि कौन पार्लियामेण्ट का सदस्य हो। रिफरेन्डम, इनीशिएटिव और रिकॉल द्वारा भी निर्वाचक लोग ही राज्य की इच्छा को प्रकट करते हैं।

(३) कार्यकारिणी (Executive)—यह विभाग कानूनो व सरकारी नीति को क्रिया मे परिणत कराने के लिए उत्तरदायी होता है, और साथ ही जिन लोगों के हाथ में शासन का असली काम हो, उनका भी निरीक्षण व मार्ग-प्रदर्शन करता है।

(४) प्रशासन विभाग (Administrative)—जो लोग स्थायी रूप से सरकारी सेवा मे रहते हैं, और शासन का असली काम सँभालते हैं, वे इस विभाग में शामिल होते हैं।

(५) न्याय विभाग (Judiciary)—कानूनों की व्याख्या करना, इस बात का फैसला करना कि किसी व्यक्ति ने कानून का उल्लघन किया है या नही, और कानून तोड़ने वालों को दण्ड देना इस विभाग का काम है।

राजशक्ति के पृथक्करण सिद्धान्त की आलोचना—

मातस्क्यू द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त की आलोचना में निम्नलिखित बातें कही जा सकती हैं—

(१) इस सिद्धान्त को पूरी तरह से क्रियान्वित कर सकना सम्भव नही है। कोई भी शासनपद्धति ऐसी नही हो सकती, जिसमें राजशक्ति के विविध विभागो को पूरी तरह से अलग-अलग रखा जा सके। असल मे व्यवस्थापन, शासन और न्याय—ये तीनों विभाग एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। सरकार की उपमा शरीर से दी जा सकती है। शरीर मे भी अनेक अग होते हैं। सब अगो के काम भी अलग-अलग हैं। पर शरीर के इन अगो को एक-दूसरे से अलग रख सकना सम्भव नही है। *यदि शरीर का एक अग बिगड जाए, तो उसका असर दूसरे अगो पर भी पडता है।* यही बात सरकार के विषय मे भी है। सरकार के इन तीन या पांच अगो का एक-दूसरे के साथ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है, कि उन्हें पूरी तरह से अलग रखा ही नहीं जा सकता।

(२) यदि यह मान भी लें कि राजशक्ति को अनेक विभागों मे बांट सकना सम्भव है, तो भी ऐसा करना उचित नही होगा। व्यवस्थापन और शासन विभागो को लीजिये। यदि इन्हें पूरी तरह से अलग कर दिया जाए, तो अच्छे कानूनो का बना सकना सुगम नही होगा। शासन का कार्य जिन लोगों के सुपुर्द होता है, वेही यह भी भली भाँति समझ सकते है, कि राज्य को किन कानूनो की आवश्यकता है।

यदि शासक लोग अनुभव करते हो, कि देशद्रोहियो का दमन करने के लिए एक खास कानून बनाना जरूरी है, और पार्लियामेण्ट उस कानून को बनाने के लिए तैयार न हो, तो सरकार के काम मे भारी रुकावट पैदा आ सकती है। यही बात टैक्सों के बारे मे भी कही जा सकती है। राज्य के काम को भली भाँति चलाने के लिए कितना धन चाहिये, और उस धन को किन टैक्सो द्वारा प्राप्त करना चाहिए—इस बात को ठीक तरह से शासक लोग ही समझ सकते हैं। इस कारण शासन और व्यवस्थापन विभागो मे घनिष्ठ सम्बन्ध का होना बहुत आवश्यक है।

(३) राजशक्ति के पृथक्करण सिद्धान्त मे यह मान लिया जाता है कि राजशक्ति के तीनो रूप—व्यवस्थापन, शासन और न्याय—एक समान महत्त्व रखते हैं। पर लोकतन्त्र राज्यों के सम्बन्ध मे यह बात सच नहीं मानी जा सकती। आजकल के लोकतन्त्र शासनो मे जनता का महत्त्व बहुत बढ गया है। जनता अपने प्रतिनिधि चुनकर जहाँ कानून बनाने मे हाथ बटाती है, वहाँ साथ ही शासन के कार्य पर भी अपना नियन्त्रण रखती है। मन्त्रिमण्डल के अधीन (कैबिनेट सिस्टमवाले) शासनो मे कार्यकारिणी तभी तक अपने पद पर रह सकती है, जब तक कि जनता का (या उस द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियो के बहुमत का) उन पर विश्वास रहे। इसलिए शासक वर्ग पर जनता का प्रभाव कायम रखने के लिए यह जरूरी है, कि शासन विभाग को पार्लियामेण्ट या व्यवस्थापन विभाग से सर्वथा पृथक् न रखा जाये।

(४) इसमे सन्देह नहीं, कि न्याय-विभाग को शासक-वर्ग के प्रभाव से स्वतन्त्र रहना चाहिये। पर इस विभाग को पूर्ण रूप से स्वतन्त्र कर देने का केवल यही उपाय हो सकता है, कि न्यायाधीशों की नियुक्ति न मन्त्रिमण्डल द्वारा हो और न पार्लियामेण्ट द्वारा। इस दशा मे पार्लियामेण्ट के सदस्यो के समान न्यायाधीशो की नियुक्ति भी मतदाताओ के वोटो द्वारा की जाने लगेगी। यह बात कितनी हानिकारक होगी, यह लिखने की आवश्यकता नहीं। इसलिए न्याय विभाग मे कार्य करने वाले न्यायाधीशो की नियुक्ति प्राय शासन विभाग द्वारा ही की जाती है, और इन दोनो विभागों का एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है।

इन्हीं सब कारणो से शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त कहीं भी पूरी तरह से काम मे नही आ सका है। सयुक्तराज्य अमेरिका की शासनपद्धति के विषय में यह समझा जाता है, कि वहाँ व्यवस्थापन, शासन और न्याय विभागो को पूरी तरह से एक-दूसरे से पृथक् रखा गया है। पर यह बात सत्य नहीं है, क्योंकि—

(१) सयुक्तराज्य अमेरिका के व्यवस्थापन विभाग (कांग्रेस) को न्याय-सम्बन्धी अनेक अधिकार प्राप्त हैं। उच्चतम (सुप्रीम) कोर्ट के न्यायाधीश पर महाभियोग (Impeachment) चलाने का काम कांग्रेस ही करती है। साथ ही वहाँ न्यायालयो को भी यह अधिकार दिया गया है, कि वे कांग्रेस द्वारा पास किये गये

किसी कानून को संविधान के विरुद्ध (Unconstitutional) घोषित कर सके।

(२) संयुक्त राज्य अमेरिका मे राष्ट्रपति (जो शासन विभाग का प्रधान होता है) को व्यवस्थापन सम्बन्धी अनेक अधिकार प्राप्त हैं। वह कांग्रेस द्वारा पास किये हुए कानूनो पर अपनी सहमति देने मे इन्कार कर सकता है।

सरकार मे श्रम-विभाग—

ऊपर हमने जिन युक्तियो को पेश किया है, उनके कारण आजकल 'राजशक्ति के पृथक्करण' के सिद्धान्त को बहुत अधिक महत्त्व नही दिया जाता। आजकल सरकार के लिए *श्रम-विभाग (Division of Labour) को अवश्य स्वीकार किया* जाता है, पर पृथक्करण को नही। जिस प्रकार सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्यो मे श्रम-विभाग का विकास हो गया है, वैसे ही राज्य के कार्यों मे वृद्धि के कारण अब सरकार के क्षेत्र मे भी श्रम-विभाग विकसित हो गया है। अब यह मुमकिन नही रहा, कि कोई एक मनुष्य या कुछ थोडे-से मनुष्य सम्पूर्ण राजशक्ति का प्रयोग कर सकें। व्यवस्थापन, शासन और न्याय विभाग सरकार के काम मे श्रम-विभाग का सा ही स्थान रखते हैं। वे ऐसे अलग-अलग मनुष्यो को सुपुर्द किये जाने चाहियें, जो कि इन कामो मे विशेष योग्यता रखते हो। पर श्रम-विभाग के साथ-साथ उनमे *सहयोग का रहना भी बहुत उपयोगी है।*

नियन्त्रण और संतुलन का सिद्धान्त

राजशक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त का एक सशोधित रूप आजकल के विद्वान् स्वीकार करते हैं, जिसे 'चेक और बैलन्स का सिद्धान्त' कहते हैं। इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह है—

(१) सरकार के विविध अगो—व्यवस्थापन, शासन और न्याय—का क्षेत्र पृथक् रूप से निर्धारित रहना चाहिए।

(२) पर *साथ ही ऐसी व्यवस्था भी करनी* चाहिए, *जिसमे एक अग* दूसरे अग पर रोक-थाम रख सके, उसका नियन्त्रण कर सके। उदाहरण के लिए व्यवस्थापन विभाग को लीजिये। उसका काम कानून बनाना है। पर इसका यह अभिप्राय नही, कि शासन विभाग का कानून बनाने के साथ कोई सम्बन्ध रहे ही नही।

शासन-विभाग निम्नलिखित रीति से व्यवस्थापन कार्य के साथ सहयोग कर सकता है—

(१) जिन कानूनो को वह देश के लिए उपयोगी समझे, उन्हे पेश करके।

(२) यदि पार्लियामेण्ट ने कोई ऐसा कानून बनाया हो, जो शासन विभाग की दृष्टि मे सर्वथा अनुचित हो, तो विशेष दशा मे राष्ट्रपति द्वारा उसे वीटो करा के।

इसी प्रकार व्यवस्थापन विभाग भी शासन विभाग पर चेक रख सकता है—

(१) मन्त्रिमण्डल व शासक वर्ग की आलोचना करके और उनके कार्यों के सम्बन्ध मे प्रश्न पूछकर।

(२) मन्त्रिमण्डल के प्रति अविश्वास का प्रस्ताव पास करके।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ राज्य शक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं ? इसके क्या लाभ हैं ? (यू० पी०, १६४१, अजमेर, १६५२)

२ राजशक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त को विशद रूप से समझाइये। नागरिको की स्वतन्त्रता के लिए न्याय विभाग को पृथक् रखना क्यो उचित माना गया है ? (यू० पी०, १६४५)

३. वे आवश्यक अग कौन-से हैं, जिनके द्वारा आधुनिक सरकारें अपने कार्यों का सम्पादन करती हैं ? (यू० पी०, १६४२)

४. शक्तियो के पृथक्करण के सिद्धान्त का वर्णन कीजिये। क्या आपकी सम्मति मे स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए शक्तियों को पूर्णतया पृथक् कर देना व्यावहारिक, उचित व आवश्यक है ? (राजपूताना, १६५१)

५. मातस्क्यू ने राजशक्ति के पृथक्करण के सिद्धान्त का जिस ढग से प्रतिपादन किया है, उस पर प्रकाश डालिये।

६. राजशक्ति के तीन विभाग होते हैं या कम अधिक ? विवेचना कीजिये।

७. नियन्त्रण और सतुलन के सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं ?

८. 'व्यवस्थापन, शासन और न्याय इन तीनो को एक ही व्यक्ति के हाथो में सौंप देने का अर्थ होगा निरकुश शासन', क्या आप इस विचार से सहमत हैं ?

इक्कीसवाँ अध्याय

सरकार का व्यवस्थापन विभाग

(Legislature)

सरकार के तीन अग या विभाग होने हैं, यह पिछले अध्याय मे लिखा जा चुका है। इन तीनों अगो मे 'व्यवस्थापन विभाग' विशेष महत्त्व का है।

व्यवस्थापन विभाग के कार्य (Function of the Legislature)—

लोकतन्त्र राज्यो मे व्यवस्थापन विभाग के कार्य निम्नलिखित होते हैं—

(१) कानून बनाना—व्यवस्थापन विभाग कानूनो के मसविदो पर विचार करके उन्हे स्वीकार करता है। समय के साथ साथ देश को नये कानूनो की जरूरत पडती रहती है। पुराने कानूनो मे भी सशोधन की आवश्यकता होती है। इस महत्त्वपूर्ण कार्य को सरकार का व्यवस्थापन विभाग ही करता है।

(२) शासन का नियन्त्रण—मन्त्रिमण्डल के अधीन (कैबिनेट सिस्टम वाले) शासन मे मन्त्रिमण्डल तभी तक अपने पद पर रह सकता है, जब तक कि पालियामेण्ट का विश्वास उसे प्राप्त रहे। इस कारण शासन विभाग व्यवस्थापन विभाग के नियन्त्रण मे रहता है। मन्त्री लोग पालियामेण्ट मे उपस्थित होते हैं, वहाँ उनसे प्रश्न किये जाते हैं, उनकी शासन नीति पर बहस होती है। बजट पर बहस के समय जब मन्त्री लोग अपने विभाग के लिए रुपये की माँग पेश करते हैं, तो जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियो को शासक वर्ग के कार्यों की आलोचना का मौका मिलता है। किसी महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करने के लिए पालियामेण्ट की कारवाई को स्थगित करने का प्रस्ताव भी उपस्थित किया जा सकता है। साथ ही, पालियामेण्ट मे मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव (Motion of No-Confidence) भी पेश हो सकता है। इन सब उपायो से व्यवस्थापन विभाग शासन-कार्य का नियन्त्रण करता है।

(३) राजकीय आय-व्यय पर नियन्त्रण—सरकार अपने खर्च के लिए रुपया किस ढग से प्राप्त करे कौन-से नये टैक्स लगाये और रुपये को किस ढग से खर्च करे—ये सब बाते पालियामेण्ट के सम्मुख पेश की जाती हैं। वहां आय-व्यय के लेखे (बजट) पर विचार होता है, और जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियो को सर-

कारी आय-व्यय पर नियन्त्रण रखने का अवसर मिलता है।

(४) न्याय सम्बन्धी कार्य—अनेक राज्यो मे व्यवस्थापन विभाग को न्याय-सम्बन्धी अनेक कार्य भी करने होते हैं। भारत के सविधान के अनुसार यदि राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाया जाए, तो उसका निर्णय ससद् (पार्लियामेण्ट) द्वारा ही किया जायगा।

(५) चुनाव सम्बन्धी कार्य—भारत, फ्रास आदि अनेक राज्यो में राष्ट्रपति का चुनाव व्यवस्थापन विभाग (पार्लियामेण्ट) के सदस्यो द्वारा ही किया जाता है, यद्यपि इसके लिए एक विशेष विधि का अनुसरण किया जाता है। कुछ राज्यो म सेनापति, न्यायाधीश आदि बडे राजकीय पदों के लिए भी पार्लियामण्ट द्वारा चुनाव करने की व्यवस्था की गई है।

(६) लोकमत को प्रकट करना—व्यवस्थापन विभाग का एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह है, कि वह लोकमत को प्रकट करे। जनता को शासन के विषय में जो भी शिकायतें हो, शासको के कार्यों को जनता जिस दृष्टि से देखती हो, शासक वग के सामने इन सब बातों को लाना व्यवस्थापन विभाग का ही कार्य है।

व्यवस्थापन विभाग का संगठन (Constitution of the Legislature)

व्यवस्थापन विभाग का सगठन दो प्रकार से होता है, या तो उसमे एक सदन (House या Chamber) हो और या दो। कुछ विद्वान् दो सदनों वाले व्यवस्थापन विभाग (Bicameral Legislature) के पक्ष मे हैं, और अन्य एकसदनात्मक व्यवस्थापन विभाग (Unicameral Legislature) के। जिन राज्यो के व्यवस्थापन विभाग मे दो सदन होते हैं, उनमे से एक सदन का नाम 'निचला सदन' (Lower House) होता है, और दूसरे का 'द्वितीय सदन' या 'उच्च सदन' (Second Chamber या Upper House)।

दूसरे सदन की रचना का ढग प्राय निचले सदन की रचना से भिन्न होता है। निचले सदन के सदस्यो का चुनाव सर्वसाधारण मतदाताओ द्वारा किया जाता है, और दूसरे सदन मे जनता के कतिपय विशेष वर्गों को प्रतिनिधित्व देने की व्यवस्था की जाती है। यह समझा जाता है कि विद्या, धन, विशेष योग्यता, कुलीनता आदि के कारण जो लोग अपने मे कुछ विशेषताएँ रखते हैं, उनकी योग्यता व अनुभव से लाभ उठाने के लिए उन्हें दूसरे सदन का सदस्य बन सकने का विशेष रूप स अवसर दिया जाना चाहिए।

विभिन्न राज्यो मे द्वितीय सदन की रचना निम्नलिखित आधारो पर की जाने की व्यवस्था की गई है—

(१) कुलीन वर्ग के लोगो द्वारा—इङ्गलैण्ड के द्वितीय सदन को 'हाउस ग्राफ लार्ड् स' कहते हैं। वहाँ के वंशक्रमानुगत कुलीन लार्ड लोग इस सदन के अपने अधिकार से सदस्य होते हैं।

(२) नाम निर्देशन (Nomination) द्वारा—भारत मे राष्ट्रपति और राज्यपालो को यह अधिकार दिया गया है कि वे विद्या, कला, विज्ञान, समाजसेवा आदि मे विशिष्टता प्राप्त करने के कारण कुछ व्यक्तियो को द्वितीय सदन के लिए मनोनीत कर सकें।

(३) परोक्ष चुनाव द्वारा—कुछ राज्य ऐसे भी हैं, जिनमे द्वितीय सदन के सदस्यो का चुनाव परोक्ष निर्वाचन द्वारा होता है। भारत मे विविध राज्यो (प्रान्तो) की विधान सभाएँ केन्द्रीय पार्लियामेन्ट के द्वितीय सदन के लिए सदस्यो का चुनाव करती हैं। इस प्रकार निर्वाचित सदस्य जनता द्वारा सीधे नही चुने जाते, अपितु उनके चुने हुए प्रतिनिधियो द्वारा चुने जाते हैं।

(४) चुनाव द्वारा—अनेक राज्यो मे द्वितीय सदन के सदस्यो का भी मतदाताओ द्वारा चुनाव होना है।

द्विसदनात्मक पद्धति के पक्ष मे युक्तियाँ—

व्यवस्थापन विभाग मे दो सदन होने के पक्ष मे ये युक्तियाँ दी जाती हैं —

(१) दो सदनो के कारण कोई कानून जल्दबाजी मे पास नही होने पाता। प्रत्येक विषय दूसरे सदन मे भी पेश होता है। यदि किसी बात को निचले सदन ने जल्दी मे या आवेश मे आकर पास कर दिया हो, तो दूसरे सदन के कारण उस पर फिर से विचार करने, उसे दोहराने व उसमे सशोधन करने का मौका मिल जाता है।

(२) जब एक सदन मे कोई मामला पेश होना है, तो उसके सदस्य यह जानते हैं कि उनका निर्णय बाद मे दूसरे सदन मे भी पेश होगा। इस कारण वे अधिक गम्भीरता से विचार करते है।

(३) राज्यो म किसान मजदूर आदि साधारण स्थिति वाले लोगो की सख्या बहुत अधिक होती है। क्योकि सबको एक ही वोट देने का अधिकार होता है, अत ऐसे लोगो के लिए प्रतिनिधि चुना जा सकना आसान नही होता, जो विद्या, विज्ञान, कला, व्यवसाय आदि मे विशेष योग्यता रखते हों। दूसरे सदन द्वारा इनको भी व्यवस्थापन विभाग का सदस्य बनने का अवसर मिल जाता है, और सरकार इनकी योग्यता व अनुभव से लाभ उठा सकती है।

(४) सघात्मक (Federal) राज्यो के लिए तो दूसरे सदन का लाभ और भी अधिक है। सघों मे प्राय यह व्यवस्था की जाती है, कि दूसरे सदन मे सब राज्यो को एक बराबर प्रतिनिधित्व दिया जाए, और उनकी जनसख्या व आकार को दृष्टि मे न रखकर दूसरे सदन के लिए सबकी हैसियत एक बराबर मानी जाए।

द्विसदनात्मक पद्धति के विरुद्ध युक्तियाँ—

(१) यह पद्धति लोकतन्त्र के विरुद्ध है। धन, कुलीनता आदि के कारण कुछ लोगों को विशेष प्रतिनिधित्व देना लोकतन्त्रवाद के अनुकूल नहीं समझा जा सकता।

(२) व्यवस्थापन विभाग का कार्य यह है, कि लोकमत के अनुसार कानून बनाए या राज्य की नीति तय करे। लोकमत एक ही हो सकता है, दो नहीं। इसलिये उसका प्रतिनिधित्व करानेवाला सदन भी एक ही होना चाहिए।

(३) जल्दबाजी को रोकने के लिए भी द्वितीय सदन की आवश्यकता नहीं है। कारण यह कि एक सदन होने पर भी कोई कानून एक दिन में या थोड़े समय में पास नहीं किया जाता। प्रायः सब जगह यह व्यवस्था है, कि प्रस्तावित कानून को तीन बार पेश किया जाए।

अनेक बार प्रस्तावित कानून को जनता की सम्मति के लिये भी भेज दिया जाता है, व अधिक गम्भीरता से विचार करने के लिए उसे प्रवर समिति (Select Committee) के सुपुर्द कर दिया जाता है।

(४) द्वितीय सदन यदि निचले सदन के निर्णय का समर्थन ही करता रहे, तो उसका होना बेकार है। यदि वह उसका विरोध करे, तो व्यवस्थापन विभाग में व्यर्थ के मतभेद व जटिल समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

(५) दो सदन रखने से राज्य के खर्च में बेकार वृद्धि होती है।

द्विसदनात्मक पद्धति का उपयोग—

इसमें सन्देह नहीं, कि द्विसदनात्मक पद्धति के विरुद्ध जो युक्तियाँ दी जाती हैं, उनमें बहुत कुछ सचाई है। इसी कारण आजकल के बहुत-से राज्यों में एकसदनात्मक पद्धति को अपनाया गया है। पर साथ ही इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता, कि द्विसदनात्मक पद्धति के भी अनेक उपयोग हैं—

(१) सवर्ग राज्यों में यह पद्धति बहुत उपयोगी होती है। उनके निचले सदन में सारे सवर्ग की जनता का प्रतिनिधित्व रहता है। पर द्वितीय सदन में सवर्ग के अन्तर्गत सब राज्यों को एक बराबर प्रतिनिधित्व मिलने के कारण उनमें समता की अनुभूति कायम रहती है।

(२) बड़े राज्यों के लिए भी यह पद्धति उपयोगी है, क्योंकि दूसरे सदन के कारण कानून बनाने व राज्य सम्बन्धी नीति के निर्धारण में अधिक सावधानी से काम लिया जा सकता है। पर इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिए, कि आजकल जिन राज्यों में दो सदन हैं, उनमें भी यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि दूसरे सदन के मुकाबिले में निचले सदन के अधिकार व महत्त्व अधिक रहें।

व्यवस्थापन विभाग की अवधि (Term of the Legislature)—

व्यवस्थापन विभाग के सदनो का चुनाव एक निश्चित अवधि के लिये होता है। यह अवधि कितनी रखी जाए, इस विषय मे कोई एक नियम नही है। इस अवधि को अधिक लम्बा रखना उचित नही होता, क्योकि यदि प्रतिनिधियो का चुनाव लम्बे समय के लिए कर दिया जाए, तो वे जनता की सम्मति की विशेष परवाह नहीं करेंगे। इस अवधि को बहुत छोटा भी नही रखा जा सकता, क्योकि ऐसा करने से बार-बार चुनाव करना पडेगा, और उसमे खर्च बहुत होगा। साथ ही, चुने हुए प्रतिनिधियो को यह मौका भी नही मिलेगा कि वे अपने विचारो व नीतियो को क्रियान्वित कर सकें। इसलिये यह उचित माना जाता है, कि व्यवस्थापन विभाग के सदनो का चुनाव तीन, चार या पांच सालो के लिए किया जाए।

निर्वाचक लोग (Electorate)—

व्यवस्थापन विभाग के साथ ही निर्वाचक वर्ग (Electorate) और मताधिकार (Franchise) के प्रश्न जुडे हुए हैं, क्योकि विधान सभाओ का चुनाव निर्वाचक वर्ग ही करता है। प्रतिनिधि चुनने या मत (वोट) देने का अधिकार किन लोगो को हो, और वोट लेने के लिये किस पद्धति का अनुसरण किया जाए, हम अब इन प्रश्नो पर विचार करेंगे।

निर्वाचक कौन हो, इस बारे मे आजकल के लोकतन्त्र शासनो मे यह प्रवृत्ति है कि सब बालिग स्त्रियो और पुरुषो को वोट देने का अधिकार प्राप्त हो। केवल उन लोगो को इस अधिकार से वञ्चित रखा जाए, जो पागल हो या सजायाफ्ता (राजदण्डित) हो, या इसी प्रकार के किसी अन्य कारण से जिन्हे वोट देने के योग्य न समझा जाए।

यद्यपि आजकल प्राय सभी उन्नत व प्रगतिशील लोकतन्त्र राज्यो मे वयस्क मताधिकार (Adult Franchise) की पद्धति को अपना लिया गया है, पर जिन आधारो पर अनेक राज्यो मे वोट के अधिकार को मर्यादित किया जाता रहा है, वे निम्नलिखित हैं—

(१) **आर्थिक**—यह शर्त रखना कि केवल वे लोग ही वोट दे सकें, जो सरकार को टैक्स देते हो या जमीन, मकान आदि सम्पत्ति रखते हो।

(२) **धार्मिक**—यूरोप के अनेक राज्यो मे कुछ लोगो को इस आधार पर भी वोट के अधिकार से वञ्चित रखा जाता रहा है, क्योकि वे राजधर्म के अनुयायी नही थे।

(३) **शिक्षा**—अनेक राज्यो मे वोट के अधिकार के लिये शिक्षा की शर्त भी रही है।

(४) लिंग विषयक—स्त्रियों को उनके लिंग के कारण बहुत-से राज्यों में वोट का अधिकार नहीं दिया जाता था। अब तक भी कुछ राज्य ऐसे हैं, जहाँ स्त्रियों को वोट का अधिकार नहीं है। फ्रांस तक में स्त्रियों को वोट का अधिकार अब से कुछ साल पूर्व ही दिया गया था।

(५) नसल—दक्षिणी अफ्रीका व अन्य अनेक राज्यों में अब तक भी हब्शी लोगों को उनकी नसल के कारण वोट का अधिकार नहीं मिला है।

वयस्क मताधिकार के लाभ—आजकल प्रायः सभी लोकतन्त्र राज्यों में प्रत्येक बालिग स्त्री-पुरुष को वोट का अधिकार दे दिया गया है। इसके पक्ष में निम्नलिखित युक्तियाँ दी जाती हैं—

(१) किसी मनुष्य को सम्पत्ति के अभाव के कारण वोट के अधिकार से वञ्चित रखना उचित नहीं है, क्योंकि सम्पत्ति को किसी मनुष्य की योग्यता की कसौटी नहीं माना जा सकता। आज जो लोग धनी हैं, उसका कारण उनकी योग्यता नहीं है। बहुत-से लोग बेईमानी व झूठ से धनी बन जाते हैं, और कुछ लोग केवल इसलिए धनी हैं, क्योंकि उनके बाप-दादों ने उचित व अनुचित उपायों से धन कमा लिया था।

(२) शिक्षा के अभाव के कारण भी किसी मनुष्य को वोट के अधिकार से वञ्चित रखना उचित नहीं है। केवल अक्षरज्ञान को ही शिक्षा नहीं माना जा सकता। बहुत-से लोग निरक्षर होते हुए भी अच्छे शिल्पी होते हैं। वे अपने शिल्प में बहुत कुशल होते हैं, और उनकी समझ बूझ भी पढ़े-लिखे लोगों से कम नहीं होती। वोट के अधिकार के लिए पढ़ा लिखा होने के बजाय राजनीतिक प्रश्नों को समझ सकने की योग्यता का होना अधिक उपयोगी है। अशिक्षित लोग भी सुगमता से इन बातों को समझ सकते हैं। वोट देने के लिए मनुष्यों में साधारण समझ-बूझ का होना काफी है, पढ़ाई लिखाई की उसके लिए आवश्यकता नहीं। पागलों के अतिरिक्त अन्य सब लोगों को यह समझ-बूझ होती है कि वे विविध उम्मीदवारों के गुण-दोषों पर विचार कर सकें और यह जान सकें, कि कौन-सा उम्मीदवार उनका प्रतिनिधित्व कर सकेगा।

(३) राज्य में सब मनुष्य एक समान स्थिति रखते हैं। वयस्क मताधिकार मनुष्यों की इस समानता को स्वीकार करता है।

(४) कोई राज्य तभी उन्नति कर सकता है, जब कि सब नागरिकों का सहयोग उसे प्राप्त हो। जब सब मनुष्यों को वोट का अधिकार मिल जाता है, तो वे यह अनुभव करने लगते हैं, कि सरकार में हमारा भी हाथ है। राजशक्ति का प्रयोग किन लोगों के हाथों में रहे, इसका निर्णय करने में हमें भी हाथ बँटाना है। इससे उन्हें अपने अधिकारों का ज्ञान होता है, और साथ ही उनमें आत्मगौरव की अनुभूति

भी उत्पन्न होती है। वे राज्य को अपना समझने लगते हैं, और इस कारण राज्य के प्रति अपने कर्तव्यो के पालन मे भी तत्पर होते हैं।

(५) सर्वसाधारण जनता मे राजनीतिक जागृति उत्पन्न करने मे निर्वाचन द्वारा बहुत सहायता मिलती है। चुनाव के समय विविध राजनीतिक दल अपने अपने विचारो का प्रचार करते हैं, और सब मतदाताओ को अपनी बात समझाने का यत्न करते हैं। वे सब मतदाताओ के पास अपना सन्देश पहुँचाते हैं, और सबको राजनीतिक शिक्षा देने का यत्न करते हैं। यदि वोट का अधिकार सब वयस्क लोगो को न दिया जाए, सम्पत्ति शिक्षा आदि के आधार पर बहुत-से लोगो को इस अधिकार से वञ्चित रखा जाए, तो सर्वसाधारण जनता मे राजनीतिक जागृति उत्पन्न कर सकना सम्भव नही रहेगा, और यह बात राज्य की रक्षा व उन्नति के लिए भी हानिकारक होगी।

(६) लोकतन्त्र शासन के पक्ष मे जो युक्तियाँ हम पिछले एक अध्याय मे दे चुके हैं, उन सबका प्रयोग वयस्क मताधिकार के पक्ष मे भी किया जा सकता है। लोकतन्त्र शासन की स्थापना के लिए यह बहुत जरूरी है, कि वोट का अधिकार सब स्त्री-पुरुषो को दिया जाए। इसके बिना शासन कभी लोकतन्त्र नहीं हो सकता।

वयस्क मताधिकार की हानियाँ—वयस्क मताधिकार से जहाँ इतने लाभ हैं, वहाँ उसकी कुछ हानियाँ भी हैं, जो उसके विरुद्ध युक्ति के रूप में पेश की जाती हैं—

(१) बहुत-से देशो मे बहुसंख्यक जनता अशिक्षित व मूर्ख होती है। चुनाव के समय ये अशिक्षित मतदाता जात बिरादरी, धर्म आदि को अधिक महत्त्व देते हैं। उम्मीदवार लोग भी वोट लेने के लिए जात बिरादरी आदि की भावनाओ को उत्तेजित करते हैं। अशिक्षित मतदाताओ के लिए यह सुगम नही होता, कि वे विविध राजनीतिक दलो के विचारो व नीति के सम्बन्ध में ठीक-ठीक विचार कर सकें। जो दल अपने कार्यक्रम को अधिक आकर्षक रूप मे पेश करे, जो सभाओ, जुलूसों आदि द्वारा एक तूफान-सा खडा कर दे, अशिक्षित मतदाता उसके असर मे आ जाते हैं, और उसी के पक्ष मे अपने वोट दे देते हैं। यदि वोट का अधिकार कुछ थोडे से पढे-लिखे व योग्य व्यक्तियो को ही दिया जाए, तो यह बात नही होने पाएगी।

(२) गरीब मतदाता धनियो के प्रभाव मे आ जाते हैं। जिन देशो मे धनी और गरीब का भेद विद्यमान है, जहाँ जमीदारो और पूँजीपतियो की सत्ता है, वहाँ साधारण किसान व मजदूर लोग स्वतन्त्रतापूर्वक अपना वोट नहीं दे पाते। किसान जमीदारो के असर मे होते हैं, और मजदूर मिल मालिको के। चुनाव के समय जमीदार व मिल मालिक अपने किसानो व मजदूरो पर अनुचित दबाव डालते हैं। बहुत से धनी लोग तो रुपये द्वारा वोटो को खरीदने मे भी सकोच नही करते। इसका परिणाम यह होता है, कि ऐसे प्रतिनिधि पार्लियामेण्ट मे चुन लिये जाते हैं, जो जमीदारो, मिल-

मालिकों व धनियों को अभीष्ट हो।

(३) वोट का अधिकार केवल अधिकार ही नहीं है, वह एक कर्तव्य भी है। हम कोई कार्य उसी आदमी के सुपुर्द करते है, जो उसे कर सकने की योग्यता रखता हो। वोट देने का कर्तव्य भी उसी को दिया जाना चाहिए, जो उसे सुचारु रूप से कर सके।

वयस्क मताधिकार की लोकप्रियता—इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता, कि जिन देशों की बहुसख्यक जनता अशिक्षित हो, व जिनमे गरीब-अमीर का भेद बहुत अधिक हो, उनमे सब वयस्क लोगो को वोट का अधिकार दे देने से अनेक हानियाँ भी हो सकती हैं। पर इसके बावजूद आजकल के लोकतन्त्र राज्यों मे यही प्रवृत्ति है, कि किसी वयस्क स्त्री-पुरुष को वोट के अधिकार से वञ्चित न रखा जाए। मनुष्य और पशु मे मुख्य भेद यही है, कि मनुष्यों के पास बुद्धि नामक एक ऐसी वस्तु होती है, जो पशुओं के पास नहीं होती। जो लोग पढ़े-लिखे व धनी नहीं हैं, उनके पास भी बुद्धि होती है, और वे भी अपने भले-बुरे को समझने की शक्ति रखते हैं। कौन-सा उम्मीदवार उनका प्रतिनिधित्व अधिक अच्छी तरह से कर सकता है, और किस राजनीतिक दल के विचार व कार्यक्रम उनके लिए लाभदायक हैं, यह समझ सकना किसी भी मनुष्य के लिए कठिन नहीं होता। वोट का अधिकार मिल जाने से प्रत्येक मनुष्य यह अवश्य समझने लगता है, कि राज्य मे मेरा भी कुछ स्थान है, और सरकार को मेरे योगक्षेम व उन्नति के लिए भी कुछ करना चाहिए। इस अधिकार के कारण सर्वसाधारण लोगों को राज्य के प्रति अपने कर्तव्यों का भी ज्ञान होता है, और राज्य को इससे बहुत लाभ पहुँचाता है। इन्ही कारणों से आजकल वयस्क मताधिकार बहुत लोकप्रिय होता जाता है, और प्राय सभी लोकतन्त्र राज्यों ने उसे अपना लिया है।

स्त्रियों को मताधिकार—

बहुत से विचारक निम्नलिखित कारणों से स्त्रियों को वोट का अधिकार देने का विरोध करते हैं—

(१) प्रकृति ने स्त्री को माता बनने के लिए बनाया है। उसका कार्यक्षेत्र घर है, राज्य नहीं। यदि वह भी राजनीति के झगड़ों मे फँस जायगी, तो घर के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन नहीं कर सकेगी। बच्चों का पालन करना, उन्हे अच्छा नागरिक बनाना और अपने पति की सेवा करना स्त्री के मुख्य कार्य है। स्त्री को अपनी सब शक्ति इन्ही कर्तव्यों के पालन मे लगानी चाहिए। चुनाव के झगड़ों में उसे नहीं पडना चाहिए।

(२) यदि स्त्रियों को वोट का अधिकार दे दिया जाए, तो वे इस अधिकार

का प्रयोग दो प्रकार से ही कर सकती है। या तो वह उसी उम्मीदवार को वोट दें, जिसे उसके पति ने भी अपना वोट दिया हो। इस दशा मे स्त्री को पृथक् वोट का अधिकार देना बेकार है। यदि स्त्री किसी ऐसे उम्मीदवार को वोट दे, जिसे उसके पति ने अपना वोट न दिया हो, तो घर मे कलह उत्पन्न होगी। चुनाव के अवसर पर बहुत कुछ राजनीतिक विद्वेष उत्पन्न हो जाता है, उसका प्रवेश घर मे भी हो जायगा और परिवार की शान्ति व एकता मे इससे बहुत बाधा पडेगी।

(३) राज्य-सम्बन्धी अनेक प्रकार के कार्य करने के लिए स्त्रियाँ उपयुक्त नहीं होती। वे न सेना मे भरती होती हैं, और न पुलिस मे। जब ये महत्त्वपूर्ण कार्य पुरुष ही करते हैं, तो स्त्रियो को पुरुषो के बराबर अधिकार क्यो दिए जाएँ।

(४) प्राय यह देखा जाता है, कि स्त्रियाँ शिक्षा मे पुरुषो से पीछे होती हैं, जीवन सघर्ष मे वे पुरुषो के बराबर अनुभव नही रखती। सम्प्रदाय, जात-बिरादरी आदि का असर भी उन पर अधिक होता है। इस दशा मे यदि स्त्रियो को भी वोट का अधिकार दे दिया जाए, तो ऐसे उम्मीदवारो को अधिक वोट मिलने लगेंगे, जो नये विचारो के विरोधी हो और प्रगतिशील न हो।

(५) स्त्रियो मे कोमलता, लज्जा आदि के जो गुण हैं, राजनीतिक झगडो मे पडने से उनका अन्त हो जायगा।

इन सब युक्तिया के बावजूद आज प्राय सभी लोकतन्त्र राज्यो मे स्त्रियो को भी वोट का अधिकार दे दिया गया है। स्त्री-मताधिकार के पक्ष मे निम्नलिखित युक्तियाँ दी जाती है—

(१) जैसे समाज मे पुरुषो के अपने हित है, वैसे ही स्त्रियो के भी हैं। राज्य द्वारा स्त्रियो के लिए भी कानून बनाये जाते हैं। सरकार के आदेश व कानून स्त्रियो पर भी लागू होते है, अत उन्हें जारी करना जिन लोगो के हाथो मे हो, उनके चुनाव मे स्त्रियो का भी भाग होना चाहिए।

(२) स्त्रियो को भी यह अधिकार है, कि वे पुरुषो के समान जमीन-जायदाद व अन्य सम्पत्ति रख सकें, अपना स्वतन्त्र रोजगार कर सकें, कही मजदूरी या नौकरी कर सकें, और अन्य लोगो के साथ इकरार व व्यवहार कर सकें। जब स्त्रियो को इन सब कामो के योग्य समझा जाता है, तो केवल वोट देने की योग्यता का ही अभाव उनमे क्या माना जाए।

(३) स्त्रियाँ स्वभाव से ही कोमल होती हैं। मातृभावना भी उनमे स्वाभाविक रूप से होती है। वे इस प्रश्न पर अधिक सहानुभूति के साथ विचार कर सकती है, कि कौन से कानून जनता के लिए हितकर हैं। उनके प्रभाव व सहयोग से राजनीतिक जीवन मे भी माधुर्य आ सकेगा, और राजनीति का सचालन युद्ध व सत्यानाश के लिए न होकर मनुष्यो के लाभ व शान्ति के लिए होने लगेगा।

(४) यदि यह मान भी लिया जाए कि स्त्रियाँ अपने पतियों की सम्मति के अनुसार ही वोट देंगी, तो भी इससे कोई हानि नहीं होगी। जिस प्रकार पुरुषों को वोट का अधिकार मिलने के कारण उनमें राजनीतिक चेतना उत्पन्न होती है, और वे उत्तम नागरिक बन सकते हैं, वैसे ही वोट के अधिकार से स्त्रियों को भी लाभ होगा।

(५) आजकल के युग में स्त्रियों के कार्य का क्षेत्र केवल घर ही नहीं रह गया है। अब स्त्रियाँ भी नौकरी व मजदूरी करने लगी हैं, और स्वतन्त्र रोजगार द्वारा भी रुपया कमाने लगी हैं। वे पुलिस में भी भरती होती हैं, और अनेक उच्च सरकारी पदों पर भी नियुक्त होती हैं। इस दशा में उन्हें वोट के अधिकार से वंचित रखना कदापि उचित नहीं है।

निर्वाचन का ढंग—

मतदाता लोग निर्वाचन (चुनाव) किस ढंग से करते हैं, इस विषय में कुछ बातें जानने योग्य हैं—

(१) प्रतिनिधियों के चुनाव के लिए राज्य को बहुत-से निर्वाचन क्षेत्रों (Constituencies) में बाँट दिया जाता है। यदि इस क्षेत्र से केवल एक ही सदस्य चुना जाना हो, तो इसे 'एक सदस्य निर्वाचन क्षेत्र' (Single-member Constituency) कहते हैं। यदि किसी क्षेत्र से एक से अधिक सदस्य चुने जाते हों, तो उसे 'बहु-सदस्य निर्वाचन क्षेत्र (Multi member Constituency) कहा जाता है।

(२) प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र में मतदाताओं की सुविधा के अनुसार अनेक 'चुनाव स्थान' (Polling Station) बनाये जाते हैं। जो अफसर चुनाव की देख-रेख करता है, उसे 'चुनाव अधिकारी' (Polling Officer) कहते हैं।

(३) प्रत्येक मतदाता को एक-एक पर्ची (Ballot paper) दे दी जाती है। चुनाव-स्थान पर सब उम्मीदवारों के अलग-अलग बक्से रखे रहते हैं। इन बक्सों पर उम्मीदवार का नाम व चुनाव निशान चिपका दिया जाता है। पढ़े-लिखे मतदाता उम्मीदवारों के नाम पढ़ सकते हैं, और निरक्षर मतदाता चुनाव निशानों को देखकर यह जान सकते हैं कि कौन सा बक्सा किस उम्मीदवार का है। मतदाता जिस उम्मीदवार को अपना वोट देना चाहे, उसके बक्से में अपनी पर्ची डाल देता है। या एक ही पर्ची पर सब उम्मीदवारों के नाम छाप दिए जाते हैं, और उनके नाम के साथ उनके चुनाव चिह्न भी छाप दिये जाते हैं। जिस मतदाता को जिस उम्मीदवार के पक्ष में वोट देना हो, वह उसके नाम के सामने निशान लगा देता है, और अपनी पर्ची को बक्से में डाल देता है।

(४) चुनाव के समय इस बात का ध्यान रखा जाता है, कि मतदाता अपनी पर्ची इस ढंग से डाल सके, जिससे कोई अन्य आदमी उसे देख न पाए। इसे 'गुप्त मत

प्रदान प्रथा' (Secret Ballot Voting) कहते हैं। इस प्रथा के कारण मतदाता लोग किसी दबाव व डर के बिना स्वतन्त्रता से अपना वोट दे सकते हैं।

(४) प्रत्येक उम्मीदवार का एक चुनाव एजेन्ट (Election agent) होता है, जो सारे निर्वाचन क्षेत्र के लिए एक होता है। उसकी सहायता के लिए प्रत्येक चुनाव स्थान पर प्रत्येक उम्मीदवार की तरफ से एक या अधिक 'पोलिंग एजेन्ट' होते हैं, जो इस बात का ख्याल रखते हैं, कि कोई आदमी गलत नाम से अपना वोट न डाल दे। ये एजेन्ट मतदाताओं की शनाख्त करने मे मदद करते हैं, और साथ ही यदि कोई आदमी गलत नाम से वोट दे रहा हो, तो उसकी ओर चुनाव अधिकारी का ध्यान आकृष्ट करते हैं।

निर्वाचन की विविध पद्धतियाँ (Various Methods of Election)–

आजकल के लोकतन्त्र राज्यो मे चुनाव का महत्व बहुत अधिक है। इसीलिये निर्वाचन की उन विविध पद्धतियो पर भी सक्षेप से विचार करना उपयोगी है, जो आजकल के राज्यो मे प्रयोग मे लाई जाती हैं।

एक सदस्य निर्वाचन क्षेत्र पद्धति (Single-member Constituency System)—इस पद्धति मे राज्य को ऐसे निर्वाचन-क्षेत्रो मे बाँट दिया जाता है, जिन सब मे एक-एक प्रतिनिधि चुना जाना हो। प्रत्येक मतदाता को एक वोट देने का अधिकार होता है। चुनाव के लिए जो उम्मीदवार खडे हो, उनमे जिसको सबसे अधिक वोट मिलें, वही निर्वाचित समझा जाता है।

बहु सदस्य निर्वाचन क्षेत्र पद्धति (Multi member Constituency System)—इस पद्धति मे राज्य को अनेक ऐसे बहुत से बडे-बडे निर्वाचन क्षेत्रो मे विभक्त किया जाता है, जिनसे दो, तीन या अधिक प्रतिनिधि चुने जाने हो। उस क्षेत्र से जितने प्रतिनिधि चुने जाने हो, प्रत्येक वोटर को उतने ही वोट देने का अधिकार रहता है। यदि निर्वाचन-क्षेत्र से तीन प्रतिनिधि चुने जाने हो तो प्रत्येक मतदाता तीन वोट दे सकेगा। जिन तीन उम्मीदवारो को सबसे अधिक वोट मिलें, वे ही निर्वाचित हो जाते हैं।

एक-सदस्य निर्वाचन क्षेत्र के लाभ—(१) इस पद्धति मे निर्वाचन-क्षेत्र छोटे-छोटे होते है। मतदाता लोग यह भली भाँति जान सकते हैं, कि कौन सा एक व्यक्ति पार्लियामेन्ट मे उनका प्रतिनिधि है। निर्वाचित प्रतिनिधि भी यह भली भाँति जानता है, कि क्षेत्र के मतदाताओ ने उसे चुना है। वह उनके दृष्टिकोण व विचारो का ध्यान रखता है, और उनसे सम्बन्ध कायम रखता है। मतदाता लोग भी अपने सुख-दुःख को प्रतिनिधि से कह सुन सकते हैं।

(२) *निर्वाचन क्षेत्रो के छोटे होने के कारण कुछ क्षेत्र ऐसे बन जाते हैं,* जिनमे कल-कारखानो की प्रधानता हो। अन्य निर्वाचन क्षेत्र ऐसे होते हैं, जिनमे

व्यापारी, शिल्पी या किसान अधिक सख्या मे बसते हो। ये सब विभिन्न प्रकार के मतदाता ऐसे प्रतिनिधि चुनवा सकते हैं, जो उनके दृष्टिकोण को समझते हो।

(३) यह पद्धति बहुत सरल है। एक मतदाता और एक वोट, एक निर्वाचन क्षेत्र और एक प्रतिनिधि, सब इसे भली भांति समझ सकते है।

एक-सदस्य निर्वाचन क्षेत्र की हानियाँ—(१) इस पद्धति मे बहुत से मतदाता ऐसे रह जाते हैं, जिनका कोई भी प्रतिनिधि पालियामेण्ट मे नही जाने पाता। मान लीजिये कि परवा दून के निर्वाचन-क्षेत्र से एक प्रतिनिधि चुना जाता है। वहाँ चार उम्मीदवार खडे हुए हैं, एक काग्रेस पार्टी का, एक प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का, एक जनसघ का और एक स्वतन्त्र। मतदाताओ की कुल सख्या ३६ हजार है, जिनमे से २० हजार मतदाताओ ने वोट दिए। चुनाव मे ८००० वोट काग्रेस के उम्मीदवार को मिले, ६००० प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के उम्मीदवार को ४००० स्वतन्त्र उम्मीदवार को और २००० जनसघ के उम्मीदवार को। सबसे अधिक वोट मिलने के कारण काग्रेस का उम्मीदवार निर्वाचित हो गया। पर उसे केवल ८००० वोट मिले थे। शेष १२००० मतदाताओ का प्रतिनिधित्व इस पद्धति मे नही हुआ। उनके वोट बेकार गये।

(२) इस पद्धति मे योग्य उम्मीदवारो के लिए चुना जा सकना कठिन होता है, क्योकि छोटे छोटे देहाती निर्वाचन क्षेत्रो मे ऐसे व्यक्ति कठिनता से मिलते हैं, जो पालियामेन्ट के सदस्य बनने के लिए उपयुक्त हो। यदि बडे शहरो से लाकर इन निर्वाचन-क्षेत्रो से उम्मीदवार खडे किए जाएँ, तो उनका अपने निर्वाचको से कोई सम्पर्क नहीं होता।

बहुसदस्य निर्वाचन क्षेत्र पद्धति के गुण-दोष—एक-सदस्य निर्वाचन पद्धति के जो गुण हैं वे ही बहु-सदस्य निर्वाचन क्षेत्र पद्धति के दोष है। इस पद्धति के खिलाफ एक महत्वपूर्ण युक्ति यह दी जाती है, कि इसमे मतदाताओ के लिए यह निर्णय कर सकना कठिन हो जाता है, कि वे किन किन उम्मीदवारो के पक्ष मे अपने वोट दें। निर्वाचन-क्षेत्र के बडा होने के कारण मतदाता लोग उम्मीदवारो से प्राय अपरिचित होते हैं, और उनके गुण-दोषो को भली भाँति नही जान सकते। इस दशा मे राजनीतिक दलो के लिये यह सुगम हो जाता है, कि वे मतदाताओ को इस बात के लिये प्रेरित करें कि वे आँख मीचकर अपने दल के उम्मीदवारो के लिए वोट दे दें।

बहु सदस्य निर्वाचन क्षेत्र पद्धति आजकल बहुत लोकप्रिय नही है। प्राय सभी देशो मे आमतौर पर एक सदस्य निर्वाचन-क्षेत्र पद्धति का ही अनुसरण किया जाता है।

अल्पसंख्या के लोगों के प्रतिनिधित्व का प्रश्न (Representation of Minorities)—

एक प्रतिनिधि वाले छोटे निर्वाचन-क्षेत्रो का सबसे बडा दोष यह है कि

उनमे बहुतसे एसे मतदाता रह जाते हैं, निर्वाचित प्रतिनिधि जिनका प्रतिनिधित्व नही करता। जिन राजनीतिक दलो के लोग अल्पसख्या (Minority) म हों, या धर्म, भाषा, सस्कृति आदि के लिहाज से जो अल्पसख्यक जातियाँ हो, उन्हे अपने प्रतिनिधि चुन सकने का इस पद्धति मे अवसर नहीं मिलता। इस दोष को दूर करने के लिए अनेक अन्य पद्धतियाँ हैं, जिन पर विचार करने की आवश्यकता है—

(१) अनुपाती प्रतिनिधित्व की पद्धति (Proportional Representation)—इस पद्धति के लिए निर्वाचन-क्षेत्र का आकार बडा होना चाहिए और उससे चार, पाँच, छ या दस बारह तक प्रतिनिधि चुने जाने चाहियें। प्रत्येक मतदाता को इस बात की स्वतन्त्रता होनी चाहिये, कि वह जिस उम्मीदवार को सबसे अधिक अच्छा समझे, उसके नाम के आगे (१), जिसे दूसरा स्थान देना चाहे उसके नाम के आगे (२) और इस प्रकार अपनी पसन्द के अनुसार ३, ४, ५, ६ आदि सख्याएँ लिख सके। यदि एक मतदाता ने जिस उम्मीदवार को अपनी पसन्द मे पहला स्थान दिया हो, उसे उस मतदाता के वोट की आवश्यकता न हो, इस मतदाता के वोट के बिना गिने ही उसे इतने वोट मिल गए हो कि वह चुन लिया गया हो, तो इस मतदाता ने जिस उम्मीदवार को दूसरा स्थान दिया हो, उसके लिये उसका वोट इस पद्धति के अनुसार काम मे ले आया जाता है।

मान लीजिए कि एक निर्वाचन-क्षेत्र से पाँच प्रतिनिधि चुने जाने हैं। उम्मीदवारो की सख्या ९ है। कुल वोटो की सख्या १२००० है। इस दशा मे कौन प्रतिनिधि चुना जायगा, यह जानने के लिए पहले वह 'क्वोटा' निकाला जायगा, जिसे सफल उम्मीदवार के लिए प्राप्त कर लेना आवश्यक है। यह क्वोटा इस ढग से निकाला जाता है—

$$\text{क्वोटा} = \frac{\text{डाले गए वोटो की कुल सख्या}}{\text{जितने प्रतिनिधि चुने जाने हो, उनकी सख्या} + १} + १$$

जो उदाहरण हमने ऊपर लिया है, उसके अनुसार क्वोटा यह होगा—

$$\frac{१२०००}{५+१} + १ = २००१$$

जिन उम्मीदवारो को २००१ वोटो का क्वोटा प्राप्त हो जाए, उन्हे चुना हुआ समझ लिया जायगा। अब यदि १२००० मतदाताओ म किसी पार्टी के २००१ भी समर्थक हैं, तो वे उस पार्टी के उम्मीदवार को अपनी पहली पसन्द देकर उसे चुनवा सकने मे समर्थ हो जाएँगे, और उस पार्टी का एक प्रतिनिधि पालियामेन्ट मे पहुँच जायगा। यदि उस पार्टी के समर्थकों की सख्या २००१ से कम भी हो, पर कुछ मतदाताओं ने उसके उम्मीदवार को अपनी दूसरी या तीसरी पसन्द दी हो, तो भी उसके चुने जाने की सम्भावना हो सकेगी।

अनुपाती प्रतिनिधित्व की इस पद्धति को एकल सक्रमणीय मत पद्धति (Single Transferable vote system) कहते हैं।

(२) सूची पद्धति (List system)—अनुपाती प्रतिनिधित्व के लिये ही एक अन्य पद्धति को अपनाया जाता है, जिसे सूची पद्धति कहते हैं। इसमें भी निर्वाचन-क्षेत्र का आकार बडा रखा जाता है, और उसमें अनेक (५ से २० तक) प्रतिनिधि चुने जाते हैं। चुनाव के लिये जो उम्मीदवार खडे हो, उन्हे पार्टी के अनुसार अलग अलग सूचियो मे रखा जाता है। यदि कुल तीन पार्टियो के उम्मीदवार हो, तो तीन लिस्टें बनाई जाएँगी। वोट देते समय मतदाता एक पार्टी के उम्मीदवारो की सारी सूची को वोट देगा। विविध पार्टियों के हक में कुल जितने वोट आएँ, उन्हें गिन लिया जाता है, और फिर इन वोटों के आधार पर सब राजनीतिक पार्टिया को उतने ही स्थान दे दिए जाते हैं।

मान लीजिए कि चुनाव मे काग्रेस, प्रजा सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट पार्टियो ने उम्मीदवार खडे किये हैं। तीनो के उम्मीदवारो की अलग-अलग लिस्टें बना ली गई। कुल मिलाकर १२००० मतदाताओ ने वोट दिया। काग्रेस की लिस्ट को ६००० वोट मिले, प्रजा सोशलिस्ट पार्टी की लिस्ट को ४००० और कम्युनिस्ट पार्टी की लिस्ट को २०००। कुल छ प्रतिनिधि चुने जाने थे। इस दशा मे काग्रेस के ३, प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के २ और कम्युनिस्ट पार्टी का १ प्रतिनिधि चुना हुआ माना जायगा। जिन उम्मीदवारो के नाम पार्टी की लिस्ट मे सबसे ऊपर हो, इस पद्धति मे उन्ह ही प्राप्त हुए वोटो के आधार पर निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है।

(३) एकत्रीभूत मत-पद्धति (Cumulative vote system)—यह भी अनुपाती प्रतिनिधित्व की ही एक पद्धति है। इस पद्धति मे भी एक निर्वाचन क्षेत्र से अनेक प्रतिनिधि चुने जाने होते हैं। प्रत्येक मतदाता को उतने वोट देने का अधिकार होता है, जितने प्रतिनिधि चुने जाने हो। इन वोटो को मतदाता बाँटकर भी दे सकता है, और चाहे तो किसी एक ही उम्मीदवार को सारे वोट दे सकता है।

मान लीजिये, एक निर्वाचन-क्षेत्र से छ प्रतिनिधि चुने जाने हैं। कुल मिलाकर ६००० मतदाता वोट देते हैं। इनमें से १००० मतदाता कम्युनिस्ट पार्टी के हैं। यदि साधारण रीति से वोट लिए जाएँ, तो ये १००० मतदाता कभी कम्युनिस्ट दल के उम्मीदवार को नहीं चुनवा सकेंगे। पर यदि ये सब मतदाता अपने छ-छ वोट एक कम्युनिस्ट उम्मीदवार को ही दे दें, तो उसके पक्ष मे ६००० वोट मिल जाएँगे। अब यदि काग्रेस ने पूरे ६ उम्मीदवार खडे किये हो, और अन्य राजनीतिक दलो की ओर से भी चुनाव लडा जा रहा हो, तो कम्युनिस्ट लोग अपने उम्मीदवार को आसानी से चुनवा लेंगे।

प्रत्यक्ष और परोक्ष निर्वाचन (Direct and Indirect Election)—

मतदाता लोग दो प्रकार से प्रतिनिधियो को चुन सकते है, प्रत्यक्ष रूप से या परोक्ष रूप से। जब मतदाता स्वय अपने वोटो से पार्लियामेण्ट के लिए प्रतिनिधियो को चुनते है, तो ऐसे चुनाव को 'प्रत्यक्ष' कहते है। इसके विपरीत जब मतदाता अपने वोट द्वारा एक ऐसी 'निर्वाचक सभा' (Electoral College) को चुने, जिसके सदस्यो के हाथ मे पार्लियामेण्ट के सदस्यो के चुनाव का अधिकार हो, तो ऐसे चुनाव को 'परोक्ष' कहा जाता है।

इङ्गलैण्ड के हाउस ग्राफ कामन्स, भारत की लोक सभा (House of the People) और फ्रास के चेम्बर ग्राफ डेपुटीज आदि का चुनाव प्रत्यक्ष पद्धति से होता है। भारत मे पार्लियामेन्ट के द्वितीय सदन (राज्य सभा) का चुनाव परोक्ष रीति से किया जाता है। इस चुनाव के लिये विविध राज्यो की विधान सभाएँ (Legislative Assemblies) निर्वाचन-सभाओ का काम करती है। फ्रास और भारत मे राष्ट्रपति का चुनाव भी परोक्ष रीति से होता है। भारत मे राष्ट्रपति का चुनाव जिस निर्वाचन द्वारा किया जाता है, उसके सदस्य निम्नलिखित होते है—(१) पार्लियामेण्ट के वे सदस्य, जो चुनाव द्वारा सदस्य बने हो, और (२) राज्यो की विधान सभाओ के निर्वाचित सदस्य।

दोनो पद्धतियों के गुण व दोष—प्रत्यक्ष चुनाव का सबसे बडा गुण यह माना जाता है, कि पार्लियामेण्ट के सदस्य अपने को सर्वसाधारण जनता के प्रति उत्तरदायी समझते हैं, और उसके साथ सम्पर्क बनाये रखने का यत्न करते हैं। पर साथ ही इस पद्धति का यह दोष भी है, कि सर्वसाधारण मतदाता उन उम्मीदवारो के विषय मे कुछ भी नहीं जानते, जिनके पक्ष या विपक्ष मे उन्हें अपना वोट देना होता है।

यदि प्रत्येक गाँव को अपने निवासियो मे से एक पढे-लिखे व समझदार आदमी को अपना प्रतिनिधि चुनने को कहा जाए, तो वे सुगमता से किसी योग्य व्यक्ति का चुनाव कर देंगे। इस प्रकार निर्वाचन-क्षेत्र के सब गाँवो से उनकी आबादी के अनुसार एक दो या तीन प्रतिनिधियो को लेकर यदि उनकी एक 'निर्वाचन सभा' बना ली जाए, तो वह शायद देश की पार्लियामेण्ट के लिये एक ऐसे सदस्य को चुन सकेगी, जो वस्तुत योग्य हो।

पर इस पद्धति मे यह बडा दोष रह जायगा, कि चुनाव के अवसर पर जनता मे जो राजनीतिक जागृति उत्पन्न होती है, वह नही हो पायगी। इस प्रथा मे घूसखोरी की भी अधिक गुन्जाइश रहेगी, क्योंकि कोई धनी उम्मीदवार निर्वाचक सभा के थोडे मे सदस्यो को रिश्वत देकर उनके वोटको सुगमता से प्राप्त कर सकेगा। आजकल पार्लियामेण्ट के सदस्यो के चुनाव के लिए प्रत्यक्ष चुनाव की पद्धति ही अधिक लोकप्रिय है।

पृथक् निर्वाचन पद्धति (Separate Electorate System)—

जब भारत में अंग्रेजों का शासन था, तो इस देश में मुसलमानों और गैर-मुसलिमों को अपने प्रतिनिधि पृथक्-पृथक् रूप से चुनने का अवसर देने की व्यवस्था की गई थी। प्रान्तों की विधान सभाओं और केन्द्रीय एसेम्बली के लिये मुसलिम और गैर-मुसलिम मतदाता अपने-अपने प्रतिनिधि पृथक्-पृथक् रूप से चुना करते थे। प्रान्तीय विधान सभाओं व केन्द्रीय एसेम्बली के कितने सदस्य मुसलिम हों और कितने गैर-मुसलिम, यह तय कर दिया गया था, और उनके निर्वाचन-क्षेत्र भी अलग-अलग बना दिये गये थे। मुसलिम मतदाता केवल मुसलिम उम्मीदवारों के लिए वोट दे सकते थे, और गैर-मुसलिम मतदाता केवल गैर-मुसलिम उम्मीदवारों के लिए।

इस पद्धति से भारत में अनेक हानियां हुईं —

(१) मुसलमानों में यह विचार निरन्तर विकसित होता गया, कि वे भारत की शेष जनता से सर्वथा पृथक् हैं, वे एक पृथक् राष्ट्र हैं। भारत का जो विभाजन हुआ, उसमें यह पृथक् निर्वाचन पद्धति एक बड़ा कारण बनी।

(२) मुसलमानों में अपने अलग होने का विचार केवल चुनाव तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु वे सरकारी नौकरी आदि के लिए भी यह मांग करने लगे कि उनके लिये इन क्षेत्रों में भी एक निश्चित भाग सुरक्षित रहना चाहिए।

(३) इस पद्धति के कारण जातिगत (Communal) व साम्प्रदायिक (Sectarian) विद्वेष वृद्धि हुई, और जनता में राष्ट्रीय एकता की अनुभूति उत्पन्न हो सकना सम्भव नहीं रहा।

(४) देश की उन्नति किस ढंग से की जाए, आर्थिक क्षेत्र में किस कार्यक्रम को अपनाया जाए—यदि इन बातों के आधार पर देश में राजनीतिक दलों का संगठन हो, तो उसे अनुचित नहीं कहा जा सकता। पर पृथक् निर्वाचन पद्धति के कारण राजनीतिक दलों का संगठन जातिगत आधार पर होने लगता है, राजनीतिक व आर्थिक विचारों के आधार पर नहीं। भारत में मुसलिम लीग, हिन्दू महासभा, अकाली दल आदि जातिगत पार्टियों का विकास इसी पद्धति के कारण हुआ।

विविध जातियों के लिये स्थान सुरक्षित रखकर संयुक्त निर्वाचन-पद्धति (Joint Electorate with Reservation of seats)—

यदि किसी देश में अनेक ऐसी जातियों व धर्मों की सत्ता हो, जिनमें अपने पृथक् होने का विचार प्रबल रूप से विद्यमान हो, तो वहां चुनाव के लिए एक अन्य पद्धति को अपनाया जाता है, जिसके अनुसार अल्पसंख्यक जातियों (Minorities) के लिए विधान सभाओं व पार्लियामेण्ट में स्थान सुरक्षित कर दिए जाते हैं। पर इन सुरक्षित स्थानों के लिए सदस्यों का चुनाव केवल अल्पसंख्यक जाति के वोटों द्वारा

नहीं होता। उनका चुनाव सब मतदाताओं के वोटों द्वारा किया जाता है। अंग्रेजी शासन के समय मे अनेक राष्ट्रीय नेता यह मांग किया करते थे, कि मुसलिमों के लिए विधानसभाओं मे स्थान तो सुरक्षित रहने चाहियें, पर उनका चुनाव सब मतदाताओं के वोटों द्वारा होना चाहिए। इस पद्धति में वे दोष नहीं रहते, जो पृथक् चुनाव-पद्धति मे पाये जाते हैं।

पाकिस्तान के पृथक् बन जाने के बाद भारत के नये संविधान मे मुसलमानों के लिए पृथक् स्थान सुरक्षित नहीं रखे गये हैं। पर अछूत समझी जानेवाली बहुत सी जातियाँ भारत मे ऐसी हैं, जो बहुत पिछड़ी हुई दशा मे हैं। यदि उनके लिये पृथक् स्थान सुरक्षित न रखे जाएँ, तो उनके किसी प्रतिनिधि का चुना जा सकना सुगम नहीं है। इस कारण नये संविधान मे इन जातियों के प्रतिनिधियों के लिए विविध राज्यों की विधान सभाओं व केन्द्रीय पार्लियामेण्ट मे पृथक् स्थान सुरक्षित रख दिए गए हैं। पर उनका चुनाव सब मतदाताओं—उच्च वर्गों और अछूत समझी जानेवाली जातियों के वोटों द्वारा होता है।

आदर्श निर्वाचन पद्धति—

इस अध्याय मे निर्वाचन के विषय मे जो विचार किया गया है, उसके अनुसार निर्वाचन की वह पद्धति सबसे आदर्श होगी, जिसमे निम्नलिखित विशेषताएँ हों—

(१) सब बालिग स्त्री पुरुषों को वोट देने का अधिकार (Universal Adult Franchise)।

(२) प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति (Direct Election)।

(३) वोटों को गुप्त रूप मे पर्चियों द्वारा देना (Ballot System)।

(४) ऐसे उपायों का अनुसरण, जिनसे अल्पमत के लोगों को भी अपने प्रतिनिधि चुनवा सकने का अवसर मिले।

(५) पृथक् निर्वाचन पद्धति का न होना।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ आधुनिक समय के राज्यों में व्यवस्थापन विभाग के क्या कार्य माने जाते हैं? (यू० पी०, १९४६, १९४९)

२. मन्त्रिपरिषद् के अधीन शासन मे व्यवस्थापन विभाग के मुख्य कार्यों का वर्णन कीजिये। आप एकसदनात्मक पद्धति को पसन्द करते हैं या द्विसदनात्मक पद्धति को? क्यों? (यू० पी०, १९४५)

३ एक-सदनात्मक और द्विसदनात्मक पद्धतियों के गुण दोषों को विवेचना कीजिये।

४ दूसरे सदन की रचना के कौन-कौन से ढंग आजकल प्रचलित हैं। क्या ये ढंग लोकतन्त्रवाद के अनुकूल हैं ?

५ क्या आप स्त्रियों को मताधिकार देने के पक्ष मे हैं ? स्त्रीमताधिकार के पक्ष और विपक्ष मे युक्तियाँ दीजिये। (यू० पी०, १९४२)

६. मताधिकार का क्या अभिप्राय है ? वयस्क मताधिकार से आप क्या समझते हैं ? इसके गुण दोषों पर भारत की दशा को दृष्टि मे रखकर प्रकाश डालिये। (यू० पी०, १९४६)

७ अल्पसंख्यक जातियों के प्रतिनिधित्व का आप क्या आशय समझते हैं ? क्या आप भारत के लिए संयुक्त निर्वाचन प्रणाली का समर्थन करते हैं ? (यू० पी०, १९४८)

८ एक उत्तम निर्वाचन पद्धति मे क्या क्या विशेषताएँ होती हैं ? मतदाता सरकार के कार्यों पर किस प्रकार नियन्त्रण रखते हैं ? (यू० पी, १९४४)

९ मताधिकार पाने के लिए क्या गुण होने चाहिएँ ? क्या आपकी सम्मति में किसी निरक्षर मनुष्य को भी वोट देने का अधिकार मिलना चाहिए ? अपने उत्तर का कारण लिखिये ? (यू० पी०, १९५०)

१०. वयस्क मताधिकार (Universal suffrage) का ठीक-ठीक अर्थ समझाइये और उसके पक्ष व विपक्ष मे युक्तियाँ दीजिये। यू० पी०, १९५५)

११ आनुपातिक प्रतिनिधित्व व उसकी प्रमुख पद्धतियों का निदर्शन कीजिये।

१२ प्रत्यक्ष चुनाव और परोक्ष चुनाव के क्या गुण और दोष हैं ?

बाईसवाँ अध्याय

लोकमत और राजनीतिक दल

(Public Opinion and Political Parties)

लोकमत का महत्त्व—

लोकतन्त्र शासन के विकास के कारण आजकल के राज्यो मे लोकमत (Public opinion) का महत्त्व बहुत अधिक बढ गया है। लोकतन्त्र शासन मे सब कार्य लोकमत के अनुसार ही होता है। सरकार जो कानून बनाती है, जो आदेश जारी करती है, विदेशो के साथ जो सन्धियाँ करती है, किसी देश के विरुद्ध जो युद्ध शुरू करती है—ये सब कार्य करते हुए वह लोकमत को सदा दृष्टि मे रखती है। अब वह समय बीत गया, जब कि 'राजा की इच्छा' को ही कानून माना जाता था, या कानून का आधार 'ईश्वर के विधान' को समझा जाता था। आजकल के शासक न निरकुश होते है, और न स्वेच्छाचारी ही हो सकते हैं। वे सब काम लोकमत के अनुसार ही करने का प्रयत्न करते हैं। यही कारण है, जो आजकल के लोकतन्त्र राज्यो मे लोकमत का महत्त्व बहुत बढ गया है, और इन राज्यो की सरकारो की सफलता के लिए यह आवश्यक हो गया है कि जहाँ लोकमत भली भाँति सगठित हो, वहाँ साथ ही जनता भी सार्वजनिक प्रश्नो पर भली भाँति विचार करने और अपने भले-बुरे को समझने की योग्यता रखती हो।

लोकमत किसे कहते हैं ?

लोकमत के अभिप्राय को स्पष्ट कर सकना सुगम नही है। इसके कारण निम्नलिखित हैं—

(१) किसी भी प्रश्न पर सभी जनता का एकमत हो सकना सम्भव नही होता। हिन्दुओ मे तलाक होना चाहिए या नही, इस प्रश्न पर सब हिन्दू लोग एकमत नहीं है। इस दशा मे यह निर्णय कर सकना बहुत कठिन है, कि तलाक के प्रश्न पर हिन्दुओं का लोकमत क्या है ?

(२) जिसे साधारणतया लोकमत समझा जाता है, वह भी वस्तुत बहुसख्यक (Majority) लोगो का ही मत होता है।

(३) पर यह कहना भी सत्य नही है, कि बहुसख्या के मत को लोकमत कहते

हैं। जिसे लोकमत कहा जाता है, वह असल में कुछ थोड़े से लोगों का ही मत होता है। कुछ बड़े नेता जो बात कहते हैं, उसी को लोकमत मान लिया जाता है। सर्वसाधारण जनता को राजनीतिक व सार्वजनिक मामलों में न कोई दिलचस्पी होती है, और न उसमें इतनी योग्यता ही होती है, कि वह इन मामलों को भली भांति समझ सके। इस कारण कुछ थोड़े से नेता ही लोकमत की दुहाई देकर अपनी मनमानी करने में समर्थ हो जाते हैं।

(४) इस दशा में यह स्पष्ट है, कि यदि तो नेता लोग निःस्वार्थ हों, और प्रत्येक प्रश्न पर सबके हित व लाभ की दृष्टि से विचार करें, तब तो लोकमत भी उत्तम होता है। यदि नेता लोग स्वार्थ से काम लें, तो वे जनता को बहकाकर ऐसा लोकमत उत्पन्न कर देते हैं, जो जनता के हित में नहीं होता।

इन बातों में बहुत-कुछ सचाई है। पर साथ ही इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि नेताओं के भाषण, समाचार-पत्रों के लेख, पुस्तकों व रेडियो द्वारा किये गये प्रचार व इसी प्रकार के अन्य साधनों से सार्वजनिक प्रश्नों के सम्बन्ध में जनता अपनी एक निश्चित धारणा बना लेती है। यह तो नहीं कहा जा सकता, कि किसी प्रश्न पर सारी जनता की धारणा एक ही होती है। पर इसमें सन्देह नहीं, कि जब जनता की बहुसंख्या या बहुत बड़ा भाग किसी प्रश्न के सम्बन्ध में एक धारणा रखे तो उसे 'लोकमत' कहा जा सकता है। इस लोकमत की सत्ता से इनकार नहीं किया जा सकता। अब से कुछ साल पहले तक भारत में जमींदारी प्रथा प्रचलित थी। पर पुस्तकों, लेखों व भाषणों द्वारा धीरे-धीरे जनता की यह धारणा बनती गई, कि यह प्रथा हितकर नहीं है। अब यह पूरे भरोसे के साथ कहा जा सकता है, कि भारत का लोकमत जमींदारी प्रथा के अनुकूल नहीं है। यही बात छूत-अछूत के भेद के विषय में भी कही जा सकती है। साथ ही, यह भी कहा जा सकता है कि भारत का लोकमत यह चाहता है, कि गरीबी और अमीरी का विषम भेद दूर हो, और सम्पत्ति का बँटवारा 'सामाजिक न्याय' (Social Justice) के अनुरूप हो।

लोकमत के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ (Conditions for formulation of Public Opinion)

लोकमत के निर्माण के लिए निम्नलिखित परिस्थितियाँ आवश्यक हैं—

(१) शिक्षित जनता—जनता को सुशिक्षित, समझदार व सार्वजनिक मामलों में दिलचस्पी लेनेवाला होना चाहिए। सार्वजनिक मामलों पर लोग तभी अपना कोई मत बना सकते हैं, जबकि वे उन्हें समझने की योग्यता रखते हों। यदि किसी देश की जनता निरक्षर होगी, तो वह न समाचारपत्र पढ़ सकेगी, न राजनीतिक दलों के प्रचार से लाभ उठा सकेगी, और न किसी प्रश्न के पक्ष व विपक्ष पर विचार कर सकेगी।

(२) **आर्थिक समानता**—गरीबी और अमीरी का बहुत अधिक भेद भी अच्छे लोकमत के निर्माण मे रुकावट पैदा करता है। यदि बहुसंख्यक जनता बहुत गरीब हो, तो उसे अपना पेट भरने की फिक्र से ही फुरसत नही होगी। धनी लोग गरीबो की विवशता से लाभ उठाकर उन्हें अपने पीछे लगाने मे समर्थ हो जाएँगे। जिन लोगो को पेट-भर खाना भी नहीं मिलता, वे सार्वजनिक प्रश्नो पर निष्पक्ष रीति से विचार कर ही कैसे सकते हैं।

(३) **साम्प्रदायिकता व संकीर्णता का अभाव**—जिस देश के लोग जात-बिरादरी, धर्म, नसल आदि के संकीर्ण विचारो को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं, वे किसी सार्वजनिक प्रश्न पर सबके हित की दृष्टि से विचार नही कर सकते। उनके सामने जब कोई सवाल पेश होता है, तो वे यह सोचने लगते हैं, कि हमारी जाति को या हमारे धर्म को इससे कहाँ तक लाभ व नुकसान पहुँचेगा। इन संकीर्ण विचारो के कारण स्वस्थ लोकमत का निर्माण नही होने पाता।

(४) **निष्पक्ष समाचार-पत्र**—समाचार पत्रो और रेडियो आदि प्रचार के अन्य साधनो का सच्चा व निष्पक्ष होना भी सही लोकमत के निर्माण के लिए बहुत उपयोगी है। यदि ये साधन सरकार के हाथो मे हो, तो उसकी सदा यह कोशिश रहेगी कि समाचार इस ढंग से दिये जाएँ, जिससे जनता मे असन्तोष पैदा न हो। यदि ये साधन पूँजीपतियो के हाथो मे हो, तो वे इनका प्रयोग अपने वर्ग के हित के लिए करेंगे। जो समाचार-पत्र राजनीतिक दलो के हाथो मे होते है, वे भी सब समाचारो को एक खास रंग मे रँगकर पेश करते है। वस्तुत, लेखको और सम्पादको का काम बडे महत्त्व का है। लोकमत के निर्माण मे उनका बहुत हाथ होता है। यदि वे निष्पक्ष हो, स्वार्थ की भावना को अपने सामने न लाएँ, और सबके हित को अपने सम्मुख रखे, तो वे स्वस्थ लोकमत के निर्माण मे बहुत सहायता पहुँचा सकते है।

(५) **विचार प्रकट कर सकने की स्वतन्त्रता**—अपनी सम्मति व विचारो को प्रकट कर सकने की सबको स्वतन्त्रता होनी चाहिए। जिन राजनीतिक दलो का देश मे बहुमत न हो, या देश मे अल्पसंख्या के जो लोग हो, उन्हे यह स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वे शान्तिमय उपायो से अपने विचारो का प्रचार कर सकें। जब तक लोगो को सब प्रकार के विचारो को सुनने व जानने का मौका नही मिलेगा, वे किसी प्रश्न पर अपना स्वतन्त्र मत बना ही कैसे सकेंगे?

लोकमत का निर्माण करने व उसे प्रगट करने के साधन (Agencies for the formulation and expression of Public Opinion)

लोकमत का निर्माण करने व उसे प्रगट करने के लिए जो साधन आजकल प्रयोग मे लाये जाते हैं, वे निम्नलिखित हैं—

(१) समाचार-पत्र—जनता तक समाचारों को पहुँचाने का मुख्य साधन समाचार-पत्र हैं। ये पत्र न केवल समाचार ही देते हैं, अपितु उन पर टिप्पणियाँ भी करते हैं। विविध प्रकार के विचारों को फैलाने के लिये भी वे सहायक होते हैं। आम लोग उन्हीं को पढ़कर देश-विदेश की खबरों की जानकारी प्राप्त करते हैं, और सार्वजनिक प्रश्नों के विषय में विविध विचारों को ग्रहण करते हैं। समाचार-पत्रों द्वारा जनता को भी दूसरों तक अपने विचार पहुँचाने का अवसर मिलता है। वस्तुतः, लोकमत के निर्माण व प्रगट करने के समाचार-पत्र उत्तम साधन है।

पर सब समाचार-पत्र न निष्पक्ष होते हैं, और न सचाई व ईमानदारी से ही अपना कार्य करते हैं। बहुत-से समाचार-पत्र आजकल बड़े पूँजीपतियों के हाथों में हैं, और उनका दृष्टिकोण सर्वसाधारण किसान, मजदूर जनता के हितों के अनुकूल नहीं होता। अनेक समाचारपत्र सम्प्रदायवादी संकीर्ण लोगों के हाथों में भी हैं। ऐसे पत्र देश को बहुत हानि पहुँचाते हैं।

इसमें सन्देह नहीं, कि समाचार-पत्रों के हाथों में बहुत ताकत होती है। यदि वे अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने लगें, तो वे अहित भी बहुत कर सकते हैं। इसलिए ऐसी व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए, जिससे कोई समाचारपत्र अपनी शक्ति का दुरुपयोग न कर सके।

(२) रेडियो—समाचार-पत्रों के समान रेडियो भी समाचार देने और विचार फैलाने का बहुत बड़ा साधन है। अशिक्षित लोग समाचारपत्र नहीं पढ़ सकते, पर रेडियो सब लोग सुन सकते हैं। बहुत-से देशों में रेडियो पर प्रोग्राम देने का कार्य सरकार के हाथों में है। इस कारण सरकार को यह मौका मिल जाता है, कि वह केवल इस ढंग के समाचारों और विचारों का प्रसार करे, जो उसकी नीति के अनुकूल हों।

(३) सार्वजनिक सभाएँ—सभाओं में व्याख्यान देकर जनता में अपने विचारों का प्रचार बहुत सुगमता से किया जा सकता है। लोग सार्वजनिक व्याख्यानों को शौक से सुनते हैं, और सभाओं में अपने विचारों को प्रगट करने का भी अवसर प्राप्त करते हैं।

(४) राजनीतिक दलों का प्रचार—आजकल सभी लोकतन्त्र राज्यों में अनेक राजनीतिक दल संगठित हैं। इन सब दलों की नीति व कार्यक्रम अलग-अलग होते हैं। अपनी नीति, विचार व कार्यक्रम का प्रचार करने के लिए ये दल पोस्टर और पैम्फ्लेट निकालते हैं, हैण्डबिल बाँटते हैं, सभाएँ करते हैं, जुलूस निकालते हैं, और अन्य अनेक प्रकार के साधनों से जनता के मन को अपने अनुकूल बनाने का यत्न करते हैं।

(५) निर्वाचन—चुनाव के अवसर पर विविध राजनीतिक दलों व स्वतन्त्र उम्मीदवारों को अपने विचारों को फैलाने का स्वर्णीय मौका मिल जाता है। इस

अवसर पर लोग सब प्रकार के विचारो को सुनते हैं, और सार्वजनिक प्रश्नो पर अपना कोई मत तय करने मे उन्हे बहुत सहायता मिलती है।

(६) *अन्य सस्थाएँ*—राजनीतिक दलों के *अतिरिक्त अन्य भी अनेक ऐसी* सस्थाएँ होती है, जो लोकमत का निर्माण करने मे मदद करती हैं। व्यापारियो, मजदूरो, शिल्पियो व नागरिको के अनेक इस तरह के सगठन बने होते हैं, जिनका प्रयोजन मुख्यतया आर्थिक व सामाजिक होता है। समाज-सुधार, धर्मप्रचार व सेवा के उद्देश्य से कायम हुई सस्थाएँ भी सार्वजनिक प्रश्नो पर अपने मत का प्रचार करती हैं।

(७) **विधान सभाएँ**—विधान सभाओ मे जो वाद-विवाद होते हैं, लोग उनमे बहुत दिलचस्पी लेते है। ये वाद-विवाद रेडियो व समाचार-पत्रो द्वारा जनता तक पहुँचते हैं, और कुछ लोग दर्शक के रूप मे इन सभाओ मे उपस्थित होकर इन्हे सुनते भी हैं। इन वाद विवादों को पढ व सुनकर जनता को यह अवसर मिलता है, कि वह सार्वजनिक प्रश्नों पर अपना मत बना सके।

राजनीतिक दल (Political Parties)—

लोकतन्त्र शासन के लिए राजनीतिक दलो का बहुत महत्त्व है। जब देश मे किसी एक राजा का शासन हो, या कोई एक श्रेणि शासन करती हो, तो राजनीतिक दलो का कोई विशेष महत्त्व नही होता। पर लोकतन्त्र शासन लोकमत के अनुसार होता है, अत विविध विचारो के लोग अपने को सगठित कर अपने अनुकूल लोकमत का निर्माण करने व उसके अनुसार शासन करने का यत्न करते हैं। वस्तुत, लोकतन्त्र शासन किसी एक ऐसे राजनीतिक दल का ही शासन होता है, जिसकी नीति व कार्यक्रम को *बहुसख्यक लोग पसन्द* करते हो।

राजनीतिक दल की विशेषताएँ—(१) यह आवश्यक है, कि राजनीतिक दल भली भाँति सगठित हो। जनता मे राज्य व उसकी नीति के विषय मे अनेक प्रकार के विचार होते हैं। पर जब तक एक समान विचार रखने वाले लोग आपस मे मिल-कर अपना एक सगठन न बना लें, वे राजनीतिक दल का रूप धारण नही कर पाते। राजनीतिक दलो की शक्ति उनके सगठन पर ही निर्भर करती है।

(२) राजनीतिक दल के प्रत्येक सदस्य के लिए यह आवश्यक है, कि वह किन्हीं निश्चित सिद्धान्तो या विचारो का अनुयायी हो। अगर बिना विचारो व सिद्धान्तो के कोई सगठन बना लिया जायगा, तो उसे 'दल' न कहकर गुट (Faction) कहना ठीक होगा। गुटबन्दी और राजनीतिक दल मे भारी भेद है।

(३) राजनीतिक दलो के लिए यह भी आवश्यक है, कि वे अपने सिद्धान्तो व विचारो का शान्तिमय उपायो से प्रचार करें।

(४) राजनीतिक दलो का निर्माण जिन सिद्धान्तो व विचारो के आधार पर हुआ हो, उनका उद्देश्य राष्ट्रीय हित होना चाहिए, किसी जाति या वर्ग का हित नहीं।

इन विशेषताओ को दृष्टि मे रखकर राजनीतिक दल का लक्षण इस प्रकार किया जा सकता है—"राजनीतिक दल मनुष्यो के उस सगठित समुदाय को कहते हैं, जिसके सार्वजनिक प्रश्नो के सम्बन्ध मे कुछ निश्चित विचार हो, और जो उन विचारो को क्रिया मे परिणत करने के लिए वैध और शान्तिमय उपायो द्वारा सरकार का सचालन अपने हाथो मे लेने का उद्योग करे।"

राजनीतिक दलों के संगठन का आधार—

राजनीतिक दलो का सगठन किन आधारो पर किया जाता है, यह प्रश्न भी बडे महत्त्व का है—

(१) आर्थिक—आजकल के लोकतन्त्र राज्यों मे राजनीतिक दल प्राय आर्थिक नीति के सम्बन्ध मे मतभेद होने के कारण ही कायम हुए हैं। भारत मे कांग्रेस पार्टी समाजवादी ढग के आर्थिक सगठन के पक्ष म है। प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के लोग कांग्रेस की आर्थिक नीति से सन्तुष्ट नहीं है। वे चाहते हैं, कि समाजवाद को अधिक स्पष्टता के साथ अपनाया जाए। कम्युनिस्ट पार्टी कार्ल मार्क्स के वर्ग सघर्ष (Class struggle) के सिद्धान्त म विश्वास रखती है, और किसानो व मजदूरो के शासन को कायम करना चाहती है। इन पार्टियो का मुख्य आधार आर्थिक नीति और कार्य-क्रम के सम्बन्ध म मतभेद ही है।

(२) राजनीतिक—अनेक देशो म राजनीतिक मतभेद के कारण भी विविध पार्टियो का सगठन किया जाता है। जब भारत मे अग्रेजी शासन था, तो यहाँ कांग्रेस पार्टी का सगठन राजनीतिक उद्देश्य से ही हुआ था। कांग्रेस भारत से विदेशी शासन का अन्त कर 'पूर्ण स्वराज्य' स्थापित करने के पक्ष मे थी। उस समय भारत म एक लिबरल पार्टी भी थी, जो पूर्ण स्वराज्य को अपना ध्येय न मानकर 'उत्तरदायी सरकार' (Responsible Government) की स्थापना को ही पर्याप्त समझती थी। यह पार्टी इतने से ही सतुष्ट थी, कि अग्रेज शासको के साथ सहयोग करके धीरे धीरे भारतीयो को शासन म थोडे बहुत अधिकार दिलाने का यत्न करे।

(३) स्वभाव मे भेद (Temperamental differences)—लोगो के स्वभाव म बहुत अन्तर होता है। कुछ लोग अपनी वर्तमान दशा से सतुष्ट होते हैं, और उसम कोई बडा परिवर्तन व सुधार नहीं चाहते। यह स्वभाव प्राय धनी लोगो म पाया जाता है। राजनीति म इन लोगो को सनातनी या कन्जर्वेटिव (Conservative) कहते हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो सुधार व परिवर्तन तो चाहते हैं, पर धीरे धीरे। ये लोग क्रान्ति या शीघ्र परिवर्तन को पसन्द नहीं करते। राजनीति मे इन्हें उदार

या लिबरल (Liberal) कहा जाता है। कुछ लोग वर्तमान दशा से बहुत अधिक असतुष्ट होने के कारण उसमे बडी तेजी के साथ परिवर्तन करना उपयोगी मानते है। ये लोग उग्र या रेडिकल (Extremist या Radical) कहाते हैं। मनुष्यो मे जो ये तीन प्रकार के स्वभाव पाये जाते हैं, उनके कारण अनेक देशो मे तीन प्रकार के राजनीतिक दल सगठित हैं। इङ्गलैण्ड मे तीन मुख्य दल है, कन्जर्वेटिव, लिबरल और लेबर। इन तीनो का आधार मनुष्यो का यह तीन प्रकार का स्वभाव ही है जिसके कारण ये तीनो दल तीन भिन्न-भिन्न नीतियो का अनुसरण करते हैं।

(४) ऐतिहासिक कारणों से—अनेक देशो मे ऐतिहासिक कारणो से भी अनेक दलो का सगठन हो जाता है। सयुक्त राज्य अमेरिका मे दो मुख्य दल है, जिन्हें रिपब्लिकन और डमोक्रेट कहते है। इनके विचारो और नीति मे विशेष भेद नही है। पर जब से सयुक्त राज्य अमेरिका स्वतन्त्र हुआ, वहां के लोग इन दो दलो मे सगठित होने गये। अमेरिका से दास-प्रथा को उडाया जाए या नही, इस प्रश्न पर इन दो दलो मे मतभेद ने बहुत गम्भीर रूप धारण कर लिया। बाद म दासप्रथा का तो अन्त हो गया, पर इन दलो के सगठन कायम रहे। आज इन दलो के कार्यक्रम व नीति मे विशेष अन्तर न होने पर भी जो ये दल कायम है, उसका बडा कारण ऐतिहासिक ही है।

(५) जातिगत या वर्गविशेष के हितों के आधार पर—अनेक दलो का सगठन जातिगत, साम्प्रदायिक व किसी वर्गविशेष के हितो के आधार पर भी होना है। भारत म हिन्दू महासभा, मुसलिम लीग, अकाली-दल आदि जो अनेक पार्टियां है, उनका आधार कोई आर्थिक कार्यक्रम न होकर अपने जातिगत व साम्प्रदायिक हितो की रक्षा करना ही है।

राजनीतिक दलो के कार्य—

क्योंकि लोकतन्त्र शासनो के लिए राजनीतिक दलो का बहुत महत्त्व है, अत उनके कार्यों पर भी प्रकाश डालना उपयोगी है—

(१) वे लोकमत का निर्माण करने और जनता को अपने विचारो का अनुयायी बनाने का उद्योग करते है। राजनीतिक दल सार्वजनिक समस्याओ के प्रति जनता का ध्यान आकृष्ट करते है, और उनके लिए हल भी पेश करते हैं। वे लोगो को बताते है, कि गरीबी को दूर करना एक बडी समस्या है। एक दल इसका यह उपाय बताता है, कि जो किसान जमीन जोतता है, उसे ही जमीन का मालिक भी होना चाहिए। कारखानो मे काम करनेवाले मजदूरो के हाथ मे कारखानो का सचालन भी होना चाहिए। दूसरा दल कहता है, कि गरीबी दूर करने का उपाय सम्पत्ति मे वृद्धि करना है। उसके लिए नये कल-कारखाने खुलने चाहिए। पर यहां तभी हो सकता

है, जब कि कल-कारखानों में पूंजी लगायी जाए। इसलिए पूंजीपतियों का भी बहुत उपयोग है, और उन्हें मुनाफा कमाने का अवसर अवश्य दिया जाना चाहिए।

(२) लोकमत को अपने अनुकूल बनाकर राजनीतिक दल यह यत्न करते हैं, कि अपनी सरकार बनाएँ। पार्लियामेण्ट में जिस दल का बहुमत हो, उसी को अपना मन्त्रिमण्डल बनाने का अवसर मिलता है। इसलिए इन दलों की सदा यह कोशिश रहती है, कि अपने अधिक-से-अधिक प्रतिनिधि पार्लियामेण्ट में चुनवाएँ, और इस प्रकार बहुमत प्राप्त कर अपनी सरकार बनाएँ। अपनी सरकार होने पर अपनी नीति व विचारों को क्रियान्वित करने का अवसर इन दलों को मिल जाता है।

(३) राजनीतिक दलों का मुख्य कार्य जहाँ लोकमत को अपने अनुकूल बनाना है, वहाँ चुनाव लड़ना भी है। वे जनता में अपने विचारों का प्रचार इसीलिए करते हैं ताकि चुनाव के समय उनसे वोट ले सकें। चुनाव के सम्बन्ध में राजनीतिक दल प्रायः निम्नलिखित कार्य करते हैं—(क) अपने पक्ष के लोगों के नाम अधिक-से-अधिक संख्या में वोटरों की सूची में लिखवाना। (ख) अपने दल की तरफ से खड़े किए जानेवाले योग्य उम्मीदवारों की तलाश करना। (ग) चुनाव में अपने उम्मीदवारों की विजय के लिए यत्न करना। (घ) अपनी नीति व कार्यक्रम के पक्ष में प्रचार करना।

राजनीतिक दलों से हानियाँ—

यद्यपि लोकतन्त्र शासन के लिए राजनीतिक दलों का बहुत उपयोग है, पर उनके होने से अनेक हानियाँ भी होती हैं। ये हानियाँ निम्नलिखित हैं—

(१) सरकार का निर्माण जब राजनीतिक दल द्वारा होता है, तो अन्य दलों के योग्य व्यक्तियों की योग्यता से लाभ नहीं उठाया जा सकता।

(२) राजनीतिक दलों के कारण व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण होता है। पार्लियामेण्ट के प्रायः सभी सदस्य किसी-न-किसी पार्टी के सदस्य होते हैं, क्योंकि किसी पार्टी की मदद के बिना किसी मनुष्य के लिए चुनाव में सफल हो सकना सुगम नहीं होता। इस कारण इन सदस्यों को पार्टी के अनुशासन में रहना पड़ता है। जब कोई प्रस्ताव या बिल पार्लियामेण्ट के सम्मुख पेश होता है, तो सदस्य लोग उस पर स्वतन्त्रतापूर्वक न विचार कर सकते हैं, और न वोट ही दे सकते हैं। पार्टी जो कुछ फैसला करे, सबको उसे आँख मींचकर मानना पड़ता है। यदि कोई उसके विरुद्ध भाषण करे या उसके खिलाफ वोट दे, तो पार्टी उसके खिलाफ कार्रवाई करती है। उससे जवाब माँगा जाता है, और कई बार उसे पार्टी से बाहर भी निकाल दिया जाता है।

(३) राजनीतिक दल के सदस्य अपनी पार्टी की सभा में भी स्वतन्त्रतापूर्वक

विचार नही कर पाते। असल मे प्रत्येक पार्टी मे कुछ लोगो का ऐसा गुट बन जाता है, जो पार्टी के कर्ता-धर्ता होते है। वे जो कुछ निर्णय करते हैं, पार्टी के अन्य सदस्य उसका विरोध करने का साहस नहीं करते।

(४) राजनीतिक दलो मे उन लोगो का महत्त्व बहुत बढ जाता है, जो चुनाव लड़ने मे कुशल हो, जो जनता को उलटे-सीधे तरीको से बहकाकर उनके वोट प्राप्त कर सकें। इस कारण राजनीतिक दलो का नेतृत्व कुशल राजनीतिज्ञो के हाथो मे न रहकर कुछ तिकड़मबाज व चालाक लोगो के हाथो मे आ जाता है।

(५) राजनीतिक दल अपनी शक्ति को बढाने के लिए रिश्वत, बेईमानी आदि बुरे उपायो के प्रयोग मे भी सकोच नही करते। वे अपने पक्षपातियो को ऊँचे पद देते हैं, और अपने सहायको को कई तरह से अनुचित लाभ पहुँचाते हैं।

(६) राजनीतिक दलबन्दी कई बार ऐसा रूप भी धारण कर लेती है, कि उसके कारण लोग राष्ट्रीय व सामूहिक हितो के मुकाबिले मे दलबन्दी को अधिक महत्त्व देने लगते है।

राजनीतिक दलो के लाभ—

इसम सन्देह नही, कि राजनीतिक दलो से अनेक हानियाँ होती हैं। पर साथ ही यह भी सत्य है कि लोकतन्त्र शासन के लिए राजनीतिक दलो का बहुत उपयोग है। जिन लाभो व गुणो के कारण आजकल लोकतन्त्र शासन के लिए राजनीतिक पार्टियाँ अनिवार्य हो गई हैं, वे निम्नलिखित हैं—

(१) यह सम्भव ही नही है, कि सब सार्वजनिक प्रश्नो पर सब लोग एकमत हो। महत्त्वपूर्ण मामलो पर लोगों मे मतभेद होना बिलकुल स्वाभाविक है। इस दशा मे लोगो की बहुसख्या जिस पक्ष मे होगी, वही कार्य मे परिणत होगा। यदि राजनीतिक पार्टियाँ सगठित न हो, तो बहुसख्या के लोकमत का कैसे निर्माण होगा और कैसे यह जाना जा सकेगा कि लोकमत क्या है?

(२) राजनीतिक दलो के कारण ही जनता अपनी इच्छा के अनुसार मन्त्रि-मण्डल व सरकार मे परिवर्तन करा सकती है। जब किसी दल की नीति लोकप्रिय नही रहती, तो जनता उसे अपना वोट नही देती। दूसरी पार्टी के लोग बहुसख्या मे चुने जाते हैं, और मन्त्रिमण्डल मे परिवर्तन हो जाता है।

(३) जनता को राजनीति की शिक्षा देने और सार्वजनिक प्रश्नो के बारे मे लोकमत का निर्माण करने के लिए राजनीतिक दल बहुत महत्त्व का कार्य करते हैं।

(४) किसी ऐसी पद्धति की कल्पना कर सकना सम्भव नही है, जिसमे राजनीतिक दलो के बिना ही लोकतन्त्र शासन अपना कार्य कर सके। जब राज्य मे सब मनुष्य अपने स्वतन्त्र विचार रखते हो, तो उनमे मतभेद होगा ही। इस दशा मे यह

स्वाभाविक है कि जिन लोगो के विचार व नीति एक हो, वे अपने को एक दल के रूप मे सगठित कर लें, और अपने विचारो को क्रियान्वित करने के लिए अपनी शक्ति मे वृद्धि करे।

राजनीतिक दलों मे जो बुराइयाँ है, उन्हे दूर करने का यही उपाय है, कि जनता अधिक उन्नत व शिक्षित हो। राजनीतिक दलो की जिन बुराइयो का ऊपर उल्लेख किया गया है, वे प्राय लोकतन्त्र शासन की ही बुराइयाँ हैं। ज्यो-ज्यो मनुष्यो मे राजनीतिक शिक्षा बढ़ती जायगी, ये बुराइयाँ भी दूर होती जायँगी।

दो दल या बहुत-से दल—

इस समय कुछ राज्य ऐसे हैं, जिनमे मुख्य रूप से केवल दो दल हैं। कुछ देश ऐसे भी हैं, जिनमे राजनीतिक दलों की सख्या दो से बहुत अधिक है। इङ्गलैण्ड और सयुक्त राज्य अमेरिका ऐसे देश है, जिनमे दो प्रधान राजनीतिक दलों की सत्ता है। पहले इङ्गलैण्ड मे दो मुख्य पार्टियाँ थी, कन्जर्वेटिव और लिबरल। अब लिबरल दल का स्थान लेबर (मजदूर) पार्टी ने ले लिया है, यद्यपि लिबरल दल के भी कुछ सदस्य पार्लियामेण्ट मे चुने जाते हैं। सयुक्त राज्य अमेरिका की मुख्य पार्टियाँ रिपब्लिकन और डमोक्रेट हैं।

फ्रास एक ऐसा देश है, जिसमे बहुत-सी राजनीतिक पार्टियाँ रही हैं। इनमे से कोई भी पार्टी इस स्थिति मे नही होती, कि अकेले अपने बल पर मन्त्रिमण्डल बना सके। वहाँ जो भी मन्त्रिमण्डल बनते रहे हैं, वे सब प्राय अनेक दलो द्वारा मिलकर ही बनाये जाते रहे हैं।

राज्य मे दो दल होने चाहिएँ या बहुत से, इस प्रश्न पर बहुत मतभेद है। दो दलो के समर्थक अपने पक्ष मे ये युक्तियाँ देते हैं—

(१) दो दल होने से पार्लियामेण्ट मे जिस दल का बहुमत हो, वह अपना मन्त्रिमण्डल बना लेता है। इससे सरकार मे स्थिरता रहती है।

(२) दो दल होने से विरोधी दल (Opposition Party) भी बहुत उपयोगी कार्य कर सकती है, क्योंकि उसका मुख्य कार्य ही सरकार की नीति व कार्यों की आलोचना करना रहता है। विरोधी दल सदा इस यत्न मे रहता है, कि अपनी नीति व विचारो का प्रचार कर पार्लियामेण्ट मे बहुमत प्राप्त कर लें।

(३) दो दलो के होने पर मन्त्रिमण्डल को अपने बहुमत का भरोसा बना रहता है, और वह निश्चिन्त होकर अपने कार्यक्रम पर अमल कर सकता है।

पर फ्रास के लोग इन युक्तियो को महत्त्व नही देते। उनका कहना है कि—

(१) सार्वजनिक प्रश्नों के बारे मे लोगो के केवल दो ही दृष्टिकोण हों, यह बात स्वाभाविक नही है। बहुत से मामले ऐसे होते हैं, जिन पर चार पाँच या और

भी अधिक दृष्टिकोण हो सकते हैं। देश की आर्थिक उन्नति कैसे की जाए, इस प्रश्न पर कितने ही मत हो सकते हैं। इस दशा मे बहुत से दलो का होना न केवल स्वाभाविक है, अपितु उचित भी है।

(२) यदि अनेक दलों के होने के कारण मन्त्रि-मण्डल जल्दी जल्दी बदलते रहे, तो इससे हानि ही क्या है ? शासन का कार्य अमल म तो व कर्मचारी ही करते हैं, जो सरकार की स्थायी सेवा मे होते है। मन्त्रिमण्डल का काम तो नीति का निर्धारण करना है। जब कोई महत्वपूर्ण प्रश्न पार्लियामेण्ट के सम्मुख पेश हो, तो बहुत से दल होने के कारण जनता के प्रतिनिधियो को यह मौका मिल जाता है, कि वे मन्त्रिमन्डल का नये सिरे से सगठन कराएँ, और ऐसी नीति का अनुसरण किया जाए, जिससे प्रतिनिधियो की बहुसख्या सहमत हो।

भारत मे इस समय काग्रेस, प्रजा सोशलिस्ट, कम्युनिस्ट, जनसघ, हिन्दू महासभा, रामराज्य परिषद् अकाली दल आदि कितनी ही राजनीतिक पार्टियां है। पर काग्रेस का बहुमत इतना अधिक है, कि वह केन्द्रीय सरकार और राज्यो की सरकारो मे सर्वत्र अपना मन्त्रिमण्डल बना सकने म समथ है यद्यपि कुछ राज्यो मे उसे अन्य दलो के सहयोग पर निभर करना पड रहा है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ लोकतन्त्र राज्यों मे लोकत न किस प्रकार अभिव्यक्त होता है ? (यू० पी० १९४०)

२ लोकमत किसे कहते हैं ? आधुनिक काल मे कौन-सी बातें लोकमत के निर्माण मे सहायक होती हैं ? (यू० पी० १९४८)

३ लोकमत के निर्माण और अभिव्यक्ति के साधनो का वर्णन कीजिये। (राजपूताना १९५१)

४ लोकतन्त्र राज्य में लोकमत का क्या महत्त्व है ? लोकमत कैसे बनता और कैसे अभिव्यक्त होता है ? (राजपूताना १९५२)

५ लोकमत के लिए कौन सी परिस्थितियां आवश्यक हैं ?

६ पार्टी गवनमेण्ट का क्या अभिप्राय है ? इसमे क्या लाभ और क्या हानियां हैं ? (यू पी १९५२)

७ राजनीतिक दल किसे कहते हैं ? नागरिकों की शिक्षा मे और सरकार के निर्माण मे उसका कितना हाथ होता है ? (यू पी १९५४)

८ राज्य के सचालन मे और नागरिक को राजनीतिक शिक्षा देने मे राजनीतिक दल कहाँ तक सहायक होते हैं ? (यू पी १९५४)

९ आप राजनीतिक दल से क्या समझते हैं ? लोकतन्त्र राज्य के सचालन मे

वह क्या कार्य करता है ? (यू पी १९५५)

१० राजनीतिक दलों के लाभ व हानियों का विवेचन कीजिए ।

११ लोकतन्त्र शासन के लिए दो दलों का होना उपयोगी है या अधिक दलों का होना—अपने मत को उदाहरणों के साथ प्रतिपादित कीजिये ।

१२ राजनीतिक दलों का सगठन किन आधारों पर होता है ?

तेईसवाँ अध्याय

सरकार का शासन-विभाग

(Executive)

शासन-विभाग—

सरकार का जो विभाग या अंग व्यवस्थापन विभाग द्वारा बनाये गये कानूनों को और उसके द्वारा तय की गई नीति को कार्यान्वित करता है, उसे 'शासन-विभाग' (Executive) कहते हैं।

शासन-विभाग के स्वरूप को भली-भाँति समझने के लिए यह जरूरी है, कि हम उसके निम्नलिखित अंगों को निगाह में रखें—

(१) **नाममात्र का शासक**—अनेक राज्यों में सरकार का प्रधान कोई ऐसा मनुष्य होता है, जिसके नाम पर शासन सम्बन्धी सब कार्य किये जाते हैं। यह मनुष्य एक वंशक्रम से आया हुआ राजा भी हो सकता है, और चुना हुआ राष्ट्रपति भी। पर इसके हाथों में असली शक्ति नहीं होती। इङ्गलैण्ड का राजा इसी तरह का नाममात्र का शासक है। वहाँ शासन का असली कार्य मन्त्रिमण्डल के हाथों में होता है, यद्यपि सब काम राजा के नाम से ही किए जाते हैं। फ्रास के राष्ट्रपति भी पहले इसी प्रकार के होते थे।

(२) **राजनीतिक शासक**—शासन विभाग का यह अंग शासन-सम्बन्धी नीति का निर्धारण करता है, शासन-कार्य की देख-रेख करता है, पर स्वयं शासन का कार्य नहीं करता। इङ्गलैण्ड, भारत आदि देशों में जहाँ मन्त्रिमण्डल के अधीन शासन की पद्धति (कैबिनेट सिस्टम) है, वहाँ मन्त्रिमण्डल की यही स्थिति है। इन देशों में मन्त्रिमण्डल का कार्य शासन की देख-रेख करना और शासन की नीति का निर्धारण करना ही है।

(३) **वास्तविक शासक**—सभी देशों में शासन का असली काम उन सरकारी कर्मचारियों के हाथों में रहता है, जो स्थायी रूप से सरकारी नौकरी में होते हैं। इन्हें अपने कार्य के लिए निश्चित वेतन मिलता है। चौकीदार से लेकर विविध सरकारी विभागों के डाइरेक्टर व सचिव (*Secretary*) तक सब स्थिर रूप से सरकारी नौकरी में होते हैं, और शासन के कार्य में हाथ बटाते हैं।

नाममात्र शासक (Nominal Executive)—

इङ्गलैण्ड का राजा 'नाममात्र शासक' का सबसे उत्तम उदाहरण है। वहाँ जो कानून व राजकीय आज्ञाएँ जारी की जाती हैं, सब राजा के नाम से जारी होती हैं। यदि कोई आदमी कानून का उल्लघन करे, चोरी करे, डाका डाले या राजद्रोह करे, तो उस पर सरकार जो मुकदमा दायर करती है, उसमे मुद्दई राजा को ही माना जाता है।

भारत जैसे अनेक देशो मे वशक्रम से आये हुए किसी राजा की सत्ता नही है। इन देशो मे सरकार का प्रधान 'राष्ट्रपति' है, जिसकी नियुक्ति चुनाव द्वारा होती है। कानून व राजकीय आज्ञाएँ उसी के नाम से जारी की जाती हैं। विशेष दशा मे उसे आर्डिनान्स (अध्यादेश) जारी करने का भी हक है। पर असली शासन शक्ति राष्ट्रपति के हाथो मे नही है। इसीलिए ऐसे राष्ट्रपति को 'नाममात्र' शासक कह सकते हैं।

राजनीतिक शासक (Political Executive) का व्यवस्थापन विभाग से सम्बन्ध—

सब राज्यो मे राजनीतिक शासक एक जैसे नही होते। जिन राज्यों मे कैबिनट सिस्टम है, उनमे मन्त्रिमण्डल राजनीतिक शासक' होता है। राष्ट्रपति के अधीन शासन (प्रजिडेन्शल सिस्टम) मे राजनीतिक शासक राष्ट्रपति होता है, क्योकि मन्त्री पूरी तरह से उसके वशवर्ती होते हैं। इस शासन-पद्धति मे निर्वाचक लोग अपने वोटों द्वारा राष्टपति का चुनाव करते है, राष्ट्रपति का चुनाव एक निश्चित अवधि के लिए होता है, और इस अवधि से पूर्व उसे अपने पद से पृथक नही किया जा सकता। राष्ट्रपति व्यवस्थापन विभाग (काग्रेस व पालियामेण्ट) के प्रति उत्तरदायी नही होता। शासन का सब कार्य उसके सुपुर्द रहता है, और अपनी सहायता के लिए मन्त्रियो की नियुक्ति वह स्वय करता है। ये मन्त्री व्यवस्थापन विभाग के पति उत्तरदायी न होकर केवल राष्ट्रपति के प्रति ही उत्तरदायी होते है। पालियामेण्ट व काग्रेस इन मन्त्रियो के कार्य व नीति को चाहे किसी भी दृष्टि से देखे, वह उन्हे उनके पदो से अलग नही कर सकती।

इसके विपरीत मन्त्रिमण्डल के अधीन शासन (कैबिनेट सिस्टम) मे राजनीतिक शासक का व्यवस्थापन विभाग के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। पालियामेण्ट मे जिस पार्टी का या जिन पार्टियो के सम्मिलन (Coalition) का बहुमत हो, उनके नेता को प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्त किया जाता है। यह प्रधानमन्त्री अपनी पार्टी या अपने पक्ष की पार्टियो मे से मन्त्रिमण्डल के सदस्यो की नियुक्ति करता है। मन्त्रिमण्डल सयुक्त उत्तरदायिता (Joint Responsibility) के सिद्धान्त मे काम करता है। यदि पालियामेण्ट किसी एक मन्त्री के कार्य के विरुद्ध भी प्रस्ताव स्वीकृत

कर दे, या किसी एक के प्रति भी अविश्वास का प्रस्ताव पास कर दे, तो सारा मन्त्रिमण्डल त्यागपत्र दे देता है। मन्त्रिमण्डल तभी तक अपने पद पर रह सकता है, जब तक कि पार्लियामेन्ट के बहुमत का विश्वास उसे प्राप्त रहे। वह पार्लियामेन्ट के प्रति ही उत्तरदायी होता है।

इस प्रकार आजकल के राज्यो मे दो प्रकार के राजनीतिक शासक (Political Executive) हैं। एक प्रकार के शासक का व्यवस्थापन विभाग के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, और दूसरे प्रकार के शासक का उसके साथ सम्बन्ध बहुत कम है। पर राष्ट्रपति के अधीन शासनो के विषय मे भी यह नहीं कहा जा सकता, कि उनका व्यवस्थापन विभाग से बिलकुल सम्बन्ध नहीं है। सयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति कांग्रेस (व्यवस्थापन विभाग) द्वारा स्वीकृत किये गये किसी कानून को अपनी स्वीकृति देने से इन्कार कर सकता है, और वह जिस कानून या प्रस्ताव के पक्ष मे हो, उसे पास कराने के लिए कांग्रेस से सिफारिश कर सकता है। पर यह स्पष्ट है, कि सयुक्तराज्य अमेरिका जैसे देशों मे—जहां प्रेजिडेन्शल सिस्टम विद्यमान है, शासन-विभाग व्यवस्थापन विभाग से प्राय पृथक् व स्वतन्त्र है।

शासन-विभाग के कार्य—

(१) राजनय सम्बन्धी कार्य (Diplomatic Functions)—अन्य राज्यो के साथ जो वैदेशिक सम्बन्ध होते हैं, विविध राज्यो मे जो परस्पर व्यवहार होता है, उसे राजनय (Diplomacy) कहते हैं। प्रत्येक राज्य अन्य राज्यो के साथ सन्धियाँ करता है, व्यापारिक समझौते करता है, राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करता है, अपने राजदूत अन्य राज्यो मे भेजता है, और अन्य राज्यो के राजदूत अपने राज्य में रखता है। ये सब कार्य 'राजनय' कहाते हैं। इन सब कार्यों को वही शासक (Executive या कार्यपालिका) करता है, जिसे हमने राजनीतिक शासक कहा है।

(२) प्रशासन सम्बन्धी कार्य (Administrative Functions)—राज्य के कानूनो को क्रियान्वित कराने की उचित व्यवस्था करना राजनीतिक शासक का ही कार्य है। राज्य का शासन कार्य अनेक अधिकरणो (महकमो) मे बँटा होता है। मन्त्री लोग अपने-अपने महकमे के प्रधान अधिकारी होते हैं, और अपने महकमो के प्रधान कर्मचारियो के कार्य पर देख-रेख रखते हैं।

(३) व्यवस्थापन सम्बन्धी कार्य (Legislative Functions)—केबिनेट सिस्टम वाले राज्यो मे मन्त्रिमण्डल व्यवस्थापन सम्बन्धी अनेक कार्य करता है। पार्लियामेन्ट के अधिवेशन बुलाना, नये कानूनो के मसविदे तैयार कराना, उन्हे पार्लियामेन्ट मे पेश करना व उन्हे स्वीकृत कराना सब मन्त्रिमण्डल का ही काम होता है।

शासन विभाग अध्यादेश (Ordinance) जारी करके भी व्यवस्थापन का कार्य

करता है। प्राय सभी राज्यों में शासन-विभाग को यह अधिकार दिया जाता है, कि सकट काल मे या किसी विशेष परिस्थिति मे अध्यादेश जारी कर सके। कैबिनेट सिस्टम वाले राज्यों मे यह अधिकार यद्यपि राष्ट्रपति को दिया जाता है, पर वह मन्त्रिमण्डल के परामर्श से ही अपने इस अधिकार को काम मे लाता है।

(४) न्याय सम्बन्धी कार्य (Judicial Functions)—प्राय सभी राज्यों मे शासन विभाग को अनेक न्याय सम्बन्धी अधिकार भी प्राप्त होते हैं। प्राय राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया जाता है, कि वह न्यायालय द्वारा सजा पाये हुए किसी व्यक्ति को क्षमा प्रदान कर सके, या किन्हीं खास अवसरों पर सर्वक्षमा (अमनेस्टी) भी दे सके। सर्वक्षमा के समय बहुत-से कैदियो को जेल से रिहा कर दिया जाता है। उच्च न्यायालयो के न्यायाधीशों की नियुक्ति भी प्राय. राष्ट्रपति द्वारा ही की जाती है। कैबिनेट सिस्टम वाले राज्यों मे राष्ट्रपति अपने इन अधिकारो का प्रयोग भी मन्त्रिमण्डल के परामर्श के अनुसार ही करता है।

(५) सेना सम्बन्धी कार्य (Military Functions) —सेना का सगठन, अस्त्र-शस्त्र का सचय, सेनापतियो की नियुक्ति और सैन्यशक्ति का प्रयोग—ये सब कार्य शासन-विभाग द्वारा ही किये जाते हैं।

(६) अन्य विविध कार्य—सरकार का शासन विभाग अन्य भी अनेक कार्य करता है। वह लोगो को उपाधि देकर सम्मानित करता है। व्यक्तियो की विशेष सेवाओ के लिए उन्हें पेन्शन देना, किसी को धन द्वारा सहायता करना आदि कितने ही कार्य शासन विभाग द्वारा किये जाते हैं।

शासन-विभाग के कार्य की अवधि—

राज्य मे राजनीतिक शासकों की अवधि दो प्रकार से निश्चित की जाती है—

(१) कैबिनेट सिस्टम मे प्रधानमन्त्री और मन्त्रिमण्डल तब तक अपने पद पर रहते हैं, जब तक कि पार्लियामेन्ट के बहुमत का विश्वास उन्हे प्राप्त रहे। अत उनकी कोई अवधि नहीं होती।

(२) प्रेजिडेन्शल सिस्टम मे राष्ट्रपति व उसका मन्त्रिमण्डल व्यवस्थापन विभाग से सर्वथा स्वतन्त्र होता है। राष्ट्रपति का चुनाव एक निश्चित अवधि के लिए किया जाता है, और सामान्यतया उस अवधि से पूर्व उसे अपने पद से पृथक् नहीं किया जा सकता।

प्रशासकवर्ग या सिविल सर्विस—

किसी भी राज्य मे शासन का असली काम न नाममात्र के शासक (राजा या राष्ट्रपति) के हाथो मे होता है, और न राजनीतिक शासक (मन्त्रिमण्डल) के।

राज्य मे शासन का असली काम वे सरकारी राजकर्मचारी करते हैं, जो स्थिर रूप से राज्य की सेवा मे होते हैं।

(१) प्रशासक वर्ग के कर्मचारियो की नियुक्ति विशेष योग्यता के आधार पर की जाती है। इसके लिए उन्हे किसी विशेष परीक्षा को पास करना होता है। जो लोग परीक्षा मे उत्तीर्ण हो, उनमे भी जो सबसे अधिक योग्य हो, उन्ही को सरकारी नौकरी मे लिया जाता है। इसके लिए प्राय सभी राज्यो मे एक लोक सेवा आयोग (Public Service Commission) बनाया जाता है, जो सरकारी नौकरी के उम्मीदवारो की परीक्षा लेता है।

(२) प्रशासक वर्ग के कर्मचारी सरकारी नौकरी पेशे के रूप मे करते हैं। इस काम के बदले मे उन्हे योग्यता के अनुरूप वेतन दिया जाता है।

(३) प्रशासक वर्ग के कर्मचारियो का राजनीति से कोई सम्बन्ध नही होता। सरकार का सचालन चाहे किसी भी राजनीतिक दल के हाथो मे हो, ये कर्मचारी सबके आदेशो को समान रूप से मानते हैं।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ राज्य के शासन विभाग के कौन से मुख्य अग होते हैं ? प्रत्येक अग के कार्यों का निदर्शन कीजिये।

२ आधुनिक राज्य में शासन विभाग(Executive)के मुख्य कार्य कौन से हैं ? निर्वाचक मण्डल के प्रति उसके उत्तरदायित्व का निर्वाह किस प्रकार किया जाता है ? (यू पी १९५२)

३ राजनीतिक शासक, नाममात्र शासक और वास्तविक शासक मे क्या भेद है ? उनके कार्यों पर भी प्रकाश डालिये।

४ प्रशासक वर्ग पर टिप्पणी लिखिये।

चौबीसवाँ अध्याय

सरकार का न्याय-विभाग

(Judiciary)

न्याय-विभाग के कार्य—

सरकार का तीसरा विभाग या अंग न्याय-विभाग है। इस विभाग के मुख्य कार्य निम्नलिखित होते हैं—

(१) व्यक्तियों के जो आपस के झगड़े हो, न्यायालय कानून के अनुसार उनका निर्णय करते हैं। रुपये के लेन-देन, विरासत, विवाह सम्बन्ध आदि कितने ही मामलों को लेकर व्यक्तियों में झगड़े पैदा हो जाते हैं। इनका निर्णय न्यायालयों द्वारा ही किया जाता है।

(२) राज्य और व्यक्तियों के झगड़ों का निर्णय भी न्यायालयों द्वारा होता है। फौजदारी मुकदमे न्यायालयों के सम्मुख ही पेश होते हैं। यदि कोई आदमी सरकार के किसी कानून का उल्लंघन करे, तो राज्य उस पर मुकदमा चलाता है, और न्यायालय उसका फैसला करता है।

(३) कानून का सही सही अभिप्राय क्या है, इस प्रश्न पर भी अनेक बार मतभेद हो जाता है। इस दशा में न्यायालय ही कानून के अभिप्राय को स्पष्ट करते हैं।

(४) व्यक्तियों की स्वतन्त्रता व अधिकारों की रक्षा करना भी न्यायालयों का काम है। यदि सरकार या कोई कर्मचारी किसी व्यक्ति को गिरफ्तार कर ले और बिना मुकदमा चलाये उसे हिरासत या जेल में रखे, तो उसकी ओर से न्यायालयों में प्रार्थनापत्र दिया जा सकता है, और इस प्रकार उस व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा की जा सकती है।

(५) जिन राज्यों के संविधान लेखबद्ध हो, उनमें सर्वैधानिक (Constitutional) कानून और साधारण कानूनों में भेद होता है। उनमें राज्य की पालियामेन्ट कोई ऐसा कानून पास नहीं कर सकती, जो संविधान व उसमें प्रतिपादित नागरिकों के मूलभूत अधिकारों के विपरीत हो। यदि पालियामेन्ट कोई ऐसा कानून पास कर दे, जो संविधान के विरुद्ध हो, तो सर्वोच्च न्यायालय में उसके खिलाफ अपील की जा सकती है।

(६) सवर्ग राज्यो (Federations) मे न्याय विभाग ही यह भी निर्णय करता है, कि कौन-से राजकीय विषय सवर्ग सरकार (Federal Government) के अधीन हैं, और कौन-से विषय सवर्ग के अन्तर्गत विविध राज्यो की सरकारो के। इस प्रश्न पर प्राय विवाद हो जाता है, और इन विवादों का निर्णय न्यायालयो द्वारा ही किया जाता है।

(७) अनेक राज्यो मे शासन-विभाग द्वारा कानूनी प्रश्नो पर न्याय-विभाग से सलाह लेने की भी प्रथा है। इङ्गलैण्ड मे बहुधा सरकार की ओर से प्रिवी कौंसिल की ज्युडिशियल कमेटी मे कानून की समस्याओ के विषय मे सलाह ली जाती है। यही प्रथा कनाडा, पनामा, स्वीडन, भारत आदि अन्य भी अनेक राज्यो मे है।

(८) ऐसे मृत व्यक्तियो की जायदाद का इन्तजाम करना भी न्यायालयो का कार्य होता है जिनके उत्तराधिकारी (वारिस) अभी बालिग न हुए हो।

(९) यदि कोई आदमी दीवालिया हो जाए, तो उसकी जायदाद के लिए रिसीवर नियुक्त करने का कार्य भी न्यायालयो द्वारा किया जाता है।

(१०) यदि किसी व्यक्ति के किसी कार्य से किसी अन्य व्यक्ति को नुकसान पहुँचने की सम्भावना हो तो उसे उस कार्य से रोकना भी न्यायालयों का काम है।

(११) अनेक मामले ऐसे भी होते हैं, जिनके सम्बन्ध मे कानून स्पष्ट नही होता। पर न्यायालय इनका भी निर्णय करते है। ऐसा करते हुए वे औचित्य (Equity) के सिद्धान्तो से काम लेते हैं। न्यायालय किसी मुकदमे का निर्णय करते हुए कानून की जो व्याख्या करते हैं, या जो नजीर तैयार करते हैं, उनकी स्थिति कानून के सदृश ही होती है।

न्यायाधीशो की नियुक्ति—

न्यायाधीशो का काम बहुत जिम्मेदारी का होता है। इसलिए यह जरूरी है, कि इस पद पर जो व्यक्ति नियुक्त किये जाएँ, वे न केवल कानून को भली भाँति समझते हो, अपितु साथ ही ईमानदार भी हो। रिश्वत आदि के प्रलोभन मे वे न आ जाएँ।

विविध देशो मे न्यायाधीशो की नियुक्ति के लिए भिन्न-भिन्न प्रथाएँ है—

(१) शासन-विभाग द्वारा नियुक्ति—बहुसख्यक देशो मे बडे न्यायालयो के न्यायाधीशों की नियुक्ति शासन विभाग द्वारा की जाती है। सयुक्त राज्य अमेरिका मे सवर्ग न्यायालय (Federal Court) के न्यायाधीश राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त होते हैं, यद्यपि इन नियुक्तियों के लिए सीनेट (व्यवस्थापन विभाग का द्वितीय सदन) की स्वीकृति लेनी होती है। अमेरिकन सवर्ग (Federation) के अन्तर्गत विविध राज्यो मे न्यायाधीशो की नियुक्ति कई प्रकार से की जाती है। पर उनमे भी कई राज्य ऐसे

हैं, जहाँ राज्य के राज्यपाल (गवर्नर) न्यायाधीशो की नियुक्ति करते हैं। इग्लैंड, भारत आदि जिन राज्यो मे कैबिनेट सिस्टम विद्यमान हैं, उनमे न्यायाधीशो की नियुक्ति यद्यपि राजा व राष्ट्रपति द्वारा की जाती है, पर असल मे यह कार्य मन्त्रिमण्डल ही करता है। मन्त्रिमण्डल जिन व्यक्तियों को न्यायाधीश पद के लिए उपयुक्त समझे, राजा या राष्ट्रपति उन्ही को नियुक्त कर देता है।

छोटे न्यायालयो के न्यायाधीश प्राय राज्य के स्थिर कर्मचारी होते हैं। जिस प्रकार सिविल सर्विस के अन्य कर्मचारियो की नियुक्ति विशेष योग्यता के आधार पर एक परीक्षा द्वारा की जाती है, वैसे ही न्यायविभाग के कर्मचारियो (न्यायाधीश आदि) की भी नियुक्ति होती है। न्याय-विभाग के ये कर्मचारी शुरु मे मुन्सिफ के छोटे पद पर नियुक्त होत हैं, और फिर अपनी योग्यता के कारण निरन्तर उन्नति करते हुए 'डिस्ट्रिक्ट व सेशन्स जज' आदि के ऊँचे पद प्राप्त कर लेते हैं।

(२) व्यवस्थापन विभाग द्वारा निर्वाचन—कुछ राज्यो मे यह प्रथा है, कि न्यायाधीशो की नियुक्ति पार्लियामेट या विधान सभा द्वारा चुनाव से की जाती है। शुरू मे सयुक्त राज्य अमेरिका मे भी यह प्रथा प्रचलित थी। पर धीरे-धीरे वहाँ इसका त्याग कर दिया गया। अब अमेरिकन सवर्ग के अन्तर्गत केवल चार राज्य ऐसे रह गये हैं, जिनकी विधानसभाएँ न्यायाधीशो का चुनाव करती हैं। पर स्विट्जरलैण्ड मे अब तक भी यह प्रथा विद्यमान है, और वहाँ के न्यायाधीश विधानसभाओं द्वारा ही चुने जाते हैं।

(३) जनता द्वारा निर्वाचन—सयुक्त राज्य अमेरिका के सवर्ग मे जो बहुत से राज्य शामिल हैं, उनमे से कुछ मे मतदाता लोग अपने वोटों द्वारा न्यायाधीशो का भी चुनाव करते हैं।

न्यायाधीशो की नियुक्ति के लिए कौन-सी पद्धति उत्तम है?

यदि सर्वसाधारण मतदाता वोटो द्वारा न्यायाधीशो का भी चुनाव करने लगें, तो योग्य व्यक्तियों के लिए इस पद को पा सकना सुगम नही होगा। निर्वाचन एक प्रकार का युद्ध होता है, उसमे लडकर सफल होने के लिए एक खास प्रकार की योग्यता आवश्यक होती है। यह योग्यता न्यायाधीश के पद के लिए उपयुक्त मनुष्यो म पाई जाए, इसकी सम्भावना बहुत कम है। चुनाव मे वे लोग ही सफल हो सकत हैं, जो दलबन्दी के अखाडे के मॅजे हुए पहलवान हो। इसका परिणाम यह होता है कि राजनीतिक दलबन्दी मे कुशल लोग न्यायाधीश पद के लिए उम्मीदवार बन जाते हैं, और चुनाव मे सफल भी हो जात हैं। चुनाव द्वारा नियुक्त हुए न्यायाधीश निष्पक्ष होकर भी अपना काम नही कर सकते, क्योकि उन्हे उन लोगो का सदा खयाल रखना पडता है, जिन्होने चुनाव के समय उनकी मदद की थी। यही कारण है, कि

आजकल के लोकतन्त्र राज्यो मे इस पद्धति का अनुसरण बहुत कम किया गया है।

विधान सभाओ द्वारा न्यायाधीशो के चुने जाने की पद्धति मे मुख्य दोष यह है, कि विधान सभा मे जिस दल का बहुमत हो, वह अपने दल के लोगो को ही न्यायाधीश के पद के लिए भी चुनने का यत्न करता है। इस कारण योग्य व्यक्तियो के बजाय राजनीतिक दल के प्रमुख कार्यकर्त्ता ही इन महत्त्वपूर्ण पदो को प्राप्त कर लेते हैं।

शासन-विभाग द्वारा न्यायाधीशो की नियुक्ति को भी पूरी तरह से दोषरहित नही माना जा सकता। इसका कारण यह है, कि मन्त्रिमण्डल व राष्ट्रपति भी अपने राजनीतिक दल के प्रभाव से मुक्त नही होते। पर फिर भी अन्य पद्धतियो के मुकाबिले मे यह पद्धति उत्तम है। अनेक राज्यो मे यह प्रथा है, कि जब न्यायाधीश का कोई पद खाली होता है, तो उस न्यायालय के अन्य न्यायाधीश उन व्यक्तियो की एक सूची तैयार करते हैं, जिन्हे वे उस पद के लिए योग्य समझते हैं। यह सूची राष्ट्रपति या मन्त्रिमण्डल के पास भेज दी जाती है, और इसी सूची मे से किसी एक को मनोनीत कर दिया जाता है। न्यायाधीशो की नियुक्ति की यह प्रथा अन्य सब की अपेक्षा अधिक उत्तम है।

न्यायाधीशों का कार्यकाल—

उच्च न्यायालयो के न्यायाधीशो के कार्य-काल के विषय मे मुख्यतया दो प्रकार की व्यवस्थाएँ की जाती हैं—

(१) उन्हे एक निश्चित अवधि के लिए अपने पद पर नियुक्त किया जाता है, या

(२) तब तक न्यायाधीश अपने पद पर रहते हैं, जब तक कि वे ठीक तरह से अपना कार्य करते रहे।

संयुक्त राज्य अमेरिका और स्विट्ज़रलैंड मे प्राय न्यायाधीशो की नियुक्ति एक निश्चित अवधि के लिए ही की जाती है। पर अन्य बहुत-से देशो मे न्यायाधीशो के विषय मे यह सिद्धान्त स्वीकार किया जाता है, कि वे जब तक अपना कार्य ठीक प्रकार से करते रह सकें, अपने पद पर रहे। देर तक न्याय-कार्य करते रहने से जहाँ न्यायाधीशो को अपने काम का भली-भाँति अनुभव हो जाता है, वहाँ साथ ही वे अपना काम निष्पक्ष रीति से भी कर सकते हैं। उन्हे यह भय नही रहता, कि अवधि के समाप्त हो जाने पर उन्हे फिर से नियुक्त होने के लिए किसी की कृपा प्राप्त करनी होगी।

न्याय-विभाग का संगठन—

न्याय विभाग के सगठन के विषय मे निम्नलिखित बातें जानने योग्य है—

(१) न्यायालय अनेक प्रकार के होते हैं। जहाँ सारे राज्य का एक सर्वोच्च (Supreme) न्यायालय होता है, वहाँ साथ ही उसके अधीन बहुत-से बड़े व छोटे न्यायालय होते हैं। प्राय मुकदमे पहले छोटे न्यायालय मे पेश होते हैं। वहाँ जो फैसला हो, उसके खिलाफ बड़े न्यायालय मे अपील की जा सकती है।

(२) न्यायालय प्राय तीन प्रकार के होते हैं—दीवानी (Civil), फौजदारी (Criminal) और माल (Revenue) सम्बन्धी। दीवानी न्यायालय व्यक्तियो के आपस के झगड़ो व मुकदमो का फैसला करते हैं। फौजदारी न्यायालयो मे उन अपराधो के मुकदमे पेश होते हैं, जो मनुष्य राज्य के विरुद्ध करते हैं। मालगुजारी आदि के मुकदमो का निर्णय माल सम्बन्धी न्यायालयो द्वारा होता है।

(३) सवर्गात्मक (Federal) राज्यो मे सर्वत्र दो प्रकार के न्यायालय होते हैं, एक वे जो सवर्ग के कानूनो का प्रयोग करते हैं, और दूसरे वे जो सवर्ग के अन्तर्गत राज्यो के कानूनो का प्रयोग करते हैं। अमेरिका मे सर्वत्र इन दोनो प्रकार के न्यायालयो की सत्ता है। पर भारत मे जहाँ केन्द्रीय और विविध राज्यो की सरकारें अलग-अलग हैं, एक ही न्यायालय द्वारा केन्द्रीय कानूनो और राज्यो के कानूनो का प्रयोग किया जाता है।

भारत मे न्याय-विभाग का सगठन—

यहाँ हमारे लिये यह सम्भव नही है, कि विविध राज्यो मे न्याय-विभाग के सगठन का जो रूप है, उस पर प्रकाश डाल सकें। पर भारत के न्याय-विभाग के सगठन का उल्लेख करना पाठको के लिए उपयोगी होगा। भारत के विविध न्यायालयो को इस प्रकार प्रगट किया जा सकता है—

दीवानी न्यायालय	फौजदारी न्यायालय	माल के न्यायालय
सुप्रीम कोर्ट	सुप्रीम कोर्ट	हाईकोर्ट
हाई कोर्ट	हाई कोर्ट	बोर्ड आफ रेवेन्यू
डिस्ट्रिक्ट जज का कोर्ट	सेशन्स कोर्ट	कमिश्नर का कोर्ट
सिविल जज का कोर्ट	मजिस्ट्रेट के कोर्ट	कलेक्टर का कोर्ट
मुन्सिफ का कोर्ट	(प्रथम, द्वितीय व तृतीय श्रेणी के)	डिप्टी कलेक्टर का कोर्ट
		तहसील का कोर्ट
खफीफा (Small Causes' Court)	आनरेरी मजिस्ट्रेट के कोर्ट	(तहसीलदार व नायब तहसीलदार)

मे यह विचार नही पैदा हो सकता, कि शासन उसका अपना है। पर यदि प्रत्येक गाँव की अपनी पचायत हो, उसके पचो का चुनाव ग्रामवासियो द्वारा किया जाए, और यह पचायत गाँव के साथ सम्बन्ध रखनेवाले सब मामलो का प्रबन्ध करे, तो लोग यह अनुभव कर सकते है, कि हमारे मामले हमारे ही हाथो मे है।' लार्ड ब्राइस ने ठीक लिखा है, कि जो आदमी गाँव के मामलो मे क्रियाशील होकर सार्वजनिक भावना की शिक्षा प्राप्त कर लेगा, वह इस बात का पहला पाठ पढ लेगा, कि विशाल राज्य के नागरिक के रूप मे मेरे क्या कर्तव्य है।

(३) स्थानीय स्वशासन के कारण ग्राम लोगो मे परस्पर सहयोग की भावना पैदा होती है, और वे सार्वजनिक हित के लिए परस्पर मिलकर काम करना सीखते हैं।

स्थानीय स्वशासन की सस्थाएँ—

भारत मे जो विविध स्थानीय स्वशासन सस्थाएँ है, वे निम्नलिखित हैं—

(१) ग्राम पचायत—सरकार की यह नीति है, कि भारत के प्रत्येक ग्राम मे एक-एक पचायत हो। उत्तर प्रदेश व अन्य अनेक राज्यो मे इन ग्राम पचायतो का सगठन किया जा चुका है, और इन्हे बहुत-से अधिकार दे दिये गए हैं।

(२) नगरो की कमेटियाँ—ये नगरो के आकार व महत्त्व के अनुसार अनेक प्रकार की होती हैं। कसबो मे टाउन एरिया कमेटियाँ बनाई गई हैं, और नगरो मे म्युनिसिपैलिटियाँ व सिटी बोर्ड। बहुत बडे नगरो मे कार्पोरेशन हैं, जिन्हे साधारण म्युनिसिपैलिटियो के मुकाबिले में अधिक अधिकार प्राप्त है। जिन नगरो मे फौजी छावनियाँ है, उनमे कैन्टूनमेण्ट बोर्ड कायम किये गए हैं।

(३) इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट—बडे नगरो मे बहुधा इम्प्रूमेण्ट ट्रस्ट भी बना दिये जाते हैं, जो कि निश्चित योजना के अनुसार नगर के विकास का प्रयत्न करते है।

(४) जिला बोर्ड—भारत के विभिन्न जिलो मे जिला बोर्ड (District Board) भी कायम किये गए हैं, जो जिले के स्वास्थ्य, सडको के निर्माण व मरम्मत, शिक्षा और मेलो का प्रबन्ध आदि कार्य करते हैं।

ये सब सस्थाएँ ऐसी हैं, जिनके कार्यों का सम्बन्ध स्थानीय मामलो से ही होता है। इनके द्वारा जनता को अपना शासन स्वय कर सकने का अवसर मिलता है।

स्थानीय स्वशासन संस्थाओ के मुख्य कार्य—

(१) स्वास्थ्य रक्षा—अपने क्षेत्र मे स्वास्थ्य की रक्षा करना इन सस्थाओ का अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य होता है। स्वास्थ्य-रक्षा के लिए दो बातें आवश्यक है, ऐसे

इन्तजाम करना जिनसे रोग पैदा ही न हो, और यदि रोग हो जाए तो उनका इलाज करना। बीमारी को रोकने के लिये ये संस्थाएँ ये इन्तजाम करती हैं—सड़को और नालियो की सफाई, पीने के लिए स्वच्छ जल का प्रबन्ध, सड़ी-गली चीजें न बिकने पाएँ इस बात की व्यवस्था, हैजा, चेचक, प्लेग आदि के टीके लगवाना और भोजन की वस्तुओ में मिलावट को रोकना। रोगियो के इलाज के लिए इन संस्थाओं की ओर से अस्पताल खोले जाते हैं। ये संस्थाएँ यह इन्तजाम भी करती है, कि पार्क व बच्चो के खेलने के लिए खुले स्थान रखे जाएँ, ताकि लोगो को शुद्ध हवा मिल सके।

(२) प्रारम्भिक शिक्षा—छोटे बच्चो की शिक्षा प्राय स्थानीय स्वशासन-संस्थाओ के ही अधीन रहती हैं। उनकी ओर से प्राइमरी स्कूल खोले जाते है। जिन स्थानो पर बच्चो के लिए बाधित (Compulsory) शिक्षा का कानून जारी है, वहाँ ये संस्थाएँ ही इस बात का भी प्रबन्ध करती है, कि स्कूल जाने योग्य आयु के सब बच्चे स्कूल अवश्य जाएँ। जनता को शिक्षा की सुविधा प्राप्त हो, इस प्रयोजन से इन संस्थाओ की ओर से पुस्तकालय व वाचनालय भी खोले जाते है।

(३) सड़कों का निर्माण—अपने क्षेत्र मे सड़को की मरम्मत कराना व नई सड़को को तैयार कराना भी स्थानीय स्वशासन संस्थाओ का कार्य है। अनेक बड़े नगरो की म्युनिसिपैलिटियाँ अपने क्षेत्र मे मोटर बस, ट्रामवे, ट्राली आदि भी चलाती हैं ताकि लोगो को आने जाने मे सुविधा रहे।

(४) रोशनी और पानी का प्रबन्ध—सड़को पर रोशनी का इन्तजाम करना और स्वच्छ जल की व्यवस्था करना भी स्थानीय स्वशासन संस्थाओ का कार्य है। अनेक नगरो मे बिजली का उत्पादन भी म्युनिसिपैलिटियो के हाथो मे है। स्वच्छ जल के लिए नगरो की म्युनिसिपैलिटियाँ वाटर वर्क्स (Water Works) की व्यवस्था करती हैं, और नलको द्वारा घरो म पानी पहुँचाती हैं। आम लोगो की सुविधा के लिए सड़को व सार्वजनिक स्थानो पर भी पानी के नल लगाये जाते हैं। कस्बो व ग्रामो म इन संस्थाओं द्वारा कुएँ खुदवाने, हाथ के नल लगवाने और तालाबो की सफाई का काम भी किया जाता है।

(५) आकस्मिक विपत्तियों का निवारण—शहरो व ग्रामो मे प्राय आग लगती रहती है। यह एक आकस्मिक विपत्ति है। आग बुझाने के लिए इंजन (Fire Brigade) म्युनिसिपैलिटियो द्वारा नगरो मे रखे जाते हैं। यदि कभी नदी म बाढ़ आ जाए और नगर को उससे खतरा हो, तो इसके प्रबन्ध मे भी म्युनिसिपैलिटियाँ हाथ बँटाती हैं।

(६) मनोरंजन व खेलकूद का प्रबन्ध—बच्चो के खेलकूद के लिए म्युनिसिपैलिटियाँ ऐसे पार्क बनवाती हैं, जहाँ झूले लगे हो व खेल के अन्य उपकरण विद्यमान

हो। बच्चों का इनसे न केवल मनोरंजन होता है, अपितु उनका स्वास्थ्य भी बनता है। साथ ही, जनता के मनोरंजन के लिए स्थानीय स्वशासन संस्थाएँ कभी-कभी दंगल आदि का भी प्रबन्ध करती हैं।

(७) **मेलों का इन्तजाम**—जिला बोर्डों और म्युनिसिपैलिटियों के क्षेत्र में अनेक तरह के मेले भी होते हैं। इनमें से जो मेले स्थानीय महत्व के हों, उनका इन्तजाम स्थानीय स्वशासन संस्थाओं द्वारा ही किया जाता है। भारत में कुम्भ का मेला, सूर्यग्रहण का मेला आदि अखिल भारतीय महत्व के हैं। इनका प्रबन्ध प्रान्तीय सरकारों के हाथ में रहता है, पर मेरठ में नौचन्दी का मेला, सहारनपुर जिले में शाकम्भरी देवी का मेला आदि इस ढंग के हैं, जिनका महत्व स्थानीय है। इनका प्रबन्ध स्थानीय स्वशासन संस्थाएँ ही करती हैं।

(८) **म्युनिसिपल व्यापार**—अनेक म्युनिसिपैलिटियाँ अपनी आमदनी बढ़ाने और जनता की सुविधा के लिये अनेक प्रकार के व्यापार भी करती हैं। बिजली और पानी का बेचना, ट्राम व मोटर बस चलाना, पौधे व बीज बेचने के लिये नरसरी खोलना आदि इसी तरह के कई व्यापार हैं, जो म्युनिसिपैलिटियों द्वारा किये जाते हैं।

स्थानीय स्वशासन संस्थाओं की आमदनी—

म्युनिसिपैलिटी आदि स्थानीय स्वशासन संस्थाओं की आमदनी के मुख्य स्रोत निम्नलिखित हैं—

(१) **चुङ्गी**—जो माल म्युनिसिपैलिटी के क्षेत्र में बाहर से आता है, उस पर चुंगी लगाई जाती है।

(२) **हाउस टैक्स**—मकान-मालिकों से उनके सालाना किराये पर हाउस टैक्स लिया जाता है।

(३) **वाटर टैक्स**—जिन नगरों में म्युनिसिपैलिटी की ओर से पानी का प्रबन्ध होता है, वे मकान मालिकों से वाटर टैक्स भी वसूल करती हैं।

(४) **सफाई का टैक्स**—(कन्जर्वेन्सी टैक्स)—यह मकानों में निवास करने वाले (चाहे वे मकान मालिक हों या किरायेदार) लोगों से लिया जाता है।

(५) **हैसियत टैक्स**—जिन स्थानों पर हाउस टैक्स नहीं है, वहाँ प्रायः हैसियत टैक्स लगाया जाता है, जो लोगों की हैसियत के अनुसार उनसे वसूल किया जाता है।

(६) **म्युनिसिपल व्यापार से आमदनी**—बिजली, पानी, ट्राम, मोटर, बस आदि का जो कारोबार म्युनिसिपैलिटियाँ करती हैं, उनसे भी उन्हें आमदनी होती है।

(७) **लाइसेन्स से आमदनी**—तांगा, साइकिल, रिक्शा, पशु आदि रखने के

लिये म्युनिसिपैलिटी से लाइसेन्स लेना पडता है, इससे भी उन्हे आमदनी होती है।

(८) स्कूलों की फीस

(९) म्युनिसिपल सम्पत्ति—दूकान, मकान आदि से वसूल होनेवाला किराया।

(१०) प्रातीय सरकार से प्राप्त होनेवाला धन (Grant)—प्राय स्थानीय स्वशासन संस्थाएँ टैक्स आदि से अपना खर्च पूरा नही कर सकती। अत प्रान्तीय सरकारें उन्हे अपनी आमदनी मे से आर्थिक सहायता प्रदान करती है।

स्थानीय स्वशासन की संस्थाओ की सफलता के लिये आवश्यक शर्तें—

लोकतन्त्र शासनो की सफलता के लिए जो शर्तें आवश्यक है, वे ही स्थानीय स्वशासन की सस्थाओ के लिए भी हैं, क्योकि ये सस्थाएँ लोकतन्त्र शासन का ही एक अग होती हैं—

(१) जागृत लोकमत—ग्राम पचायतें व म्युनिसिपैलिटियाँ तभी अपने कार्य मे सफल हो सकती हैं, जब कि जनता अपने कर्तव्यों और अधिकारो को भली भाँति समझती हो, लोकमत भले पकार जागृत हो, और लोग पचो व म्युनिसिपल सदस्यो के कार्य मे दिलचस्पी लें। एक बार पचो व म्युनिसिपल सदस्यो का चुनाव कर वे उदासीन न हो जाएँ। ग्राम पचायत के पच व म्युनिसिपल सदस्य वही रहते हैं, जहाँ उनको चुनने वाले लोग रहते हैं। अत निर्वाचक लोग अपने चुने हुए प्रतिनिधियो के काम मे बहुत दिलचस्पी ले सकते है।

(२) नागरिको का ईमानदार व कर्तव्यपरायण होना—यदि नागरिक लोग ईमानदार व कर्तव्यपरायण न हो, तो स्थानीय स्वशासन सस्थाएँ कभी सफल नही हो सकती। इन सस्थाओ का सचालन सर्वसाधारण जनता के हाथो मे ही होता है। यदि नागरिक लोग प्रतिनिधियो को चुनते हुए अपने छोटे-छोटे स्वार्थों को निगाह मे रखे और अपने कर्तव्यो के प्रति विमुख हो, तो इन सस्थाओ का सफल हो सकना कदापि सम्भव नही होगा।

(३) दलबन्दी के सकीर्ण विचारों का अभाव—स्थानीय स्वशासन सस्थाएँ राजनीतिक दलबन्दी और जात-विरादरी आदि के सकीर्ण विचारो से ऊपर रहनी चाहिए। उनके लिये ऐसे ही सदस्य चुने जाने चाहिए, जो वस्तुत. योग्य, कर्तव्यपरायण और सार्वजनिक सेवा के लिये उत्साह रखनेवाले हो। यदि लोग चुनाव के समय राजनीतिक दलबन्दी और जात विरादरी के विचारो को योग्यता की अपेक्षा अधिक महत्त्व दें, तो ऐसे प्रतिनिधि कभी नही चुने जा सकेंगे, जो स्थानीय मामलो का प्रबन्ध निष्पक्ष रूप से कर सकें। इन सस्थाओ को राजनीतिक समस्याएँ नहीं सुलझानी होनीं, उनका राजनीति से सम्बन्ध ही क्या होता है? उन्हें तो जनता की सेवा ही करनी होती है। अत उनके सदस्य ऐसे व्यक्ति ही होने चाहिए, जो वस्तुत योग्य और

लोक-सेवा मे तत्पर हो।

(४) सरकारी नियन्त्रण मे कमी—देश की सरकार को स्थानीय स्वशासन सस्थाओ के काम मे तभी हस्तक्षेप करना चाहिए, जब उनका प्रबन्ध बहुत बिगड जाए। यदि सरकार इन सस्थाओ के छोटे-छोटे कामो मे भी हस्तक्षेप करने लगे, तो लोगो मे अपनी जिम्मेवारी की भावना कभी भी उत्पन्न नही हो सकेगी।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ स्थानीय स्वराज्य की आवश्यकता और उपयोगिता पर प्रकाश डालिये। (यू पी १९४९)

२ केन्द्रीय सरकार द्वारा स्थानीय स्वशासन सस्थाओ पर कितना नियन्त्रण रखना चाहिए और क्यों ? विशद रूप से लिखिये। (यू पी १९४५)

३ किसी शासन की श्रेष्ठता के लिये यह आवश्यक है कि वह लोकमत का सम्मान करे, और इस उद्देश्य की प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन स्थानीय स्वशासन को यथासम्भव प्रोत्साहित करना है। इस पर प्रकाश डालिये। (यू पी १९४१)

४ यदि आपको किसी क्रिकेट टीम के कैप्टिन तथा म्युनिसिपल कमेटी के प्रधान का चुनाव करना हो, तो आप उनमे किन गुणो को महत्त्व देंगे ? (यू पी १९४९)

५ यदि आप किसी म्युनिसिपल कमेटी के सदस्य निर्वाचित हो जाएँ, तो आप किन सुधारों का सुझाव देंगे ? (यू पी १९५०)

६ स्थानीय स्वशासन सस्थाओ के क्या कार्य होते हैं ? राष्ट्रीय जीवन मे उनके महत्त्व पर प्रकाश डालिये। (राजपूताना १९४२)

७ स्थानीय स्वशासन के समर्थन मे युक्ति दीजिये। यह लोकतन्त्र के लिये अनिवार्य क्यों माना गया है ? (राजपूताना १९४५)

८ स्थानीय स्वशासन का महत्त्व समझाइए। ग्राम पचायत को कौन से कार्य सौंपे जाने चाहियें। (राजपूताना, १९४७)

९. 'स्थानीय स्वशासन सस्थाएँ लोकतन्त्र की आधार शिला हैं,' इस कथन की व्याख्या कीजिये, तथा भारत में एक स्वस्थ नागरिक जीवन के निर्माण मे स्थानीय स्वशासन सस्थाओं के महत्त्व पर प्रकाश डालिए। (राजपूताना, १९५१)

१० स्थानीय स्वशासन सस्थाओं की सफलता के लिये आवश्यक शर्तें कौन-सी हैं ?

११. स्थानीय स्वशासन सस्थाओं की आमदनी के कौन मे साधन होते हैं ?

छब्बीसवाँ अध्याय

नागरिकता

(Citizenship)

नागरिक का अभिप्राय—

पिछले अध्यायो मे हमने राज्य और उसके शासन के सम्बन्ध मे विचार किया है। अपनी सामूहिक उन्नति के लिए मनुष्यो ने अपने को जिन विविध समुदायो मे सगठित किया है, राज्य उनमे सर्वोत्कृष्ट व सर्वोपरि है। राज्य के जो विविध तत्त्व (Elements) व अग होते हैं, जनता उनमे से एक है। सम्भवत, जनता ही राज्य का सबसे महत्त्वपूर्ण अग है, क्योकि राज्य जनता का ही अन्यतम समुदाय होता है। जनता जैसी होगी, राज्य भी वैसा ही होगा। यदि जनता कर्तव्य-परायण, परिश्रमी और प्रगतिशील होगी, तो राज्य की सदा उन्नति होगी। इसके विपरीत यदि जनता कर्तव्य-विमुख और आलसी हो, तो राज्य कभी उन्नत नहीं हो सकता। अत जनता के अन्तर्गत उन व्यक्तियो पर विशेष रूप से विचार करने की आवश्यकता है, जिनके हाथो मे अन्ततोगत्वा राज्य के शासन व सचालन की बागडोर होती है, और जो राज्य-कार्य मे हाथ बँटाते हैं। जनता के इसी अग को 'नागरिक' कहते है।

राज्य के सब निवासियो को नागरिक नही कहा जाता। प्रत्येक राज्य मे कुछ विदेशियो का भी निवास रहता है। वे वहाँ या तो व्यापार आदि के लिए रह रहे होते हैं, या भ्रमण आदि के लिए वहाँ आये हुए होते हैं। इनका राज्य के शासन व सचालन मे कोई हाथ नही होता, और न ही इनके कोई अधिकार ही होते हैं। इन्हे हम राज्य का 'नागरिक' नही कहते। यह तो स्पष्ट ही है कि राज्य मे नागरिक केवल उन्ही को कहा जाता है, जो राज्य के प्रति भक्ति (Allegiance) रखें, और जिन्हे सविधान के अनुसार राज्य म विविध प्रकार के आधारभूत अधिकार (Fundamental Rights) प्राप्त हो। पर इतने से 'नागरिक' का अभिप्राय स्पष्ट नही होता। इसे और अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है।

नागरिक का शब्दार्थ है, नगर का निवासी। पर नागरिकशास्त्र म नागरिक शब्द से केवल नगरनिवासियो का ही बोध नही होता। ग्रामो के रहनेवालो को भी नागरिक कहते हैं। जैसा कि इस पुस्तक मे हम पहले लिख चुके हैं, प्राचीन समय मे राज्य बहुत छोटे-छोटे हुआ करते थे। उनके लिए ऐतिहासिक लोग 'नगर राज्य'

(City State) शब्द का प्रयोग करते हैं। प्राचीन ग्रीस मे नगर-राज्य को 'पोलिस' कहते थे, हमारा 'पुर' शब्द उससे मिलता जुलता है। प्राचीन इटली मे नगर-राज्य को 'सिवितास' कहा जाता था। पोलिस या सिवितास का स्वरूप एक नगर के सदृश था, जिसमे चारो ओर की खेती की जमीन भी शामिल होती थी। व्यापारी, शासक, शिल्पी आदि लोग नगर मे रहते थे, और किसान समीप की जमीन पर खेती किया करते थे। इन नगर-राज्यो के निवासी दो प्रकार के होते थे, स्वतन्त्र और दास। स्वतन्त्र लोग सख्या मे बहुत कम होते थे, दास उनके मुकाबिले मे बहुत अधिक होते थे। थोडे से स्वतन्त्र लोग खेती, शिल्प आदि के कार्य दासो से कराके स्वय सुख स जीवन बिताते थे, और अपना समय राज्य-कार्य मे लगाया करते थे। दासो को राज्य मे कोई भी अधिकार प्राप्त नहीं थे, उनका शासन मे कोई भी हाथ नही होता था। इन नगर-राज्यो के स्वतन्त्र निवासियो को 'नागरिक' कहा जाता था, क्योकि वे ही नगर-राज्य के स्वामी होते थे।

आजकल के राज्य पुराने नगर-राज्यो के मुकाबिले मे बहुत अधिक विशाल हैं। उनमे कितने ही नगरों, कसबो व ग्रामो का समावेश होता है। दास प्रथा का भी अब अन्त हो गया है। राज्य के सब निवासी अब स्वतन्त्र माने जाते हैं। इन विशाल राज्यों मे जो भी शहरी व देहाती लोग बसते हैं, उन सबको एक समान राजनीतिक व नागरिक अधिकार प्राप्त होते है। अत जब हम 'नागरिक' शब्द का प्रयोग करें, तो उसका अर्थ हमे 'नगर-निवासी' कदापि नही समझना चाहिए।

नागरिकशास्त्र मे नागरिक उन स्त्रियो व पुरुषो को कहते हैं, जो राज्य के चाहे किसी भी भाग (नगर, कसबा या गाव) मे रहें, पर जो राज्य के प्रति भक्ति (Allegiance) रखते हों, और जिन्हे राज्य द्वारा राजनीतिक अधिकार प्राप्त हो। राज्य के प्रति भक्ति और राजनीतिक अधिकारो की प्राप्ति नागरिकता की प्रमुख विशेषताएँ हैं। नागरिको को अधिकार होता है कि वे विधान सभाओ के चुनाव मे भाग ले सकें, और भाषण, लेख आदि द्वारा अपने विचारो को स्वतन्त्रतापूर्वक प्रगट कर सकें। नागरिको को यह अधिकार भी होता है कि वे राज्य द्वारा अपनी जान व माल की रक्षा करा सकें। कोई नागरिक चाहे अपने राज्य मे निवास कर रहा हो, और चाहे कार्यवश विदेश गया हुआ हो, उसकी रक्षा का उत्तरदायित्व राज्य पर होता है। जब राज्य नागरिको की रक्षा का भार अपने ऊपर लेता है, और उनके हित, कल्याण व उन्नति के लिए अनेक प्रकार के यत्न करता है, तो नागरिको के भी राज्य के प्रति अनेक कर्तव्य हो जाते हैं। उन्हें राज्य का भक्त व वफादार होना होता है। वे कोई ऐसा कार्य नही कर सकते, जिससे राज्य को नुकसान पहुँचे। इसी कारण वे किसी अन्य राज्य की सेना मे भरती नही हो सकते, और अपने राज्य के खिलाफ अन्य राज्य की किसी भी रूप मे सहायता नही कर सकते। जिन दशाओ मे किसी व्यक्ति को

राज्य का नागरिक माना जाता है, वे निम्नलिखित हैं—

(१) नागरिक के लिए जरूरी है कि वह राज्यरूपी समुदाय का सदस्य हो।

(२) उसे राज्य के प्रति भक्ति रखनी चाहिए व राज्य के प्रति वफादार होना चाहिए।

(३) उसे राज्य की ओर से कतिपय अधिकार प्राप्त हुए होने चाहिएँ।

जो मनुष्य इन तीनो शर्तों को पूरा न करता हो, उसे राज्य का नागरिक नही कहा जा सकता।

नागरिक और परदेशी मे भेद—नागरिक के अभिप्राय को और अधिक स्पष्टता के साथ समझने के लिए नागरिक (Citizen) और परदेशी (Alien) मे भेद को जान लेना उपयोगी है। भारत मे इस समय बहुत-से लोग ऐसे भी निवास कर रहे हैं, जो परदेशी हैं। जर्मनी, रूस, फ्रास, अमेरिका आदि कितने ही विदेशो के लोग भारत मे इजीनियर, केमिस्ट आदि के रूप मे कार्य कर रहे हैं, और कुछ परदेशी व्यापार आदि के लिए भी भारत मे निवास कर रहे हैं। पर ये भारत के राज्य के सदस्य नही हैं। न इन्हे वोट आदि के अधिकार प्राप्त हैं, और न भारत के प्रति इनकी भक्ति ही है। ये परदेशी लोग जब तक भारत मे रहे, इन्हे इस देश के कानूनो का पालन करना पडता है, ये भारतीय न्यायालयो मे अपने मुकदमे व प्रार्थनापत्र पेश कर सकते है। इनकी जान व माल की रक्षा भी भारतीय सरकार द्वारा की जाती है। पर वोट देने, विधान सभा के लिये उम्मीदवार खडा होने और सरकार के कार्य की सार्वजनिक रूप से आलोचना करने के अधिकार इन्हे प्राप्त नही हैं। यदि सरकार किसी परदेशी की भारत मे उपस्थिति को हानिकारक समझे, तो उसे वह देश छोड-कर चले जाने के लिए भी विवश कर सकती है।

किसी भी राज्य मे जो परदेशी (Alien) लोग निवास करते हैं, उन्हे तीन भागो मे बॉटा जा सकता है—

(१) **बसे हुए परदेशी**—बहुत से परदेशी लोग अपने देश को सदा के लिए छोडकर किसी अन्य देश मे जा बसते हैं। कितने ही भारतीय सदियो से लका मे बसे हुए हैं। चीनी लोग सैकडो वर्षों से मलाया, सिंगापुर, भारत आदि देशो मे निवास कर रहे हैं। अधिकतर राज्यो मे ऐसे स्थायी रूप से बसे हुए परदेशी लोगो को कुछ शर्तें पूरा कर लेने पर राज्य की नागरिकता प्रदान कर दी जाती है। नागरिकता की प्राप्ति के लिए कितने समय तक निवास करना जरूरी है, इसके नियम विविध राज्यो मे भिन्न-भिन्न है। पर कुछ राज्य ऐसे भी हैं, जिनमे परदेशियो के वहाँ बहुत समय तक बसे रहने के बावजूद भी उन्हे नागरिकता के अधिकार प्रदान नही किए जाते।

(२) **अस्थायी रूप से काम करने वाले परदेशी**—यात्रा, व्यापार आदि प्रयोजनो से बहुत से परदेशी अस्थायी रूप से दूसरे राज्य मे निवास करते हैं। भारत

के कितने ही विद्यार्थी उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए फ्रास, अमेरिका, जर्मनी आदि मे जाते हैं। हर साल हजारो भारतीय विदेशो मे भ्रमण के लिए जाते है। कुछ लोग व्यापार व नौकरी के लिए भी विदेशो मे जाकर रहते है। पर इनका विदेश-प्रवास अस्थायी होता है। इस कारण इन्हे नागरिकता के अधिकार प्रदान नही किये जाते। कुछ समय तक विदेश मे रहकर ये स्वदेश को लौट आते हैं।

(३) राजदूत—इस वर्ग मे दूसरे देशो के राजदूत, कॉन्सल व उनके कर्मचारी अन्तर्गत होते हैं। राज्य मे इन परदेशियो की विशेष स्थिति मानी जाती है। इन पर इनके अपने राज्य के कानून लागू होते है, उस राज्य के नही, जहा ये निवास कर रहे हो। भ्रमण, पत्र-व्यवहार, माल मँगाने आदि के सम्बन्ध मे भी इन्हे विशेष सुविधाएँ दी जाती हैं।

शत्रु परदेशी और मित्र परदेशी—किसी राज्य मे निवास करनेवाले परदेशी दो प्रकार के हो सकते है, शत्रु और मित्र। शाति के समय मे सभी परदेशी मित्र होते हैं। पर यदि किसी राज्य का किसी अन्य राज्य के साथ युद्ध शुरू हो जाए, तो शत्रु-राज्य के वे लोग भी, जो अपने राज्य मे निवास कर रहे हो, शत्रु मान लिये जाते है। शत्रु राज्य के जो राजदूत व उसके परदेशी कर्मचारी हो, उन्हे सम्मान के साथ उनके अपने देश मे भेज दिया जाता है। राज्य उनकी रक्षा की पूरी जिम्मेवारी लेता है। पर यात्रा, व्यापार आदि के लिए आये हुए शत्रु परदेशियो को गिरफ्तार करके नजर-बन्द कर दिया जाता है, और युद्ध काल मे वे कैद मे ही रखे जाते हैं, यद्यपि उनकी स्थिति व मर्यादा के अनुसार उनके साथ यथोचित व्यवहार किया जाता है।

नागरिक और मतदाता—नागरिक के अभिप्राय को भलीभाँति समझ लेने के लिए यह भी ध्यान मे रखना चाहिए, कि यह जरूरी नही कि सब नागरिक मतदाता (Voter) भी अवश्य हो। मतदाता कौन हो, यह बात प्रत्येक राज्य के कानून पर निर्भर है। कुछ समय पहले तक प्राय सभी राज्यो मे स्त्रियो को वोट के अधिकार से वचित रखा जाता था। सम्पत्ति, धर्म आदि के आधार पर भी वोट के अधिकार को मर्यादित किए जाने की व्यवस्था थी। आजकल भी राज्यो मे वोट देने के लिए बालिग होने की शर्त जरूरी मानी जाती है। कुछ देशो मे १८ साल और कुछ मे २१ साल की आयु का प्राप्त कर लेना वोट के अधिकार के लिये आवश्यक माना जाता है। इसलिये यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए, कि नागरिक होने के लिए वोट देने का अधिकार आवश्यक बात नही है।

नागरिकता की प्राप्ति

किसी भी राज्य मे जिन लोगो को नागरिकता के अधिकार प्राप्त होते है, उन्हे हम स्थूल रूप से दो भागो मे बाँट सकते हैं—(१) जन्मजात (Natural born)

और (२) कानून के अनुसार नागरिकता प्राप्त किये हुए लोग (Naturalised citizens)। इन दोनो प्रकार के नागरिको पर अधिक विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है।

जन्मजात नागरिक—जन्म के कारण जो लोग किसी राज्य के नागरिक होते हैं, उनके विषय मे भी तीन नियम हैं—(१) माता-पिता जिस राज्य के नगरिक हो, उनकी सन्तान भी उसी राज्य की नागरिक होती है। इस नियम को रक्त अथवा वंश नियम (Jus Sanguinis) कहते हैं। इसके अनुसार यदि किसी बच्चे का जन्म विदेश मे भी कही हुआ हो, तो भी वह उसी राज्य का नागरिक होगा, माता-पिता जिसके नागरिक हैं। यदि कोई इङ्गलिश पति-पत्नी यात्रा के लिए जापान व चीन गये हुए हो, या व्यापार के लिए भारत मे आये हुए हो, और वहाँ उनके सन्तान पैदा हो जाए, तो उसे इङ्गलैण्ड का ही नागरिक माना जायगा, चीन, जापान या भारत का नही।

(२) जन्मस्थान नियम (Jus Soli)—इसके अनुसार बच्चे की नागरिकता का निर्णय उसके जन्मस्थान के आधार पर किया जाता है। कई राज्यो मे यह नियम है कि उनकी भूमि पर जिस बच्चे का जन्म हो, उसे उसी राज्य का नागरिक माना जायगा। दक्षिणी अमेरिका के अनेक राज्यो मे यह नियम प्रचलित है। यदि इङ्गलैंड, फ्रास, इटली आदि के कोई पति-पत्नी व्यापार, यात्रा आदि के लिए अर्जेन्टिना मे निवास कर रहे हो और वहाँ उनके कोई सन्तान पैदा हो जाए, तो अर्जेन्टिना के कानून के अनुसार उसे अर्जेन्टिना का ही नागरिक स्वीकृत कर लिया जायगा।

इस नियम का सबसे बडा लाभ यह है, कि इसके अनुसार नागरिकता का निर्णय बहुत सुगमता से हो जाता है। जो कोई बच्चा अर्जेन्टिना मे पैदा हो, वह वही का नागरिक है, यह बात बहुत सीधी-सादी है। पर इसमे अनेक दिक्कतें भी है। मान लीजिये, कि अर्जेन्टिना के कोई पति-पत्नी यात्रा व व्यापार के लिए इटली गये हुए हैं, और वहाँ उनके सन्तान उत्पन्न हो जाती है। अर्जेन्टिना के कानून के अनुसार वे इटली के नागरिक माने जाएँगे—अर्जेन्टिना की नागरिकता उन्हे प्राप्त नहीं हो सकेगी। कुछ समय तक इटली मे निवास कर जब ये माता पिता अपने देश को लौट आएँगे, तो उनकी सन्तान को अर्जेन्टिना की नागरिकता प्राप्त नही हो पायगी। इस कारण इस कानून द्वारा अनेक कठिनाइयाँ पेश हो जाती हैं।

(३) दोहरा नियम (Double principle)—अनेक देशो मे नागरिकता का निर्णय करने के लिए दोहरे नियम को काम मे लाया जाता है। उनके कानून के अनुसार उनकी भूमि पर जो बच्चा जन्म ले, वह उनका नागरिक हो जायगा, और साथ ही उनके अपने नागरिको की सन्तान यदि विदेश मे भी कही पैदा हो, तो भी वह उन्ही की नागरिक होगी। फ्रास मे इसी नियम का अनुसरण किया जाता है। यदि

(६) देशद्रोह आदि भयकर अपराधो के लिये न्यायालय द्वारा दण्डित होने पर भी नागरिकता के अधिकार छीने जा सकते हैं।

नागरिकता से वञ्चित व्यक्ति—आजकल भी पृथ्वी पर कुछ ऐसे राज्य हैं, जिनमे अपने देश के कतिपय लोगो को भी नागरिकता के अधिकार प्राप्त नही हैं। उदाहरण के लिये दक्षिणी अफ्रीका को लीजिये। वहाँ के असली निवासी नीग्रो लोग हैं, जो सख्या मे भी बहुत अधिक है। पर दक्षिणी अफ्रीका के राज्य मे उन्हे नागरिकता के अधिकार प्राप्त नही है। न वे वोट दे सकते हैं, और न सब स्थानो पर स्वेच्छापूर्वक बस सकते है।

भारत के नागरिक—स्वराज्य प्राप्ति के बाद भारत का जो नया सविधान बना है, उसके अनुसार भारत मे नागरिकता के अधिकार के आधार निम्नलिखित हैं—

(१) सविधान के लागू होने के समय भारत मे बसने वाले सब लोगों को इस देश का नागरिक स्वीकार कर लिया गया है, बशर्ते कि उनका जन्म भारत मे हुआ हो, या उनके माता-पिता मे से किसी एक का भी जन्म इस देश मे हुआ हो और या उन्हे भारत मे रहते हुए कम से कम पाँच वर्ष हो चुके हो।

(२) पाकिस्तान से आये हुए वे व्यक्ति जो १६ जुलाई, १९४८ से पूर्व भारत मे आकर बस गये हो।

(३) जो व्यक्ति १६ जुलाई, १९४८ के बाद पाकिस्तान से भारत मे आए हो, तो बाकायदा रजिस्ट्रेशन कराके वे भी भारत के नागरिक हो सकते है।

(४) विदेशों मे बसे हुए वे भारतीय भी भारत के नागरिक माने जाते हैं, जो स्वय अविभाजित भारत म उत्पन्न हुए या जिनके माता-पिता या दादा-दादी या उनमे से कोई एक भारत मे उत्पन्न हुआ हो। पर विदेशों मे बसने वाले इन लोगों के लिये यह जरूरी है, कि वे उस देश के भारतीय दूतावास में अपने को भारतीय नागरिक के रूप मे रजिस्टर्ड करा ले। यदि विदेश मे बसे हुए किसी भारतीय ने स्वेच्छापूर्वक किसी अन्य राज्य की नागरिकता स्वीकार कर ली हो, तो उसे भारत का नागरिक नही माना जाता।

उत्तम नागरिक—

क्योंकि किसी भी राज्य की समृद्धि व उत्कर्ष उसके नागरिको पर ही निर्भर होता है, अत यह प्रश्न बडे महत्त्व का है कि वे कौन-से गुण है, जो नागरिकों मे होने चाहियें, और जिनके कारण हम किसी नागरिक को उत्तम कह सकते हैं।

इस विषय पर विचार करते हुए पहली बात हमे यह ध्यान मे रखनी चाहिये, कि उत्तम मनुष्य और उत्तम नागरिक मे अन्तर है। यह जरूरी नही कि एक अच्छा मनुष्य अच्छा नागरिक भी हो। जो मनुष्य सदा सत्य बोले, किसी को दु ख न दे,

ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करे, किसी पर-स्त्री को बुरी दृष्टि से न देखे, संयम के साथ जीवन व्यतीत करे, मृदुभाषी हो, ईश्वर की भक्ति करता हो, धर्म व सदाचार के नियमो का पालन करता हो—उसे हम अच्छा मनुष्य कहते है। पर हो सकता है कि ऐसा मनुष्य जब देश पर संकट आए, तो वह अपने तन-मन धन को निछावर करने के लिये कटिबद्ध न हो। बाढ आ जाने, भूकम्प आने व गाँव मे आग लग जाने की दशा मे वह अन्य लोगो की सहायता करने मे विशेष उत्साह न दिखाए। यह भी सम्भव है, कि दूसरे सम्प्रदायो व जातियो के लोगो के प्रति ऐसे मनुष्य के हृदय मे प्रेम व सहानुभूति की भावना न हो। इसमे सदेह नही, कि उत्तम नागरिक होने के लिए उत्तम मनुष्य भी होना उपयोगी है, पर यह अनिवार्य नही कि उत्तम मनुष्य एक उत्तम नागरिक भी अवश्य हो। वस्तुत, उत्तम नागरिक बनने के लिए कुछ विशेष प्रकार के गुणो की आवश्यकता है, जिनमे मुख्य निम्नलिखित है—

(१) सामाजिक भावना—प्रत्येक उत्तम नागरिक मे सामाजिक भावना का होना अत्यन्त आवश्यक है। वही मनुष्य उत्तम नागरिक हो सकता है, जो केवल अपनी उन्नति से ही सन्तुष्ट न हो, अपितु सबकी उन्नति मे ही अपनी उन्नति समझे। हम देखते हैं कि हमारे चारो तरफ जो मनुष्य निवास करते हैं, उनमे से कितने ही दुखी, रोगी, निर्धन व अन्य प्रकार से पीड़ित हैं। यदि इन्हे देखकर हमारे हृदय मे पीडा नही उत्पन्न होती, और उनके दुख-दर्द को दूर करने के लिये हमारे मन मे उत्कट इच्छा व उत्साह पैदा नही होते, तो हम कदापि अच्छे नागरिक नही है। महात्मा गाधी को एक भजन बहुत प्रिय था, जिसकी पहली पक्ति यह थी—"वैष्णव जन तो तणे कहिये, जो पीर पराई जाणे रे।" जो दूसरो की पीडा को अनुभव करता है, वही सच्चा वैष्णव होता है। पर केवल सच्चे वैष्णव के लिये ही इस गुण की आवश्यकता नही है, अपितु प्रत्येक उत्तम नागरिक के लिये यह गुण अत्यन्त आवश्यक है।

मनुष्य के सामुदायिक जीवन के जो भी विविध क्षेत्र हैं, उन सब मे सामुदायिक भावना का होना उत्तम नागरिक के लिये आवश्यक है। परिवार का प्रत्येक सदस्य सुखी हो, ग्राम के सब निवासी नीरोग व सम्पन्न हों, जात बिरादरी से कुरीतियो का अन्त हो, यदि हम किसी श्रमी सघ के सदस्य हैं, तो उसके अधिकारो के लिये हम उत्साहपूर्वक सघर्ष करने को तैयार हो, अपने धार्मिक हितो की रक्षा का हमे सदा ध्यान रहे, देश पर आपत्ति आने पर हम अपना सर्वस्व स्वाहा करने के लिय उद्यत हो—यह भावना प्रत्येक उत्तम नागरिक मे अवश्य होनी चाहिये।

(२) कर्तव्य का ज्ञान और कर्तव्यपरायणता—सामुदायिक जीवन के विविध रूपो के प्रति मनुष्य के जो कर्तव्य हैं, उनका ज्ञान व उनका पालन करने के लिये तत्पर रहना प्रत्येक उत्तम नागरिक के लिये अत्यन्त आवश्यक है। मनुष्यो का सबमे

छोटा समुदाय कुटुम्ब है। उसमे पति-पत्नी, सन्तान, भाई-बहन सबके एक-दूसरे के प्रति अनेक प्रकार के कर्तव्य होते हैं। यह आवश्यक है कि प्रत्येक नागरिक को कुटुम्ब के प्रति अपने कर्तव्यो का ज्ञान हो, और वह उनका पालन करने के लिये सदा उद्यत रहे। इसी प्रकार प्रत्येक नागरिक किसी न किसी ग्राम या नगर का निवासी होता है। यदि हमारे गाँव मे आग लग जाए, तो हमारा कर्तव्य है कि उसे बुझाने मे हम उत्साहपूर्वक भाग ले। किसी नगर मे बीमारी फैलती है, उस दशा मे नागरिको का कर्तव्य है कि बीमारी को रोकने के कार्य मे म्युनिसिपैलिटी के साथ सहयोग करे। सब लोग किसी न किसी धार्मिक समुदाय के साथ सम्बन्ध रखते है। आप सनातन धर्म सभा के सदस्य है, उसका वार्षिक उत्सव मनाया जा रहा है। आपका कर्तव्य है कि आप उत्सव के कार्य मे उत्साहपूर्वक भाग ले। जो अतिथि व विद्वान् बाहर से आये हुए हो, उनकी सेवा करें। आप एक कारखाने मे काम करते है, उसके श्रमी-सघ के आप सदस्य है। श्रमी-सघ निश्चय करता है, कि मजदूरी की माँग को स्वीकृत कराने के लिये हडताल की जाए। यदि हडताल कानून के अनुकूल है, तो श्रमी-सघ का सदस्य होने के कारण आपका कर्तव्य हो जाता है कि आप हडताल मे शामिल हो। राज्य मनुष्यो का सबसे उत्कृष्ट समुदाय है, उसके प्रति भी मनुष्यो के अनेक प्रकार के कर्तव्य हैं। सरकारी कानूनो का पालन करना, नियमपूर्वक टैक्सो को अदा करना, टैक्स देते हुए आमदनी को न छिपाना, शांति और व्यवस्था कायम रखने मे सरकार की सहायता करना, अपराधियो को छिपाने के बजाय उन्हे गिरफ्तार कराने मे पुलिस के साथ सहयोग करना—ये ऐसे कर्तव्य हैं, जो शांति के समय मे प्रत्येक नागरिक को अपने सम्मुख रखने चाहियें। युद्ध आदि राष्ट्रीय सकटो के अवसर पर नागरिको के कर्तव्य और भी अधिक हो जाते हैं। सेना मे भरती होकर, स्वय-सेवक बनकर, सरकार द्वारा जारी किये गये राष्ट्रीय ऋण मे धन देकर व अन्य अनेक प्रकार से सरकार की सहायता करना ऐसे अवसरो पर प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य हो जाता है। इन सब कर्तव्यो को जानना और उनका उत्साहपूर्वक पालन करना उत्तम नागरिको का आवश्यक गुण है।

(३) *व्यक्तिगत उन्नति*—*प्रत्येक नागरिक के लिए यह भी आवश्यक है, कि* वह अपनी व्यक्तिगत उन्नति के लिए भी प्रयत्नशील रहे। राज्य व्यक्तियों से मिलकर ही बनता है। अत यदि व्यक्ति स्वस्थ, सदाचारी व समृद्ध होगे, तो राज्य भी *उन्नत होगा। व्यक्तिगत उन्नति के लिए नागरिको को निम्नलिखित बातो का ध्यान* रखना चाहिए—

क—*स्वस्थ शरीर*—जब तक मनुष्य का शरीर स्वस्थ, हृष्ट पुष्ट व बलवान न हो, तब तक वह न अपना भला कर सकता है, न अपने परिवार का और न राज्य का। मनुष्य का स्वास्थ्य केवल उसकी अपनी ही सम्पत्ति नहीं होता, अपितु सम्पूर्ण

समाज व राज्य की भी सम्पत्ति होता है। अत प्रत्येक मनुष्य को व्यायाम, नियमपूर्वक जीवन, सयम आदि उपायो द्वारा शरीर के स्वास्थ्य को उन्नत करना चाहिए।

ख—उत्तम शिक्षा और उन्नत विचार—जहाँ नागरिक के लिए स्वस्थ शरीर की आवश्यकता होती है, वहाँ साथ ही स्वस्थ व सुसस्कृत मन का होना भी आवश्यक होता है। मन को उन्नत करने के लिए शिक्षा बहुत उपयोगी है। शिक्षा द्वारा मनुष्य जहाँ व्यक्तिगत उन्नति कर सकता है, वहाँ समाज के प्रति कर्तव्यो का भी उसे ज्ञान होता है।

ग—विवेक, सयम और दूरदर्शिता—प्रत्येक नागरिक को भले-बुरे, कर्तव्य-अकर्तव्य और उचित-अनुचित मे विवेक करने की योग्यता होनी चाहिए। साथ ही इन्द्रियो पर सयम करना, मन को काबू मे रखना और दूरदर्शिता से काम लेना भी उसे आना चाहिए।

इस प्रकार शरीर और मन की उन्नति कर नागरिको को अपने व्यक्तित्व का विकास करना चाहिये, और इस व्यक्तित्व का उपयोग सबके हित के लिए करना चाहिए।

(४) उच्च आदर्श—नागरिक जहा अपनी व्यक्तिगत उन्नति के लिए यत्नशील हो, वहाँ उन्हे उच्च आदर्शो को कभी अपनी दृष्टि से ओझल नही करना चाहिए। हमारे लिए यह समझ लेना बहुत आवश्यक है, कि सबका हित होने मे ही अपना हित है। इस कारण एक बडे आदर्श के लिए छोटे स्वार्थों को कुर्बान कर देने के लिये नागरिक को सदा उद्यत रहना चाहिए। कुटुम्ब मे प्रत्येक मनुष्य दूसरो के लिये अपने हित की बलि देने को तैयार रहता है। माता-पिता बच्चो के सुख के लिये अपने सुख को कुर्बान करने मे जरा भी सकोच नही करते। बहन की रक्षा के लिए भाई अपनी जान तक दे देता है। कुटुम्ब मे जो भावना पाई जाती है, उसी को हमे बडे क्षत्र मे भी प्रयुक्त करना चाहिए। कुटुम्ब मे रहने के कारण आत्म-बलिदान की जो शिक्षा हम ग्रहण करते हैं, उसका प्रयोग हमे ग्राम, नगर, समाज और राज्य के विशाल क्षेत्र मे भी करना चाहिए। इसीलिए ग्राम के हित के लिए अपने व्यक्तिगत स्वार्थो का और राज्य के हित के लिए कुटुम्ब, ग्राम आदि तक के स्वार्थों को बलि दे देना आवश्यक है। अब तो वह समय भी आ गया है, जबकि सम्पूर्ण मानव-समाज के हितो के सम्मुख राष्ट्रीय हित भी गौण होने जा रहे है।

यहाँ हमने जिन गुणो का उल्लेख किया है, उनको ग्रहण करके ही कोई मनुष्य उत्तम नागरिक बन सकता है। नागरिकता के ये ही आदर्श हैं।

उत्तम नागरिकता के मार्ग में बाधाएँ—

जिन बातो से उत्तम नागरिक बनने मे बाधा उपस्थित होती है, उनका निद-

र्शन करना भी आवश्यक है। ये बाधाएँ निम्नलिखित है—

(१) **व्यक्तिगत स्वार्थ**—जिस राज्य के नागरिक सामुदायिक व राष्ट्रीय हित के मुकाबिले मे व्यक्तिगत स्वार्थ को अधिक महत्व देते है, वह कदापि उन्नति नही कर सकता। छोटे पारिवारिक जीवन में ही देखिए। यदि पति केवल अपने स्वार्थ को देखे, पत्नी के सुख-दुख का ख्याल न करे, या बच्चे बडे होकर अपने वृद्ध मां-बाप की सेवा न करे, तो वह कुटुम्ब कभी सुखी व समृद्ध नही हो सकता। यही बात राज्य के विषय मे भी है। कितने ही लोग वोट के अधिकार का प्रयोग करते हुए स्वार्थ को आँखों से ओझल नही कर पाते। वे थोडे से रुपयो के लिये अपने वोट को बेच देते है, या किसी अन्य स्वार्थ के कारण अपना वोट किसी अयोग्य व्यक्ति के पक्ष मे दे देते हैं। कितने ही लोग विधान सभा के सदस्य बनकर भी सार्वजनिक हित को स्वार्थ से ऊपर नही रख सकते। अनेक सरकारी कर्मचारी स्वार्थ सिद्धि के लिये सरकारी पद का दुरुपयोग करने म भी सकोच नही करते। जब तक नागरिक लोग व्यक्तिगत स्वार्थ को सार्वजनिक हित के सम्मुख गौण न समझे राज्य कभी उन्नति नही कर सकता। अनेक देशो मे कुछ लोग रुपये के लालच मे आकर विदेशी शत्रु के गुप्तचर का भी काम करते है, और शत्रु को अपने देश का भेद दे देते हैं। स्वार्थ की भावना उत्तम नागरिक के मार्ग म बहुत बडी बाधा होती है।

(२) **आलस्य और उपेक्षा**—सार्वजनिक कार्यो व हितो के प्रति उपेक्षाभाव रखना भी उत्तम नागरिकता के मार्ग मे बहुत बडी बाधा होती है। "कोउ नृप होय हमें का हानी, चेरि छाडि नहिं होउब रानी" का विचार भारत की जनता मे बद्धमूल है। इसके कारण वे राज्य के कार्यो के प्रति उपेक्षा का भाव रखते है। पुलिस का कोई अफसर गरीबों पर जुल्म करे, तो लोग उसे चुपचाप सह लेते है। उस अफसर के खिलाफ बडे अफसर के समक्ष शिकायत नही करते, और न समाचारपत्र आदि द्वारा उसके विरुद्ध आन्दोलन ही करते हैं। इस दशा मे सरकार अपना कार्य सुचारु रूप से कैसे कर सकती है? यदि कोई सरकारी अफसर रिश्वत ले, लोगो पर अत्याचार करे, किसी के प्रति अनुचित रूप से पक्षपात करे या अपनी शक्ति का दुरुपयोग करे, तो उसकी उपेक्षा नही करनी चाहिये। यदि देश मे कोई ऐसा मन्त्रिमण्डल बना हुआ है, जिसका कार्य व नीति आपकी दृष्टि मे हानिकारक है, तो आपका कर्त्तव्य है कि उसके विरुद्ध आन्दोलन करें और लोकमत को अपने पक्ष मे करके उस मन्त्रिमडल को बदल डालने का प्रयत्न करें। जिस देश के नागरिक सार्वजनिक मामलो मे उदासीन रहते है, उसकी कदापि उन्नति नही हो सकती।

आलस्य भी नागरिकता के मार्ग मे एक भारी बाधा है। चुनाव के समय यदि हर एक मतदाता यह सोचने लगे कि हमारे हलके मे दस हजार वोटर है, अन्य लोग तो वोट डालेंगे ही, यदि मैं अकेला वोट डालने न गया, तो इसमे क्या बनता-बिगडता

है, मैं घर पर ही आराम करूँगा, तो कैसे काम चल सकता है। आलस्य के वशीभूत होकर लोग अपने सार्वजनिक कर्तव्यों की उपेक्षा करने लगते हैं। देश पर एक आकस्मिक संकट आ गया है, बाढ़ के कारण लाखों नर-नारी बेघर-बार हो गये हैं, ऐसे समय आलस्य से घर बैठे रहने से काम नहीं चल सकता। लोगों को बाढ़ पीड़ितों की सहायता के लिए आलस्य छोड़कर कटिबद्ध हो जाना चाहिए। युवकों को स्वयंसेवक बनकर बाढ़ पीड़ितों की सहायता करनी चाहिए, और सम्पन्न लोगों को बाढ़ सहायक फण्ड में दिल खोलकर चन्दा देना चाहिए।

(३) अज्ञान—उत्तम नागरिकता के मार्ग में एक महत्वपूर्ण बाधा अज्ञान व अशिक्षा है। यदि किसी राज्य के बहुसंख्यक नागरिक अशिक्षित हों, तो वे न अपने कर्तव्यों को समझ पाएँगे और न उनका पालन ही करेंगे। ज्ञान एक दीपक के समान होता है, जो मनुष्यों के मनों को प्रकाशित करता है। इसी कारण राज्य सदा जनता में शिक्षा-प्रसार के लिए प्रयत्नशील रहता है। लोकतन्त्र राज्यों में नागरिकों का शिक्षित होना और भी अधिक आवश्यक है, क्योंकि उनमें सरकार का संचालन लोकमत के अनुसार होता है। यदि जनता अशिक्षित हो, तो जागरूक लोकमत का विकसित हो सकना सम्भव नहीं हो सकता। अशिक्षित लोगों को न अपने अधिकारों का ज्ञान होता है, और न कर्तव्यों का।

(४) निर्धनता—उत्तम नागरिकता के लिए निर्धनता भी बहुत हानिकारक होती है। निर्धन लोग अपने को प्रायः असहाय और अशक्त अनुभव करते हैं। जिन लोगों के लिए अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकना भी सम्भव न हो, वे सामुदायिक कर्तव्यों के पालन की ओर ध्यान कैसे दे सकते हैं। निर्धन लोगों में जो साहसी व उद्दण्ड प्रकृति के हों, वे डकैती, चोरी, उपद्रव आदि की ओर प्रवृत्त होते हैं, और जो साधु प्रकृति के हों, वे सुगमता से धनी व शक्तिशाली लोगों के वशवर्ती हो जाते हैं। दोनों बातें ही उत्तम नागरिकता में बाधक हैं।

(५) संकीर्ण गुटबन्दियाँ—मनुष्य अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए या संकुचित विचारों के कारण अनेक संकीर्ण गुटबन्दियों के शिकार हो जाते हैं। राजनीतिक दलों का संगठन कोई बुरी बात नहीं है, लोकतन्त्र शासन के लिए उनका बहुत उपयोग है। पर राजनीतिक दल और गुटबन्दी में भेद है। किसी निश्चित विचारधारा और कार्यक्रम को सम्मुख रखकर जो राजनीतिक दल संगठित किये जाते हैं, वे राज्य के लिए लाभदायक होते हैं। पर राजनीतिक दल ऐसे भी हो सकते हैं जिनके सम्मुख कोई कार्यक्रम व विचार न होकर केवल स्वार्थ-भावना ही हो, और वे सार्वजनिक हित के मुकाबिले में अपने सदस्यों के स्वार्थों को अधिक महत्व देने लगें। धार्मिक सम्प्रदाय, जात-बिरादरी आदि के संकीर्ण विचारों के आधार पर जो दल या गुट संगठित होते हैं, वे तो उत्तम नागरिकता के लिए और भी अधिक हानिकारक सिद्ध होते हैं।

(६) **पुरानी रूढ़ियां व प्रथाएं**—उत्तम नागरिकों को लकीर का फकीर भी नहीं होना चाहिए। पुराने समय से जो प्रथाएँ, अभ्यास व रूढ़ियां किसी समाज में चली आ रही हों, उनका पालन करना उसी अंश तक उपयोगी होता है, जब कि वे बदली हुई परिस्थितियों में हानिकारक न हों। किसी बात से केवल इसलिए चिपटे रहना कि वह परम्परागत रूप से चली आ रही है, कदापि उचित नहीं होता। हमारे देश में अछूतपन, जात-पाँत आदि कितनी ही बातें पुराने समय से चली आ रही हैं। किसी समय में शायद उनका कुछ उपयोग रहा हो। पर अब वे देश के लिए स्पष्ट रूप से हानिकारक हो गई हैं। उनका परित्याग कर देने में ही देश की भलाई है। संस्कृत के एक कवि ने ठीक कहा है—"जो बात पुराने समय में चली आती हो, वह अवश्य ही उपादेय हो, यह स्वीकार्य नहीं है। साथ ही कोई बात केवल इसलिए भी अच्छी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि वह नई है। जिस प्रकार हंस दूध और पानी में विवेक कर दूध को ग्रहण करता है, वैसे ही हम बुद्धि द्वारा उपयोगी बातों को ग्रहण करना चाहिए।"

(७) **राष्ट्रीयता, पूंजीवाद और साम्राज्यवाद की संकीर्ण प्रवृत्तियां**—उग्र राष्ट्रीय भावना भी उत्तम नागरिकता के लिए हानिकारक होती है। जब किसी देश के लोग अपने को सबसे उत्कृष्ट समझने लगते हैं, और अन्य देशों को अपने अधीन करने में कोई भी हानि नहीं मानते, तो उसमें साम्राज्यवाद का प्रादुर्भाव होता है। साम्राज्यवाद के कारण महायुद्धों का प्रारम्भ होता है, और धन व जन का बुरी तरह से विनाश होता है। राष्ट्रप्रेम और देशभक्ति बहुत उत्तम भावनाएं हैं, पर उनका अतिशय लोगों को पागल बना देता है। उन नागरिकों को कभी उत्तम नहीं माना जा सकता, जो दूसरे देशों की स्वतन्त्रता का अपहरण करने में गौरव अनुभव करें, क्योंकि ऐसा करने से सम्पूर्ण मानव-समाज के हितों का व्याघात होता है।

पूंजीवाद भी उत्तम नागरिकता के मार्ग में एक भारी बाधा है। पूंजीवादी लोग मुनाफा कमाने को ही अपना एकमात्र ध्येय मानते हैं। मुनाफे के लिए वे सब प्रकार के उचित व अनुचित उपायों का प्रयोग करते हैं, और मजदूरवर्ग की विवशता व असहाय दशा से लाभ उठाकर उनका शोषण करते हैं। अतः यदि पूंजीपतियों के कार्यों को नियन्त्रित न किया जाए, तो उससे ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसके कारण कुछ लोग अत्यधिक धनी व अन्य लोग अत्यन्त गरीब होते जाएं। अत्यधिक धन और अत्यधिक गरीबी दोनों ही उत्तम नागरिकता के लिए हानिकारक हैं। धन की अधिकता से मनुष्य में भोग, विलास, दम्भ, अभिमान आदि दुर्गुण उत्पन्न होते हैं, और गरीबी के कारण मनुष्य में दैन्य व असहाय भावना का प्रादुर्भाव होता है। ये सब बातें नागरिकों के लिए अवाञ्छनीय हैं।

इन बाधाओं को दूर करने के उपाय—

उत्तम नागरिकता के मार्ग में पेश आनेवाली जिन बाधाओं का हमने ऊपर उल्लेख किया है, उनको दूर करने का मुख्य उपाय यही है कि नागरिकों के वैयक्तिक और सामूहिक चरित्र को उन्नत किया जाए। इस विषय में राज्य का कर्तृत्व बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रखता। जो लोग व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए दूसरों को नुकसान पहुँचाएँ, राज्य उन्हें दण्ड अवश्य दे सकता है। एक आदमी असली घी में वनस्पति तेल मिलाकर बेचता है, एक आदमी दूध में पानी मिलाकर बेचता है, सरकार उन्हें दण्ड दे सकती है, और अन्य लोगों के सामने यह उदाहरण पेश कर सकती है, कि यदि वे भी इसी प्रकार का अपराध करेंगे, तो उन्हें भी दण्ड मिलेगा। पर केवल दण्ड द्वारा जनता के चरित्र में सुधार नहीं किया जा सकता। अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि ऐसे उपाय प्रयोग में लाये जाएँ, जिनसे जनता के चरित्र में सुधार हो। इसके लिए सरकार अनेक साधनों को प्रयोग में ला सकती है। रेडियो, इश्तहार, समाचारपत्र आदि द्वारा सरकार लोगों का ध्यान उन बुराइयों की ओर आकृष्ट कर सकती है, जिनके कारण उत्तम नागरिकता में बाधा पड़ती है। भारत की सरकार इस दिशा में प्रयत्न भी कर रही है। उसकी ओर से मण्डियों, बाजारों व नगरों के चौक आदि में मैजिक लैन्टर्न द्वारा प्रचार करने का भी यत्न किया जाता है।

पर उत्तम नागरिकता के लिए सरकार द्वारा किया जानेवाला प्रयत्न कभी पर्याप्त नहीं होता। इसके लिए आवश्यक यह है कि शिक्षणालय, धार्मिक संस्थाएँ व राजनीतिक दल—सभी प्रयत्नशील हों। जब सब मनुष्य सामूहिक रूप से उत्तम नागरिकता के लिए प्रयत्न करेंगे, तभी इस कार्य में सफलता हो सकेगी। इसके लिए प्रयत्न तभी शुरू हो जाना चाहिये, जब बच्चा छोटा हो। हिन्दू शास्त्रों में एक वचन आता है—

"मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद"

इसका अभिप्राय यह है, कि मनुष्य का जो चरित्र बनता है, वह माता, पिता और आचार्य के प्रभाव के कारण बनता है। बचपन में माता के संस्कार बच्चे पर पड़ते हैं, फिर पिता का चरित्र उस पर प्रभाव डालता है, और बाद में स्कूल जाकर अपने गुरुजनों से वह बहुत कुछ सीखता है। यदि माता-पिता और गुरुजन सबका प्रभाव चरित्र को ऊँचा बनानेवाला हो, तो उत्तम नागरिकता के मार्ग की सब बाधाएँ सुगमता से दूर हो सकती हैं।

नागरिकों के अधिकार और कर्तव्य—

इस पुस्तक के पिछले एक अध्याय में अधिकार और कर्तव्य के स्वरूप की विशद रूप से विवेचना की जा चुकी है, और साथ ही उन अधिकारों का भी उल्लेख

किया जा चुका है, जो राज्य का सदस्य होने के कारण मनुष्यो को प्राप्त होते हैं। कर्तव्यो का निदर्शन भी उसी अध्याय मे किया जा चुका है। अत यहाँ उन्हे दुबारा लिखने की आवश्यकता नही। यहाँ यह लिख देना ही पर्याप्त होगा कि यदि नागरिको को अपने अधिकारो और कर्तव्यो का भली भाँति ज्ञान हो, तभी वे उनके लिए सचेष्ट व जागरूक हो सकते हैं।

कर्तव्यनिष्ठा मे परस्पर विरोध और सामञ्जस्य (Conflict and harmonization of Loyalties)—

मनुष्य अपने हित, कल्याण और उन्नति के लिए जो विविध समुदाय बनाता है, उन सबके प्रति उसके अनेकविध कर्तव्य होते हैं। कुटुम्ब, जात बिरादरी, ग्राम, नगर, प्रान्त, राज्य, मानव-समाज सबके प्रति हमारे कर्तव्य हैं। इन सब समुदायो के प्रति हमारी निष्ठा (Loyalty) होनी है। पर अनेक बार इन विविध समुदायो के प्रति हमारी जो कर्तव्यनिष्ठा है, उसमे परस्पर विरोध भी उपस्थित हो जाता है। इसे कुछ उदाहरणो द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

मान लीजिये, आप रोज किसी कारखाने या खेत मे कार्य करने के लिए जाते हैं। वहाँ से आप पाँच रुपये रोज कमाते है। यह रुपया कमाना आपके परिवार के पालन के लिए परम आवश्यक है। पर किसी दिन आपके गाँव मे आग लग जाती है। आग बुझाने के लिए सब ग्रामवासियो के सहयोग की आवश्यकता है। आपके सामने प्रश्न उपस्थित होता है, कि परिवार के हित के लिए आपको अपने दैनिक कार्य पर जाना चाहिये या आग बुझाने मे ग्रामवासियो को सहयोग देना चाहिये। आपके कौटुम्बिक हितो और ग्राम के हितो मे यहाँ विरोध उपस्थित है। इस दशा मे आपको अपने छोटे हित को बडे हित के लिए कुर्बान कर देना चाहिए।

आप एक श्रमी सघ (Trade Union) के सदस्य हैं। श्रमी सघ निश्चय करता है, कि कारखाने मे हडताल कर दी जाए। पर युद्ध के दिन हैं, शत्रु ने आपके देश पर आक्रमण किया हुआ है। आप लोहे के कारखाने मे काम करते हैं। युद्ध के लिए लोहे की बहुत अधिक आवश्यकता है। अब श्रमी सघ के सदस्य के रूप मे आपकी कर्तव्यनिष्ठा आपको हडताल मे शामिल होने के लिए प्रेरित करती है, पर देश व राज्य के प्रति कर्तव्यनिष्ठा के कारण आप अनुभव करते हैं कि इस अवसर पर हडताल करना अनुचित है। इस दशा मे आपको राज्य के प्रति कर्तव्यनिष्ठा को अधिक महत्त्व देना चाहिये, क्योकि बडी कर्तव्यनिष्ठा के सम्मुख छोटी कर्तव्यनिष्ठा का कोई महत्त्व नही है।

बडे व अधिक व्यापक समुदाय के प्रति जो कर्तव्यनिष्ठा होनी है, उसी के कारण कितने ही स्वयसेवक अपने जीवन तक की भी आहुति दे देते हैं। भारत के

स्वाधीनता संग्राम में कितने ही क्रांतिकारियों, सत्याग्रहियों और आजाद हिंद फौज के सैनिकों ने देश के प्रति कर्तव्यनिष्ठा के सम्मुख अपनी पारिवारिक कर्तव्यनिष्ठा को तुच्छ माना। गोआ को स्वाधीन कराने के लिए कितने ही ऐसे लोगों ने, जिनके बाल-बच्चे थे, जिनके अपने कुटुम्बों के प्रति कर्तव्य थे, एक बड़ी कर्तव्यनिष्ठा को दृष्टि में रखकर गोलियां खाकर अपने जीवन को स्वाहा कर दिया।

इसमें संदेह नहीं, कि कुटुम्ब, जात-बिरादरी, धार्मिक सम्प्रदाय, आर्थिक संघ आदि के प्रति हमारे जो कर्तव्य हैं, उनकी अपेक्षा बहुत अधिक महत्त्व के कर्तव्य राज्य व देश के प्रति है। इसी कारण राष्ट्रीय हित व देश की उन्नति के लिए हमें अपनी छोटी कर्तव्यनिष्ठाओं को गौण समझना चाहिये। एक अंग्रेज लेखक का कथन है—"नागरिकता इसी बात में है, कि कर्तव्यनिष्ठाओं का समुचित रूप से क्रम-निर्माण किया जाए" (Citizenship consists in the right ordering of loyalties)। हमें समुचित रूप से उस क्रम का निर्धारण कर लेना चाहिये, जिसके अनुसार हमें विविध समुदायों के प्रति कर्तव्यनिष्ठा को महत्त्व देना है। इसमें संदेह नहीं, कि राज्य के मुकाबिले में आर्थिक समुदाय, धार्मिक समुदाय, जाति, प्रान्त, नगर व ग्राम और कुटुम्ब के हितों का महत्त्व कम है। पर साथ ही हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये, कि कई बार राज्य के हित सम्पूर्ण मानव-समाज के हित में बाधक हो जाते हैं। परमाणु बम्ब (Atom bomb) का प्रयोग कर इस समय रूस और संयुक्त राज्य अमेरिका संसार के प्रायः सभी देशों को अपना वशवर्ती बना सकते हैं। पर यदि वे अपनी शक्ति का प्रयोग अन्य देशों को अपने अधीन करने में करें, तो यह बात उनके अपने उत्कर्ष के लिए चाहे लाभकारी हो, पर मानव समाज के लिए अवश्य ही अहितकर होगी। जापान, हालैण्ड, ब्रिटेन, फ्रांस आदि साम्राज्यवादी देशों ने अपने राष्ट्रीय उत्कर्ष के लिए एशिया और अफ्रीका के बहुत-से प्रदेशों को अपने अधीन कर लिया था। पर साम्राज्यवाद मानव समाज के लिए हानिकारक होता है, अतः शक्तिशाली राज्यों को मानव समाज के प्रति कर्तव्यनिष्ठा को ध्यान में रखते हुए अकेले अपने राष्ट्रीय उत्कर्ष को महत्त्व नहीं देना चाहिये।

संस्कृत में एक पुराना श्लोक चला आता है, जिसे यहाँ उद्धृत करना उपयोगी होगा—

> त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
> ग्रामं जनपदस्यार्थे, आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥

इसका अर्थ यह है, कि कुटुम्ब व कुल के लिए एक व्यक्ति को, ग्राम के लिए कुल को, राज्य के लिए ग्राम को और आत्मा के लिए पृथिवी तक को त्याग देना चाहिए। कुल के लिए व्यक्ति, ग्राम के लिए कुल और राज्य के लिए ग्राम को त्याग देने की बात तो बिलकुल स्पष्ट ही है। आत्मा के लिए पृथिवी तक को छोड़ देने का

सत्ताईसवाँ अध्याय

नागरिक आदर्श

(Civic Ideals)

नागरिक आदर्श—

नागरिकता का स्वरूप, नागरिता के अधिकार और नागरिको के कर्तव्यो पर विचार कर लेने के बाद अब यह आवश्यक है, कि नागरिक आदर्शों पर भी विचार किया जाये। नागरिकशास्त्र का अध्ययन तब तक अपूर्ण रहेगा, जब तक कि इस प्रश्न का भी विवेचन न कर लिया जाए कि नागरिक आदर्श क्या हैं। प्रत्येक मनुष्य कोई न कोई आदर्श अपने सम्मुख रखता है। कुछ मनुष्यो का आदर्श केवल धन कमाना होता है, कुछ मनुष्य विज्ञान की खोज को आदर्श बनाकर अपना सारा जीवन उसके लिए खपा देते हैं, और कुछ मनुष्य देश की स्वाधीनता, अत्याचार का प्रतिरोध व मनुष्यो की सेवा को आदर्श बनाकर उसी मे लग जाते है। मनुष्य तभी उन्नति कर सकता है, जब वह किसी आदर्श को अपने सम्मुख रखे।

नागरिक जीवन का आदर्श क्या है ? इस बात के स्पष्ट हो जाने पर ही हम सच्चे नागरिक बन सकते है, और नागरिकता में आदर्श तक पहुँचने का यत्न कर सकते हैं। नागरिक जीवन के आदर्शों को निम्नलिखित रूप से स्पष्ट किया जा सकता है—

(१) समाजसेवा—प्रत्येक नागरिक किसी समाज व समुदाय का अंग होता है। अत उसका यह कर्तव्य है, कि वह समाज के अन्य सब सदस्यों के काम आए। लास्की के अनुसार नागरिकता इसी को कहते हैं, कि व्यक्ति का जो विवेकपूर्ण निर्णय व मत (Instructed Judgement) हो, उसे सबके हित के लिए प्रयुक्त किया जाए। हमारे म जो कुछ भी गुण है, जो भी शक्तियाँ हैं, जो भी योग्यता है—उन सबका प्रयोग केवल अपने हित के लिए न होकर सब के हित के लिए हो। नागरिकता का आदर्श हम यही सिखाता है कि हम सबके लाभ, कल्याण व उन्नति के लिए न केवल प्रयत्न करें, अपितु उसके लिए कष्ट उठाने को भी तैयार हो।

(२) स्वार्थ त्याग—समुदाय के हित के लिए मनुष्य को अपने व्यक्तिगत स्वार्थ का त्याग करने के लिए उद्यत रहना चाहिये और बड़ समुदाय के हित के लिए छोट सामुदायिक स्वार्थों का। इस आदर्श का हम पिछले अध्याय म भली भाँति स्पष्ट

कर चुके हैं।

इन दोनों आदर्शों का परिणाम—यदि समाज सेवा और स्वार्थ त्याग को नागरिकता का आदर्श मान लिया जाए, तो उसके ये परिणाम होंगे—

(१) प्रत्येक नागरिक को देश के प्रति प्रेम होगा। देशभक्ति को वह अपना आदर्श मानेगा।

(२) वह राष्ट्रीयता को बहुत महत्त्व देगा, और राष्ट्रीयता के लिए अपने सर्वस्व का बलिदान करने में सकोच नहीं करेगा।

(३) उसकी दृष्टि केवल देशभक्ति और राष्ट्रीयता तक ही सीमित नहीं रहेगी, अपितु वह अन्तर्राष्ट्रीयता को अपना चरम आदर्श मानेगा और सम्पूर्ण मानव समाज के प्रति कर्तव्यों को सदा अपनी दृष्टि में रखेगा।

इस प्रकार नागरिकता के कतिपय आदर्श हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं। ये आदर्श हैं, राष्ट्रीयता, देशभक्ति और विश्वप्रेम या अन्तर्राष्ट्रीयता। अब हम इन्हीं आदर्शों पर विचार करेंगे।

राष्ट्रीयता (Nationalism)

मनुष्यों में शुरू से यह प्रवृति रही है कि जिन लोगों की नसल, भाषा, धर्म, रीति-रिवाज व ऐतिहासिक परम्परा एक हों, वे परस्पर मिलकर एक सगठन में सगठित हों। इतिहास के प्रारम्भ काल में इस प्रकार के एक समान लोगों के समूह को जन या कबीला (Tribe) कहा जाता था। जब ये जन किसी एक स्थान पर स्थायी रूप में बस गये, तब राज्य का प्रारम्भ हुआ। शुरू के इन राज्यो के सब निवासी प्राय एक ही जाति या नसल के हुआ करते थे, भाषा धर्म आदि की दृष्टि से भी वे एक होते थे। अत इन्हें 'राष्ट्रीय राज्य' कह सकते हैं। पर बाद में जब बडे-बडे राज्यों का विकास हुआ, और किसी एक शक्तिशाली राजा ने पडोस के बहुत-से राज्यो को जीत कर अपने अधीन कर लिया, तो इन विशाल राज्यो का आधार राष्ट्रीयता नहीं रही। पुराने रोमन साम्राज्य में बहुत-सी जातियों के लोग बसते थे। यही बात सिकन्दर द्वारा स्थापित मैसिडोनियन साम्राज्य के विषय में कही जा सकती है। मध्यकाल में यूरोप व अन्यत्र जो विविध राज्य विद्यमान थे, उनमें भी अनेक जातियों के व अनेक भाषाएँ बोलने वाले लोगों का निवास था।

इस दशा में अठारहवीं सदी में यूरोप में अनेक ऐसे विचारक उत्पन्न हुए, जिन्होंने कि लोकतन्त्रवाद के साथ-साथ राष्ट्रीयता की ओर भी जनता का ध्यान आकृष्ट किया। फ्रास की राज्यक्रान्ति (१७८९ ई०) ने जिन नई भावनाओं को जन्म दिया, उनमें राष्ट्रीयता की भावना भी एक थी। जो लोग धर्म, भाषा, नसल, रीति रिवाज आदि की दृष्टि से एक हों, उनका अपना पृथक् राज्य होना चाहिये और इस राज्य में

किसी एक राजा का स्वेच्छाचारी शासन न होकर सवसाधारण जनता का शासन होना चाहिए, यह सिद्धात फ्रास की राज्यक्रान्ति की मुख्य देन है। उन्नीसवी सदी मे यह भावना निरन्तर जोर पकडती गई। बीसवी सदी के प्रथम चतुर्थ चरण तक यूरोप के प्राय सभी राज्यो का निर्माण राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार हो गया। न केवल यूरोप मे, अपितु एशिया और अफ्रीका मे भी राष्ट्रीयता की भावना ने जोर पकडा, और अब भारत, चीन, इन्डोनीसिया, बरमा आदि कितने ही देश न केवल साम्राज्यवाद के चगुल से मुक्त हो चुके हैं, अपितु उन्होंने राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार अपने स्वतन्त्र राज्यो का भी निर्माण कर लिया है।

राष्ट्रीयता का लक्षण—मनुष्य जाति के किसी अग मे जो परस्पर एकानुभूति या अपने एक होने की भावना होती है, उसी को 'राष्ट्रीयता' कहते है। यह एकानुभूति धर्म, नसल, भाषा, रीति-रिवाज आदि को एकता के कारण उत्पन्न होती है।

राष्ट्रीयता के तत्व (Elements of Nationality)—

नसल, भाषा, धर्म आदि जिन तत्त्वो के कारण मनुष्यो मे अपने एक होने की अनुभूति उत्पन्न होती है, उन पर अधिक विस्तार के साथ विचार करना उपयोगी है।

(१) नसल को एकता (Unity of Race)—जिन लोगो की नसल एक हो, उनके लिए अपने को एक समझना सर्वथा स्वाभाविक है। इसी कारण जो भारतीय अन्य देशो मे जाकर बस गये है, वे भी अपने को भारत का ही नागरिक समझते है। अग्रेज लोग चाहे भारत मे व्यापार के लिए रह रहे हों, या मलाया आदि कही भी जा बसे हो, अपने को इङ्गलैण्ड का ही मानते है। लाखो चीनी लोग सिगापुर, इण्डोनीसिया, भारत आदि देशो मे बसे हुए हैं। उन्हे वहां रहते हुए बहुत समय हो गया है, पर फिर भी वे अपने को चीनी ही समझते हैं। यहूदी लोग जर्मनी, आस्ट्रिया, पोलैण्ड, फ्रास, इङ्गलैण्ड आदि कितने ही देशो मे सदियो मे बस रहे है। पर उनमे अब तक भी यह अनुभूति विद्यमान है, कि हम सब यहूदी है। इसी कारण उनमे अब तक भी अपने को जर्मन, आस्ट्रियन, पोल, फ्रेञ्च, इङ्गलिश आदि मानने की भावना उत्पन्न नही हुई। नसल राष्ट्रीयता की अनुभूति उत्पन्न करने मे बहुत बडा कारण होती है।

पर नसल की समस्या सुगम नही है। भारत के सब निवासियो को नसल की दृष्टि मे एक नही माना जा सकता। इङ्गलैण्ड के सब निवासी भी नसल की दृष्टि से एक नही हैं। इसलिए केवल नसल की एकता ही राष्ट्रीयता का आधार नही होती।

(२) भाषा की एकता—राष्ट्रीयता की भावना के लिए भाषा की एकता बहुत महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। भाषा ही एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने विचारो व भावो को प्रकट करते हैं। भाषा की भिन्नता मनुष्यो के एक-दूसरे के निकट आने मे बाधक होती हैं। भाषा एक ऐसा साधन है, जिसके कारण मनुष्यो को एक-दूसरे

को समझ सकने का अवसर मिलता है, और जिससे उनमे घनिष्ठता स्थापित होती है। यही कारण है, जो एक भाषा बोलने वाले लोग परस्पर एकानुभूति रखते हैं। राष्ट्रीयता की भावना के लिए भाषा की एकता एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

पर ऐसे भी अनेक राष्ट्र है, जिनमे एक से अधिक भाषाएं बोलने वाले लोगो का निवास है। स्विट्जरलैण्ड मे तीन भाषाएं बोली जाती हैं, फ्रेंच, जर्मन और इटालियन। पर तीन भाषाएँ होते हुए भी स्विट्जरलैण्ड के सब लोग अपने को 'स्विस समझते है, और एक ही राष्ट्रीयता का अग मानते हैं। कनाडा मे दो भाषाएँ हैं, फ्रेंच और इङ्गलिश। यह होने पर भी कनाडियन लोग एक राष्ट्रीयता की अनुभूति रखते हैं। भारत मे बहुत-सी भाषाएँ बोली जाती हैं। पर फिर भी सब भारतीय अपने को एक राष्ट्र का निवासी समझते हैं। चीन, पाकिस्तान आदि कितने ही देशों मे भाषा का भेद राष्ट्रीयता के मार्ग मे विशेष बाधक नही है।

पर यह स्वीकार करना होगा, कि भाषा की भिन्नता के कारण राष्ट्रीय एकानुभूति कुछ न-कुछ निर्बल अवश्य हो जाती है। भारत मे ही आन्ध्र, पजाब, महाराष्ट्र, बगाल आदि के निवासियो मे प्रान्तीय भावना जो कभी-कभी प्रबल हो उठती है, उसका मुख्य कारण भाषा की भिन्नता ही है। इसी कारण एक राष्ट्र-भाषा के विकास की आवश्यकता भारत मे अनुभव की जाती है। जब भारत के विविध प्रदेशों मे हिन्दी का भली भाँति प्रचार हो जायगा, तो राष्ट्रीयता की भावना और अधिक सुदृढ हो जायगी।

(३) धर्म की एकता—मनुष्यो को एक-दूसरे के समीप लाने मे धर्म का बहुत महत्त्व है। यद्यपि सब धर्मों के मूल तत्त्व एक हैं, पर उनका बाह्य कलेवर भिन्न भिन्न है। हिन्दू धर्म, इस्लाम, बौद्ध, ईसाई आदि विविध धर्मों के नैतिक सिद्धान्तो व सदाचार के नियमो मे विशेष भेद नहीं है, पर उनके पूजा-पाठ, विधि-विधान व विश्वासो मे बहुत अन्तर है। जो लोग एक ढग से ईश्वर की पूजा करें, एक धर्म-ग्रन्थ को माने, एक पैगम्बर व धर्माचार्य का अनुसरण करे—उनमे परस्पर एकानुभूति का होना स्वाभाविक है। इसी कारण धर्म की एकता राष्ट्रीयता मे सहायक होती है, और विभिन्न धर्मो का अनुसरण करने वाले लोगो के लिए एक राष्ट्र का अग रह सकना सुगम नही होता। भारत और पाकिस्तान के रूप मे हमारे देश का जो विभाजन हुआ, उसका कारण धर्म का भेद ही था। यद्यपि हिन्दू और मुसलमान सदियो से भारत मे एक साथ निवास करते आ रहे थे, पर फिर भी धर्म-भेद के कारण उनमे एकानुभूति का समुचित विकास नही हो पाया था।

पर आजकल के अनेक उन्नत व प्रगतिशील राज्यो मे राष्ट्रीय एकता के लिए धर्म का भेद बाधक नहीं रहा है। चीन मे बौद्ध लोगो के साथ-साथ ईसाई और मुसलमान भी अच्छी बडी सख्या मे निवास करते हैं। पर भाषा सस्कृति और नसल की एकता के कारण चीनी ईसाई या मुसलमान अपने को चीनी बौद्धो से पृथक् नही सम-

भते। ईजिप्ट मे ईसाइयो की सख्या दस फी सदी के लगभग है, पर वे नब्बे फी सदी मुसलमानो के साथ एक राष्ट्रीयता के अग के रूप मे रह रहे है। यदि भाषा, सस्कृति आदि की एकता हो, और लोग धर्म के मामले मे सहिष्णु हो तो धर्म का भेद राष्ट्रीय एकता म विशेष बाधा नही डालता। पाकिस्तान के निर्माण के बाद भी भारत मे मुसलमान चार करोड के लगभग हैं, और ईसाई आदि अन्य धर्मो के अनुयायी भी इस देश म अच्छी बडी सख्या मे निवास करते हैं। यदि भाषा, सस्कृति आदि की दृष्टि से इन सब मे एकता रहे, और लोग धर्म के बाहरी रूप के मुकाबिले मे तत्त्व की बातो को अधिक महत्त्व दें, तो धर्म का भेद भारत की राष्ट्रीय एकता मे बाधक नही होगा।

धर्म की एकता होते हुए भी भाषा, नसल, सस्कृति आदि के भेद के कारण राष्ट्रीयता भिन्न भिन्न रहती हैं। जर्मनी और इङ्गलैण्ड दोनो देशो के निवासी प्रोटेस्टेण्ट सम्प्रदाय के अनुयायी है, पर उनकी राष्ट्रीयता भिन्न भिन्न है। पाकिस्तान और अफगानिस्तान का धर्म एक ही है। पर भाषा, जाति और सस्कृति के भेद के कारण उनकी राष्ट्रीयता अलग-अलग है।

(४) *भौगोलिक एकता*—जो लोग किसी एक ही प्रदेश मे साथ-साथ रहते है, धीरे-धीरे उनमे सम्बन्ध बढता जाता है, और वे अपने को एक समझने लगते हैं। एक स्थान पर देर तक साथ बसे रहने के कारण भिन्न नसल व भिन्न धर्म के लोग भी आपस मे एकानुभूति रखने लगते हैं। भारत के पारसी इसके उदाहरण हैं। उनका धर्म पारसी है, वे जरदुश्त के अनुयायी हैं। उनके रीति रिवाज आदि भी बम्बई के अन्य निवासियो से भिन्न हैं। पर देर तक बम्बई मे बसे होने के कारण अब वे वहाँ के अन्य भारतीयों के समान ही भारतीय राष्ट्रीयता के अग बन गये हैं। सयुक्त-राज्य अमेरिका मे इङ्गलिश लोगो के अतिरिक्त जर्मन, ग्रीक, इटालियन, फ्रेंच व जापानी लोग भी अच्छी बडी सख्या मे बसे हुए हैं। अमेरिका मे साथ साथ रहने के कारण अब वे सब अमेरिकन बन गये हैं। यही बात कनाडा मे इङ्गलिश और फ्रेञ्च लोगों के विषय मे कही जा सकती है।

(५) *सस्कृति और ऐतिहासिक परम्परा की एकता*—जिन लोगो की सस्कृति, रीति-रिवाज व ऐतिहासिक परम्पराएँ एक होते हैं, उनमे भी राष्ट्रीय एकता की अनुभूति होती है। काव्य, कला, साहित्य, सगीत, भाषा, धर्म—ये सब सस्कृति का निर्माण व विकास करने मे सहायक होते हैं। चीन, भारत, फ्रास, रूस आदि सब देशो की सस्कृति भिन्न भिन्न है। जिन लोगो की सस्कृति एक होती है, जिनके रीति-रिवाज, खान पान व अभ्यास एक प्रकार के होते हैं, उन्हे आपस म मिलकर एक प्रकार की खुशी अनुभव होती है। इस कारण उनमे जो एकानुभूति उत्पन्न होती है, वह राष्ट्रीयता के लिए सहायक होती है। चीन, यूरोप आदि की यात्रा करते हुए हमे यदि कोई ऐसा व्यक्ति मिल जाए, जिसका रहन सहन हमारे ही जैसा हो, जिसका

खान-पान हमसे मिलता-जुलता हो, जो हमारी ही तरह से तुलसी, सूर व कबीर के काव्यो का आस्वाद लेता हो, जो हमारी ही तरह कथाकली और भारतनाट्यम् के नृत्यो को देखकर आनन्द अनुभव करता हो, तो पूर्व परिचय के बिना भी हम उसके प्रति एक विशेष प्रकार की आत्मीयता का अनुभव करने लगते हैं। संस्कृति की एकता राष्ट्रीयता का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

ऐतिहासिक परम्पराएँ भी राष्ट्रीयता के विकास मे बहुत सहायक होती हैं। भारत के निवासियो ने समान रूप से ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन रहकर कष्ट उठाये, उन्होने साथ मिलकर अग्रेजी शासन के विरुद्ध सघर्ष किया, और वे समानरूप से उन सब वीरो का आदर करते हैं, जिन्होने स्वराज्य के लिए अपने तन-मन-धन की आहुति दी। जिन लोगो का इतिहास एक होता है, वे एक समान रीति से अपने पुराने वीरो व नेताओ का स्मरण करते हैं, और इस प्रकार जो ऐतिहासिक परम्पराएँ विकसित हो जाती है, वे राष्ट्रीयता के लिए बहुत सहायक होती है।

(६) **राजनीतिक आकाक्षाओं की एकता**—जिन लोगो मे नसल, भाषा, धर्म, संस्कृति आदि की एकता हो, उनमे स्वाभाविक रूप से यह इच्छा होती है कि उनका अपना पृथक् राज्य भी हो। १६१४-१८ के महायुद्ध से पूर्व पोल लोग जर्मनी, आस्ट्रिया और रूस—इन तीन राज्यो के अधीन थे। तीन भिन्न राज्यो के अधीन रहते हुए भी पोल लोगों मे यह आकाक्षा विद्यमान थी, कि हमे विदेशी शासन से स्वतन्त्र होकर अपने पृथक् राज्य का निर्माण करना चाहिए। इसीलिए वे अन्त मे सफल हुए और पोलैण्ड का एक स्वतन्त्र राज्य के रूप मे निर्माण हुआ। यहूदियो मे भी यह राजनीतिक आकाक्षा देर तक कायम रही, कि हमारा भी एक पृथक् राज्य होना चाहिए। इसी के कारण १६१४-१८ के महायुद्ध के बाद इजराईल का निर्माण हुआ।

चीन, रूस आदि विशाल राज्यो मे अनेक जातियो, धर्मों व भाषाओ की सत्ता है। पर इस समय उनमे कम्युनिज्म के अनुसार आर्थिक व्यवस्था कायम करने की प्रबल आकाक्षा विद्यमान है। इस आकाक्षा के कारण भी उनकी राष्ट्रीय एकता मे बहुत सहायता मिलती है।

भारत की राष्ट्रीय एकता—

भारत के सब लोग न एक भाषा बोलते हैं, और न एक धर्म के अनुयायी हैं। यहाँ के निवासी नसल व जाति की दृष्टि से भी एक नहीं हैं। इस दशा मे यह प्रश्न उठता है, कि क्या भारत मे राष्ट्रीय एकता है, और क्या भारत को एक राष्ट्र कहा जा सकता है।

स्थूल रूप मे देखने पर भारत को राष्ट्रीय दृष्टि से एक समझ सकना बहुत

कठिन है। यहाँ की जनता मे ७६ फी सदी के लगभग आर्य जाति के लोग हैं, और २१ फी सदी के लगभग द्रविड जाति के। इनके अतिरिक्त शावर व किरात जातियो के लोगो का भी इस देश मे निवास है। आर्यो और द्रविडो मे भी कितनी ही जातियाँ व उपजातियाँ है। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सवर्ण लोग शूद्रो और अछूतो को अपने से बिलकुल पृथक् समझते है। वे उनके साथ भोजन आदि का कोई भी व्यवहार नही रखते। हिन्दी, बगाली, गुजराती, मराठी, उडिया, पजाबी, तेलगू, तामिल, कन्नड आदि कितनी ही भाषाएँ इस देश मे बोली जाती हैं। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिक्ख, पारसी आदि कितने ही धर्म यहाँ विद्यमान है। देश की विशालता के कारण इस देश के निवासियो मे भौगोलिक एकता की अनुभूति भी नही पाई जाती। पजाब के निवासी अपने को पजाबी समझते है, और बगाल के बगाली। ऐतिहासिक दृष्टि से भी भारत अनेक छोटे-बडे राज्यो मे विभक्त रहा है। इन राज्यो मे युद्ध भी होते रहे है, और उन युद्धो का स्मृति अभी तक नष्ट भी नही हुई है। इस दशा मे यदि बहुत से विचारक भारत की राष्ट्रीय एकता से इन्कार करें, तो यह स्वाभाविक ही है।

पर गम्भीरता से विचार करने पर यह समझने मे कठिनाई नही होगी, कि अनेक विविधताओ व विभिन्नताओ के होते हुए भी भारत एक राष्ट्र है। यद्यपि भारत मे अनेक नसलो व जातियो के लोग निवास करते हैं, पर यहाँ की बहुसख्यक जनता इन नसलो के मिश्रण का ही परिणाम है। यहाँ बहुत-सी भाषाएँ अवश्य हैं, पर वे सब एक साँचे मे ही ढली हुई हैं। तेलगू, कन्नड आदि द्रविड भाषाओ ने भी आर्य वर्णमाला को अपना लिया है। भारत की एक अपनी अलग सस्कृति है। रहन-सहन, अभ्यास, रीति-रिवाज आदि की दृष्टि से हिन्दुओ और मुसलमानो मे बहुत भेद नहीं है। लखनऊ व दिल्ली का मुसलमान अपने विचारो, रीति-रिवाजो और अभ्यासो की दृष्टि से अरब व इण्डोनीसिया के मुसलमानो से बहुत भिन्न है। वह कैरो या बगदाद के मुसलमान की अपेक्षा लखनऊ व दिल्ली के हिन्दू के बहुत समीप है। जो रिवाज व आदतें हिन्दू की हैं, व ही भारतीय मुसलमान की भी है। भारत के बहुसख्यक मुसलमानो के पूर्वज पहले हिन्दू ही थे। धर्म परिवर्तन के कारण उनके सस्कारो व रहन सहन मे बहुत परिवर्तन नही हो गया। यही बात इस देश के ईसाइयो के विषय मे कही जा सकती है।

भौगोलिक एकता भी भारत की राष्ट्रीय एकता मे बहुत सहायक है। भारत के निवासी इस देश के प्रति एक विशेष प्रकार की ममता का अनुभव करते रहे हैं। उन्होने सदा यह माना, कि यह उनकी मातृभूमि और पवित्र भूमि है। सब हिन्दू इस देश की नदियो, पर्वतो और तीर्थ-स्थानो को पवित्र मानते हैं। गगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदा, सिन्ध, कावेरी और गोदावरी ये सात नदियाँ सब हिन्दुओ के लिए पवित्र हैं। दक्षिण भारत के हिन्दू के लिए गगा भी उतनी ही पवित्र हैं, जितनी

कि कावेरी। हिन्दुओं के तीर्थ स्थान उत्तर में अमरनाथ और केदारनाथ से शुरु होकर दक्षिण मे रामेश्वरम् तक फैले हुए है। इसी प्रकार मुसलमानों के भी अनेक पीरों और औलियों की स्मृति भारत के विभिन्न स्थानों के साथ जुडी हुई है। इस दशा में यदि भारत के सब निवासी इस देश के प्रति ममता और एकता की भावना रखें, तो इसमे आश्चर्य की क्या बात है?

यह सही है, कि भारत म अनेक विभिन्नताएँ भी विद्यमान है। इसीलिए यह देश सवर्गात्मक (Federal) शासन के लिए बहुत उपयुक्त है। भारत के विशाल राज्य को विभिन्न प्रदेशों में विभक्त कर यदि उनको मिलाकर एक सवर्ग (Federation) व सघ (Union) मे सगठित कर दिया जाए, तो वह यहाँ के लिये बहुत उपयुक्त होगा। ऐसा कर देने से विभिन्न प्रदेशों व प्रान्तों में इस देश की विभिन्न भाषाओं साहित्य आदि को विकसित होने का अवसर मिलेगा, और सघ द्वारा इस देश की राष्ट्रीय एकता का विकास हो सकेगा। भारत के नये सविधान मे इसी नीति को अपनाया गया है।

पर हम यह कदापि नहीं भूलना चाहिये, कि भारत की राष्ट्रीय एकता अभी तक भली भांति विकसित नहीं हो पाई है। पाकिस्तान का निर्माण इसी कारण हुआ, क्योंकि अभी तक हिन्दू और मुसलमान अपने को पूर्णतया एक राष्ट्रीयता का अग नहीं समझते थे। अभी हमारे देश मे प्रान्तीय, जातीय व साम्प्रदायिक भावनाओं का अन्त नहीं हुआ है। यह बात भारत की राष्ट्रीयता के लिए बहुत हानिकारक है। अत हम सबका कर्तव्य है, कि हम प्रान्तीय, जातीय व साम्प्रदायिक भिन्नताओं को अधिक महत्त्व न देकर राष्ट्रीय एकता के विकास का यत्न कर और राष्ट्र के हित के सम्मुख सकीर्ण विचारों का परित्याग कर द।

राष्ट्रवाद व स्वभाग्य निर्णय (Self-determination) का सिद्धान्त—

प्रत्येक राष्ट्रीयता को अपने सम्बन्ध मे स्वय निर्णय कर सकने का अधिकार होना चाहिए, इसे 'स्वभाग्य निर्णय का सिद्धान्त' कहते हैं। जिन लोगों मे नसल, भाषा, धर्म, रीति रिवाज, सस्कृति आदि की एकता के कारण परस्पर एक होने की अनुभूति हो, उन्हे यह अवसर होना चाहिये कि यदि वे चाहे तो अपना पृथक् राज्य बना सकें, और या किसी राज्य के अन्तर्गत रहते हुए भी अपनी राष्ट्रीय विशेषताओं का विकास कर सके। इसी को राष्ट्रवाद (Nationalism) का सिद्धान्त भी कहा जाता है।

राष्ट्रवाद का विरोध—अनेक विचारक राष्ट्रवाद व राष्ट्रीयता के स्वभाग्य-निर्णय के सिद्धान्त का विरोध करते है। उनका कथन है कि—

(१) यदि ससार राष्ट्रवाद के सिद्धान्त पर स्थिर रहता, तो इस समय

पृथिवी पर हजारों राज्य होते। ग्रेट ब्रिटेन इस समय एक राज्य है, पर वहां भी स्कॉट और वेल्स लोग इङ्गलिश लोगों से भिन्न हैं। यही बात यूरोप के कितने ही राज्यों के विषय में कही जा सकती है। पहले सभी देशों में बहुत से छोटे छोटे राज्य हुआ करते थे। ये सब अपने को एक दूसरे से अलग समझते थे, और अपनी संस्कृति व रीतिरिवाजों को महत्त्व देते थे। पर बाद में अनेक विजेताओं ने इनको विजय कर बड़े राज्यों का निर्माण किया, और धीरे-धीरे पुराने छोटे छोटे राज्यों की पृथक् संस्कृति नष्ट हो गई या एक विशाल राज्य की संस्कृति का अंग बन गई। यदि प्रत्येक राष्ट्रीयता को स्वभाग्य निर्णय का अधिकार रहे, तो विशाल व शक्तिशाली राज्यों का निर्माण सम्भव ही न हो, और संसार में फिर से बहुत-से छोटे छोटे राज्य कायम हो जाएँ। भारत के निवासियों में जो अनेक विभिन्नताएँ पाई जाती है, यदि उन्हें महत्त्व दिया जाने लगे और उन्हें स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार दे दिया जाए, तो शायद भारत के फिर बहुत से टुकड़े हो जाएँ।

(२) ऐसा राज्य अधिक शक्तिशाली होता है, जिसमें अनेक जातियों व राष्ट्रीयताओं का विकास व सम्मिश्रण हो। प्रत्येक राष्ट्रीयता के अपने गुण होते हैं, और अपनी विशेषताएँ। किसी में वीरता अधिक होती है, किसी में बुद्धि। जिस प्रकार अनेक धातुओं के मिश्रण से बनी हुई धातु अधिक मजबूत हो जाती है, वैसे ही विविध जातियों व राष्ट्रीयताओं के मिलने से राज्य की शक्ति बढ़ जाती है।

(३) उन्नति की दौड़ में पिछड़ी हुई जातियों के लिये उन्नत राष्ट्रों के सम्पर्क में आना बहुत लाभदायक होता है। यदि वे किसी उन्नत राष्ट्र की संरक्षा में रहें, तो वे सुगमता से उन्नति कर सकती है। स्वभाग्य निर्णय के अधिकार से पिछड़ी हुई जातियां पिछड़ी ही रह जाएँगी।

राष्ट्रवाद का समर्थन—राष्ट्रवाद के विरुद्ध जो युक्तियां दी गई हैं, उनमें कुछ-न कुछ सचाई अवश्य है। पर उनके कारण राष्ट्रीयता के स्वभाग्य निर्णय का सिद्धान्त अस्वीकार्य नहीं हो जाता। राष्ट्रवाद के समर्थन में निम्नलिखित युक्तियाँ दी जाती हैं—

(१) कोई राष्ट्रीयता तभी उन्नति कर सकती है जब कि वह पूर्णतया स्वतन्त्र हो, जब उसे स्वभाग्य-निर्णय का पूर्ण अधिकार हो। कोई राज्य चाहे कितना ही उन्नत सभ्य व उदार हो, वह दूसरे लोगों का उतना हित सम्पादन नहीं कर सकता, जितना कि वे अपने प्रयत्न से कर सकते हैं। इसी कारण अनेक विचारकों ने यह कहा है, कि सुराज्य कभी स्वराज्य का स्थान नहीं ले सकता। भारत के एक महापुरुष के शब्दों में विदेशी राज्य चाहे माता पिता के समान अपनी अधीनस्थ प्रजा का पालन करनेवाला ही क्यों न हो, पर उसका शासन स्वराज्य के सदृश नहीं हो सकता।

(२) प्रत्येक राष्ट्रीयता की जो अपनी संस्कृति व विशेषताएँ होती हैं, उनका

विकास तभी सम्भव है, जब कि उसे स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार हो। यदि आज स्कॉट व वेल्स लोग ग्रेट ब्रिटेन के अंग बन कर रह रहे हैं, तो इसका कारण यह है कि उन्होंने इसी में अपना लाभ समझा है। इंगलिश, स्कॉट व वेल्स लोगों में भाषा, धर्म, संस्कृति आदि के भेद इतने अधिक नहीं हैं, कि उनके लिए एक राष्ट्र का अंग बने रहना सम्भव न हो। पर आयरिश लोगों की भाषा और धर्म अंग्रेजों से इतने भिन्न हैं, कि वे ग्रेट ब्रिटेन का अंग बन कर नहीं रह सके। इसीलिए उन्होंने स्वाधीनता के लिए संघर्ष किया, और अब वे अपना स्वतन्त्र राष्ट्र बनाने में सफल हो गए हैं।

(३) किसी पिछड़ी हुई जाति के लिए उन्नत हो सकना केवल तभी सम्भव नहीं होता, जब कि वह किसी उन्नत राज्य के अधीन हो जाए। यूरोपियन देशों के मुकाबिले में जापान उन्नति के मार्ग में बहुत पीछे रह गया था। पर जब जापानी लोगों ने अनुभव कर लिया, कि हमें भी नए विज्ञान को अपना कर उन्नति करनी चाहिए, तो व शीघ्र ही यूरोप व अमेरिका के समकक्ष हो गए। भारत डेढ़ सदी के लगभग तक इंगलैण्ड जैसे उन्नत देश के अधीन रहा। पर इतने समय में भी यह देश उतनी उन्नति नहीं कर सका, जितनी कि आधी सदी से भी कम समय में जापान ने कर ली। विदेशी शासन के कारण भारत की उन्नति में सहायता नहीं मिली, अपितु रुकावट ही पड़ी।

(४) मनुष्यों में स्वाधीन रहने व एक दूसरे के समान रहने की प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से होती है। सब मनुष्य स्वतन्त्र रहना चाहते हैं, और कोई किसी से हीन बन कर नहीं रहना चाहता। समानता और स्वतन्त्रता के लिए जरूरी है, कि सब राष्ट्रीयताएँ स्वभाग्य निर्णय का अधिकार रखें।

(५) संसार में युद्ध इसी कारण होते हैं, कि कुछ शक्तिशाली राज्य दूसरों को अधीन कर अपने साम्राज्यों का निर्माण कर लेते हैं। यदि राष्ट्रीय स्वाधीनता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाए, तो न साम्राज्यवाद रहेगा, और न संसार में युद्धों की आवश्यकता ही रहेगी।

इन्हीं कारणों से आज राष्ट्रवाद का सिद्धान्त सर्वमान्य है। अब इस बात को सब स्वीकार करते हैं, कि प्रत्येक राष्ट्रीयता को स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार होना चाहिए। यदि कोई राष्ट्रीयता अपना हित इस बात में समझे कि उसे किसी अन्य उन्नत राष्ट्रीयता के साथ मिलकर एक संगठन में संगठित होना चाहिए, तो उस वैसा करने का अवसर मिलना चाहिए। इसके विपरीत यदि कोई राष्ट्रीयता यह चाहे कि उसे अपना एक पृथक् राज्य बनाना है, तो उस राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का पूर्ण अधिकार होना चाहिए।

राष्ट्रीयता के अधिकार—

जो जातियाँ व राष्ट्रीयताएँ अपना स्वतन्त्र व पृथक् राज्य न बनाकर किसी अन्य राज्य का अग बनकर रहती हैं, उनके भी कतिपय अधिकार होते हैं जिनका सरक्षण अवश्य किया जाना चाहिए। कई जातियाँ सख्या मे इतनी कम होती हैं, कि उनका पृथक राज्य बन सकना सम्भव नही होता। कई जातियाँ अन्य जातियो के साथ इस तरह मिलकर बसी होती हैं, कि उनका प्रदेश पृथक् नही किया जा सकता। भारत के एग्लो इण्डियन लोग अलग भाषा बोलते है, अलग सस्कृति रखते हैं, पर उन्हे अन्य भारतवासियो के साथ मिलकर ही रहना है। भारत मे या कही अन्यत्र उनका पृथक् राज्य बन सकना क्रियात्मक नही है। इस ढग के लोगो को राष्ट्रीय अल्पसख्यक जातियाँ (National Minorities) कहा जाता है। इनके निम्नलिखित अधिकार स्वीकार किए जाते हैं—

(१) **पृथक् सत्ता का अधिकार** (Right to exist)—प्रत्येक राष्ट्रीयता को अधिकार है, *कि वह अपना पृथक् अस्तित्व रख सके। बडी राष्ट्रीयता उसे अपने मे लीन कर लेने का प्रयत्न न करे।*

(२) **भाषा का अधिकार** (Right of language)—प्रत्येक राष्ट्रीयता को अधिकार है कि वह अपनी भाषा का प्रयोग करे और उसमे साहित्य, काव्य आदि का विकास करे। भारत मे कितनी ही भाषाओं को बोलने वाले लोगों का निवास है। नए सविधान मे उनकी भाषा के अधिकार को स्वीकार किया गया है। चीन के अन्तर्गत तिब्बती आदि अल्पसख्यक लोगो को अपनी भाषाओ का प्रयोग करने व विकास करने का अधिकार प्राप्त है।

(३) **अपने व्यवहार, चरित्र व कानून को कायम रखने का अधिकार** (Right of Retention of local customs and laws)—विवाह, विरासत आदि के विषय मे विभिन्न राष्ट्रीयताओ के अपने-अपने व्यवहार व कानून होते हे। भारत के बहुसख्यक निवासी हिन्दू हैं। पर ईसाई, मुसलमान, सिक्ख, पारसी आदि भी यहाँ अच्छी बडी सख्या म रहते हैं। इन सबके विवाह, विरासत आदि के रीति रिवाज व कानून अलग-अलग है। इन्हे यह अधिकर होना चाहिए, कि इन मामलो मे अपने कानून व रीति-रिवाज आदि को कायम रख सक।

(४) **धर्म व सस्कृति का अधिकार** (Right of Religion and Culture)—भाषा व रीति रिवाज आदि के समान प्रत्येक राष्ट्रीयता को यह भी अधिकार है, कि वह अपने धर्म व सस्कृति को कायम रख सके। राज्य के बहुसख्यक निवासी यह यत्न न करें कि सबको अपने धर्म का अनुयायी बना लें व सबको एक ही सस्कृति के रग मे रग दें।

देशभक्ति (Patriotism)—

देशभक्ति एक भावना है, जो मनुष्यों में स्वाभाविक रूप से होती है। जिस प्रकार हम अपने से प्रेम करते हैं, वैसे ही अपने परिवार, अपनी बिरादरी, अपने ग्राम, अपने नगर, अपने धार्मिक सम्प्रदाय, अपने आर्थिक समुदाय, अपने प्रान्त व अपने देश के प्रति भी आत्मीयता का अनुभव करते हैं। क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह समुदाय में रहता है, और समुदाय में रहकर ही अपनी उन्नति करता है, अतः विविध समुदायों व समाज के प्रति भी उसके अनेक प्रकार के कर्तव्य हो जाते हैं। देशभक्ति इसी प्रकार का एक कर्तव्य है।

यह ठीक है, कि सारा मनुष्य समाज एक है। संस्कृत में एक कहावत है—"उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्"। इसका अर्थ यह है, कि उदार व प्रगतिशील लोगों के लिए तो सारी पृथिवी ही एक कुटुम्ब के समान है। पर सारी पृथिवी को एक कुटुम्ब मानने से पूर्व मनुष्य के लिए यह आवश्यक है, कि वह पहले अधिक संकुचित क्षेत्र में आत्मभावना को विकसित करे। जो मनुष्य अपने कुटुम्ब के प्रति कर्तव्य-पालन नहीं करता, उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि वह अपने ग्राम, प्रान्त व देश के प्रति कर्तव्य-पालन कर सकेगा। इसी प्रकार जो मनुष्य अपने देश के प्रति कर्तव्य पालन नहीं करता, अपने देश को अपना कुटुम्ब नहीं मानता, उससे यह आशा कैसे की जा सकती है, कि वह सारे संसार को व सम्पूर्ण मानव समाज को अपना कुटुम्ब समझेगा और उसके प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करेगा। इसीलिए महात्मा गांधी कहा करते थे कि मैं सम्पूर्ण मानव समाज से प्रेम करता हूँ, इसीलिए अपने देश से भी प्रेम करता हूँ। स्वदेश की स्वतन्त्रता व उन्नति के लिए मैं इसी कारण प्रयत्नशील हूँ, ताकि सम्पूर्ण मानव समाज की उन्नति व कल्याण हो। सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझने की भावना भी धीरे धीरे ही विकसित हो सकती है। इस भावना का विकास हम पहले अपने कुटुम्ब में करते हैं, फिर अपने ग्राम व नगर में, फिर अपने प्रान्त में, फिर अपने देश में और फिर सम्पूर्ण मानव समाज में। देशभक्ति का आदर्श किसी संकुचित भावना को प्रगट नहीं करता। वह अधिक ऊँचे आदर्श (मानव समाज के प्रति कर्तव्य-पालन के आदर्श) तक पहुँचने में सहायक होता है, बाधक नहीं।

देशभक्ति में निम्नलिखित बातों का समावेश होता है—

(१) प्रत्येक नागरिक को अपने देश की रक्षा व स्वतन्त्रता के लिए न केवल धन की अपितु अपने प्राणों तक की आहुति दे देने के लिए उद्यत रहना चाहिए।

(२) किसी नागरिक को केवल अपनी उन्नति में ही सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिए, अपितु सबकी उन्नति में ही अपनी उन्नति समझना चाहिए। जब तक देश में कोई भी मनुष्य दुःखी, दरिद्र व पीडित है, तब तक नागरिक को चैन नहीं होनी

चाहिए, और उसका सदा यह यत्न रहना चाहिए कि सब देशवासी सुखी, सतुष्ट और समृद्ध हो।

(३) देश न जमीन, नदी और पहाडो को ही कहते हैं और न केवल उसमे निवास करने वाले मनुष्यो को ही। प्रत्येक देश की अपनी सभ्यता होती है, अपनी सस्कृति, धर्म, रीति-रिवाज व भाषा होती है। जब हम अपने देश के प्रति भक्ति रखें, तो हम अपनी सस्कृति, भाषा, धर्म व रीति रिवाज आदि से भी प्रेम होना चाहिए। हमें अपने देश व उसकी सस्कृति के लिए गर्व अनुभव करना चाहिए। किसी कवि ने क्या ही ठीक कहा है—

जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है,
वह नर नही नरपशु निरा है और मृतक समान है।

सस्कृत का यह वाक्य भी यहाँ लिखने योग्य है—'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी जन्मभूमि स्वर्ग से भी बढकर होती है। उसकी भक्ति करना और उसके प्रति गौरव का अनुभव करना प्रत्येक मनुष्य के लिए परम आवश्यक है।

अन्तर्राष्ट्रीयता (Internationalism)

पर हमे अपनी दृष्टि को केवल अपने देश तक ही सकुचित नही रखना चाहिए। हमे यह भी समझना चाहिए, कि हमारा देश व हमारा राष्ट्र सम्पूर्ण मानव-समाज का अग है। हमारी देशभक्ति व राष्ट्रप्रेम का रूप ऐसा नही होना चाहिए, जो सम्पूर्ण मानव समाज के लिए अहितकर हो। विज्ञान की उन्नति के कारण ससार के विविध देश जिस ढग से एक-दूसरे के समीप आ गये हैं, उसके कारण इस अन्तर्राष्ट्रीयता का महत्व बहुत अधिक बढ गया है। अगले अध्याय में हम इस पर विशद रूप से विचार करेंगे।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ स्वाधीन भारत के नागरिक का नागरिक आदर्श क्या होना चाहिए? (यू० पी० १६५२)

२ राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता का क्या अभिप्राय है? क्या ये दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं? (राजपूताना १६४४)

३ राष्ट्रीयता का क्या अभिप्राय है? राष्ट्रीयता के आवश्यक तत्वो का विवेचन कीजिए।

४ भारत की राष्ट्रीय एकता को आप किस अश मे व किस रूप मे स्वीकार करते हैं?

५ राष्ट्रीयता के अधिकारो पर विशद रूप से प्रकाश डालिये।

६. राष्ट्रीयता के गुणों और दोषों का विवेचन कीजिये।

७. प्रत्येक राष्ट्रीयता को स्वभाग्य निर्णय का अधिकार होना चाहिए, क्या आप इस मन्तव्य से सहमत हैं ?

८ वे कौन से तत्व हैं, जो राष्ट्रीयता का निर्माण करते हैं ? क्या भारत को एक राष्ट्र कहा जा सकता है ? (यू० पी०, १६४७)

९. देशभक्ति और राष्ट्रीयता पर निबन्ध लिखिये।

अट्ठाईसवां अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीयता और विश्व सरकार का विचार

(Internationalism and World Government)

अन्तर्राष्ट्रीयता—

आजकल मनुष्यो के सामुदायिक जीवन का क्षेत्र केवल अपने देश तक ही सीमित नहीं रह गया है। ससार के एक कोने मे जो घटना घटती है, उसका प्रभाव अब दूर के देशो पर भी पडता है। यदि उत्तरी अफ्रीका के फ्रेञ्च उपनिवेशो मे विद्रोह हो जाए, कोरिया में लडाई शुरू हो जाए या काश्मीर के प्रश्न पर भारत और पाकिस्तान के सम्बन्ध अधिक कटु हो जाएँ, तो ससार के अन्य देश इन घटनाओ की उपेक्षा नहीं कर सकते। ज्ञान-विज्ञान की उन्नति के कारण आधुनिक समय में ससार के विविध देश एक दूसरे के बहुत समीप आ गये हैं। यदि भविष्य मे कभी महायुद्ध प्रारम्भ होगा, तो पृथिवी का शायद ही कोई देश उसके असर से बचा रह सकेगा। एटम बम और हाइड्रोजन बम के रूप मे अब ऐसे प्रलयकारी अस्त्रो का आविष्कार हो गया है, जिनका प्रभाव सैकडो, हजारो मीलो तक पडता है। इस दशा मे यह स्वाभाविक है, कि मनुष्य केवल अपने कुटुम्ब, ग्राम, प्रान्त व देश के हितो को ही दृष्टि मे न रखे, अपितु सम्पूर्ण मानव समाज को एक समुदाय मानकर उसके हित, कल्याण व उन्नति को अपना ध्येय माने। इसी कारण अब सकीर्ण राष्ट्रवाद से काम नहीं चल सकता, और लोगो के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वे महत्वपूर्ण प्रश्नो पर सकीर्ण राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार न करके अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार किया करें।

अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास—जिस प्रकार समाज मे रहते हुए विविध व्यक्ति एक दूसरे के सम्पर्क मे आते हैं, वैसे ही विविध राज्य भी एक दूसरे के सम्पर्क मे आने के अनेक अवसर प्राप्त करते हैं। प्राचीन समय मे जब कि मनुष्य के पास घोडे की अपेक्षा अधिक तेज चलने वाली कोई सवारी नहीं थी, तब भी विविध राज्य एक-दूसरे के सम्पर्क मे आया करते थे, और परस्पर ऐसी सन्धियाँ किया करते थे, जिनसे वे अपने हितो की रक्षा करने मे समर्थ हो सकें। आजकल तो इस प्रकार के अवसर बहुत अधिक बढ गये हैं। इसके कारण निम्नलिखित हैं—

(१) आधुनिक समय मे ज्ञान विज्ञान की जो असाधारण उन्नति हुई है,

उनके कारण मनुष्य ने देश और काल पर अद्भुत विजय प्राप्त कर ली है। रेल और मोटरकार के कारण यूरोप में फ्रांस, इटली, तुर्की, स्पेन आदि राज्यों में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ, और भाप व यान्त्रिक शक्ति से चलनेवाले जहाजों से यूरोप, एशिया, अफ्रीका, अमरिका आदि महाद्वीपों की दूरी बहुत कम हो गई। हवाई जहाज के आविष्कार के कारण तो अब सारी पृथिवी के निवासी एक छोटे-से द्वीप के निवासियों के समान एक दूसरे के बहुत समीप आ गये हैं। अब भारत से लण्डन तक २० घण्टे से भी कम समय में पहुँचा जा सकता है, और लण्डन से न्यूयार्क जाकर उसी दिन वापस भी लौटा जा सकता है।

तार, रेडियो, टेलीफोन आदि द्वारा एक स्थान का समाचार संसार के किसी भी कोने में बात की बात में पहुँचाया जा सकता है। अब हजारों मील की दूरी पर बैठे हुए लोगों के लिए भी यह सम्भव हो गया है, कि वे आपस में बातचीत भी कर सकें।

(२) आने-जाने और समाचार भेजने के साधनों की उन्नति के कारण अब व्यापार का स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है। अब मनुष्यों का आर्थिक जीवन किसी एक देश तक ही सीमित नहीं रहा है, अपितु संसार के विविध राज्यों का आर्थिक, व्यावसायिक व व्यापारिक जीवन एक दूसरे के साथ बहुत घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। भारत के किसी मध्यश्रेणि के परिवार को ही लीजिये। उनके घर में जो रेडियो रखा है, वह शायद अमेरिका या हालैण्ड का बना हुआ है। वह जिस कलम से लिखता है, वह शायद जर्मनी का बना है। वह चाय में जिस डब्बे के दूध का प्रयोग करता है, वह शायद न्यूजीलैण्ड या डनमार्क से आया है। उसने जो गरम सूट पहना हुआ है, उसका कपड़ा शायद इङ्गलैण्ड की किसी मिल में बना है। उसकी मेज पर जो पुस्तक रखी है, वह शायद रूस, चीन या अमेरिका की छपी हुई है, और वह जिस लिफाफे में बन्द करके अपनी चिट्ठी भेजता है, वह शायद इटली का बना हुआ है। यदि इङ्गलैण्ड के कारखानों में हड़ताल होती है, तो उसका प्रभाव भारत पर भी पड़ता है। यहाँ भी वस्तुओं की कीमतें बढ़ने लगती हैं। यदि कोरिया में लड़ाई शुरू होती है, तो दैनिक जीवन में काम आनेवाली कितनी ही वस्तुएँ बाजार में अलभ्य हो जाती हैं।

(३) प्रेस, समाचारपत्र और रेडियो के कारण अब विविध देशों के निवासियों को एक दूसरे के धर्म, सभ्यता और संस्कृति को समझने का अवसर मिलता है। हम भारत में अपने घर बैठे हुए न्यूयार्क, पेरिस व लण्डन का संगीत सुन सकते हैं। अपने देश के समाचारपत्रों में हम संसार भर के समाचार पढ़ते हैं, और किसी भी देश व धर्म का साहित्य आज हमारे लिए सुलभ है। प्रेस के आविष्कार के कारण अब हमें शेक्सपियर, मिल्टन व वाल्तेयर ऐसे साहित्यकार नहीं प्रतीत होते, जिनका हमारे

साथ कोई सम्बन्ध न हो। अब हम विविध धर्मों के मन्तव्यो और विविध देशो के विचारो से भली भांति अवगत हो सकते हैं। गीता, बाइबल और त्रिपिटक जैसी पुस्तकें अब केवल किसी एक धर्म के अनुयायी ही नही पढते, अपितु सब देशों के लोग उनसे समानरूप से लाभ उठाते हैं। इन सब बातो का परिणाम यह है, कि दुनिया भर के लोगो को एक दूसरे को समझने का अवसर मिलता है, और इनसे सास्कृतिक एकता स्थापित होने म सहायता मिलती है।

(४) नये प्रलयकारी अस्त्र शस्त्रो के आविष्कार के कारण अब लोग यह अनुभव करने लग गये हैं, कि युद्ध द्वारा मानव सभ्यता की सत्ता ही खतरे मे पड जायगी। इसलिए वे शान्तिमय उपायो द्वारा अपने झगडो को निपटाने की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय सगठन—ऊपर जिन कारणो का उल्लेख किया गया है, उनसे अब ससार के विविध देश अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग पर बडी तेजी के साथ आगे बढ रहे हैं। अब अन्तर्राष्ट्रीयता के बिना मनुष्य का काम चल ही नही सकता। इसीलिए पिछली दो सदियों मे बहुत से अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो का निर्माण हुआ है, जिसकी सख्या ७०० से भी अधिक है। इनम मुख्य निम्नलिखित हैं—

(१) विदेशो मे डाक तार आदि भेजने की सुविधा के लिये अन्तर्राष्ट्रीय पोस्टल यूनियन और विश्व टेलीग्राफ यूनियन कायम हैं। यदि हमे चीन, अमेरिका व इङ्गलैण्ड मे कोई पत्र या पार्सल भेजना हो तो हम उसे अपने पोस्ट आफिस से भेज सकते हैं। अपने तारघर से हम कितने ही दूसर देशो को तार भी भेज सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और विदेश-यात्रा मे वृद्धि के कारण अब एक देश से दूसरे देश को भेजे जानेवाले पत्रो, पार्सलो व तारों आदि की सख्या बहुत बढ गई है। इस काम के लिए विश्व भर के राज्यो का एक सगठन बनाये बिना अब काम नही चल सकता। आवश्यकता से विवश होकर विविध राज्यो ने डाक और तार की सुविधा के लिए अपना एक यूनियन बनाया, और इस अन्तर्राष्ट्रीय सस्था के नियमो को मानना स्वीकार किया। हम अपने देश के जो टिकट चिट्ठी पर लगाते हैं, उन्ही से विदेश मे भी हमारी चिट्ठी पहुँच जाती है। पोस्ट आफिस द्वारा हम दूसरे देशो मे रुपया भी भेज सकते हैं। यह तभी सम्भव है, जब कि विविध राज्यो का एक सगठन इसी प्रयोजन से बना हुआ हो।

(२) व्यापार और विदेश यात्रा बहुत बढ जाने के कारण एक देश मे विद्यमान महामारी दूसरे देशो मे भी फैल सकती है। यदि कलकत्ता मे हैजा फैला हुआ है तो वहां से लण्डन जानेवाला यात्री हैजे के कीटाणुओ को इङ्गलैण्ड ले जा सकता है। इसे रोकने के लिये और यह व्यवस्था करने के लिये कि हैजा, चेचक आदि छूत के रोग एक देश से दूसरे देश म न फैलने पाएँ, एक अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य कमीशन का

संगठन किया गया है। इस कमीशन के नियमों द्वारा प्रत्येक यात्री के लिए यह आवश्यक होता है, कि वह विदेश जाने से पहले हैजे और चेचक के टीके लगवा ले। कई देशों में जाने के लिये टाइफाइड का टीका भी लगवाना पड़ता है।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वृद्धि के कारण इस बात की आवश्यकता भी हुई है, कि अनेक ऐसे संगठनों का निर्माण किया जाए, जिनमें विविध देशों के व्यापारिक व व्यावसायिक जीवन का नियन्त्रण किया जा सके। इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों में अन्तर्राष्ट्रीय श्रमीसंघ अन्तर्राष्ट्रीय आयात-निर्यात कमीशन और अन्तर्राष्ट्रीय कृषि-संस्था प्रमुख हैं।

राजनीतिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता—वैज्ञानिक उन्नति के कारण मनुष्यों को जहां अनेक लाभ पहुँचे हैं, वहाँ उनसे एक भारी नुकसान भी हुआ है। अब युद्ध बहुत भयंकर हो गये हैं। जिस समय मनुष्य तलवार, धनुष बाण व बन्दूक से लड़ा करता था, तो युद्ध के कारण ग्रामों व नगरों का विनाश नहीं होता था। प्राचीन समय में जब योद्धा लोग रणक्षेत्र में लड़ रहे होते थे, तो पड़ोस में ही किसान लोग निश्चिन्त होकर खेती में लगे रह सकते थे। पर अब यह बात सम्भव नहीं रही है। विज्ञान ने मनुष्यों के हाथ में जो नये विनाशकारी हथियार दे दिये हैं, उनके कारण अब युद्ध के समय किसी का भी जीवन सुरक्षित नहीं रहा है। आजकल के युद्धों में हवाई जहाज द्वारा बम्ब गिराये जाते हैं, जो क्षण भर में फलते फूलते नगरों और ग्रामों को नष्ट कर देते हैं। अब एटम बम्ब के कारण तो एक विशाल नगर को देखते-देखते नष्ट कर दिया जा सकता है। मनुष्य केवल एटम बम्ब का आविष्कार करके ही संतुष्ट नहीं हुआ है, अपितु उसकी अपेक्षा भी अधिक भयंकर हथियार ईजाद करने के लिये वह प्रयत्नशील है। हाइड्रोजन बम्ब के रूप में अब एक ऐसा अस्त्र बन गया है, जिसका असर हजारों मीलों तक पड़ता है।

इस दशा में विचारकों के लिये यह सोचना बिल्कुल स्वाभाविक है, कि कोई ऐसा उपाय किया जाना चाहिये, जिससे युद्ध की सम्भावना न रह जाए और मनुष्य-जाति व मानव-सभ्यता का सर्वनाश न होने पाए। जब मनुष्य एक साथ रहते हैं, तो उनमें अनेक बातों पर झगड़े पैदा होते ही हैं। इसी प्रकार जब अनेक राज्य होंगे, तब उनमें भी झगड़े के हेतु उत्पन्न होते ही रहेंगे। पर सभ्य मनुष्यों के लिये शांतिमय उपायों द्वारा इन झगड़ों को निपटा सकना सम्भव होना चाहिए। पहले जब राज्य संस्था नहीं थी, अराजक दशा थी, तो व्यक्ति भी लड़ाई द्वारा ही अपने झगड़ों को निबटाया करते थे। जो कोई बलवान् होता था, वह निर्बलों के साथ मनमाना व्यवहार कर सकता था। पर राजसंस्था के संगठन के कारण अब मनुष्य अपने झगड़ों का फैसला लड़ाई द्वारा नहीं करते। वे न्यायालय में अपने मामलों को पेश करते हैं, और न्यायालय के फैसले को स्वीकार करते हैं। जो दशा पहले व्यक्तियों की थी, वही

अब राज्यो की है। यदि दो राज्यो मे किसी बात पर झगडा हो, तो उसका फैसला करने के लिए वे युद्ध के उपाय का प्रयोग करते हैं। युद्ध द्वारा जो फैसला होता है, उसका आधार न्याय न होकर शक्ति होती है। जो राज्य अधिक शक्तिशाली हो, युद्ध मे उसी की विजय होती है। पर यदि पृथिवी के विविध राज्यो का कोई अन्तर्राष्ट्रीय सगठन बन जाए, तो राज्यो के आपसी झगडो को निबटाने के लिए युद्ध की आवश्यकता नही रह जायगी। तब वे शान्तिमय उपायो से अपने झगडो को निबटा सकने मे समर्थ होग।

अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के विविध प्रयत्न—

उन्नीसवी सदी के अन्त मे हेग मे एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ, जिसमे यह निश्चय किया गया कि युद्धो को रोकने के लिए एक स्थायी पच न्यायालय (Permanent Court of Arbitration) की स्थापना की जाए, जिसके सम्मुख विविध राज्यो के आपसी झगडो को न्याय के लिए पेश किया जा सके। इस पच न्यायालय के सामने अनेक मामले पेश भी किये गये और इसने कुछ उपयोगी कार्य भी किया।

राष्ट्रसघ (League of Nations) —बीसवी सदी का प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) बहुत ही भयकर व व्यापक था। उसमे धन और जन का बहुत बुरी तरह से सहार हुआ था। उसके परिणामो को देखकर ससार के राजनीतिज्ञो ने अनुभव किया, कि विविध राज्यो को परस्पर मिलकर अपना एक ऐसा सघ बना लेना चाहिये, जो उनके झगडो मे मध्यस्थता का कार्य कर सके। इसी उद्देश्य से राष्ट्रसघ की स्थापना की गई थी। इस सघ के उद्देश्य निम्नलिखित थे—

(१) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, शाति और सुरक्षा (Security) को प्रोत्साहित करना।

(२) हथियारो व सेनाओ म कमी करना।

(३) युद्धो को रोकने व राज्यो के आपसी झगडो का युद्ध के अतिरिक्त अन्य शातिमय उपायो से फैसला कराने का यत्न करना।

राष्ट्रसघ मे सम्मिलित राज्यो ने यह जिम्मा लिया था, कि वे एक दूसरे की सीमाओ को सुरक्षित रखेगे, और यदि कोई अन्य राज्य उनमे से किसी एक पर भी आक्रमण करे, तो सब मिलकर उसका मुकाबिला करेगे।

राज्यो मे परस्पर शाति स्थापित रखने के लिये राष्ट्रसघ निम्नलिखित सिद्धांतों का अनुसरण करता था—

(१) सब सदस्य-राज्यो से यह आशा की जाती थी, कि वे अपने झगडो को निबटाने के लिये युद्ध के उपाय का आश्रय नही लेंगे। वे किसी को मध्यस्थ बनाकर मध्यस्थ निर्णय (Arbitration) द्वारा अपने झगडो को निबटायेगे। यदि इस तरह

झगडा न निबटे, तो वे उसे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्मुख पेश करेंगे और उसके निर्णय को स्वीकार करेंगे।

(२) सब सदस्य-राज्य अपने विदेशी सम्बन्धो मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन करेंगे।

(३) राज्यो ने आपस मे जो सधियाँ की हुई हो, किसी भी दशा मे वे उनका उल्लघन नही करेंगे।

(४) कोई राज्य किसी अन्य राज्य से गुप्त सधियाँ नही करेगा।

(५) अस्त्र-शस्त्रो की सख्या मे कमी की जायगी। कोई राज्य कितनी सेना रखे और कितने अस्त्र-शस्त्र रख सके, इसका निर्णय आपस की बातचीत द्वारा किया जायगा।

(६) यदि कोई राज्य मध्यस्थ व अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय को मानने के लिये उद्यत न हो, तो अन्य सब राज्य मिलकर उसके विरुद्ध कार्रवाई कर सकेंगे।

राष्ट्रसघ ससार के विविध राज्यो का पहला ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय सगठन था, जिसमे ससार के बहुसख्यक राज्य सदस्यरूप मे शामिल हुए थे। उसने अनेक उपयोगी कार्य भी किये। पर उसे अपने उद्देश्य मे सफलता नही मिल सकी। इसका प्रधान कारण यह था, कि ससार के कुछ राज्य साम्राज्यवादी थे। उनके बडे बडे साम्राज्य थ। साथ ही अनेक राज्य ऐसे थे, जिनके पास कोई भी साम्राज्य नही था, या नाम-मात्र का साम्राज्य था। ब्रिटेन, फ्रास, हालैण्ड आदि अनेक देशो ने एशिया और अफ्रीका के बहुत से प्रदेशो को अपने अधीन किया हुआ था। इसके विपरीत जर्मनी, इटली और जापान ऐसे देश थे, जो शक्तिशाली होते हुए भी साम्राज्य से विहीन थे। इङ्गलैण्ड, फ्रास आदि को देखकर उनकी भी साम्राज्य निर्माण की इच्छा होती थी। इसी कारण उन्होंने अन्य देशो को अपने अधीन करने का प्रयत्न शुरू कर दिया, और राष्ट्रसघ की उन्होने जरा भी परवाह नहीं की। परिणाम यह हुआ, कि राष्ट्रसघ टूट गया और द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) का प्रारम्भ हुआ।

सयुक्त राज्यसंघ (United Nations' Organisation)—

१९३९-४५ के महायुद्ध के विनाशकारी परिणामो को देखकर एक बार फिर इस बात की आवश्यकता अनुभव की गई, कि ससार से युद्धो का अन्त करने और राज्यों के आपसी झगडो को शान्तिमय उपायो से निबटाने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन का निर्माण किया जाना चाहिये। इसी उद्देश्य से सयुक्त राज्यसघ (U N-O) का सगठन किया गया। जर्मनी और उसके साथियो को पराजित करने मे जो राज्य इग्लैंड, अमेरिका, फ्रास, रूस और चीन के साथ महायुद्ध मे शामिल हुए थे, वे सब इस सघ मे शामिल हुए। शुरू मे इस सघ के सदस्य-राज्यो की सख्या ५१ थी। अब

वह बढकर १०० से लगभग पहुँच चुकी है। इस सघ का सगठन इस प्रकार है—

(१) जनरल एसेम्बली—सयुक्त राज्य सघ मे सम्मिलित सब सदस्य-राज्यो को अधिकार है कि वे अपने पाँच-पाँच प्रतिनिधि जनरल एसेम्बली म भेज सकें। राज्य चाहे छोटा हो या बडा, सबके पाँच-पाँच प्रतिनिधि एसेम्बली मे आते हैं। प्रत्येक राज्य का एक वोट माना जाता है। कोई राज्य चाहे रूस व अमेरिका के समान विशाल व शक्तिशाली हो, और चाहे बेल्जियम जैसा छोटा, एसेम्बली मे सबकी स्थिति एक बराबर मानी जाती है।

प्रतिवर्ष दो सितम्बर के बाद जो पहला मगलवार पडे, उस दिन एसेम्बली का वार्षिक अधिवेशन प्रारम्भ होता है। पर यदि सदस्य राज्य चाहे, तो किसी अन्य समय भी एसेम्बली का अधिवेशन बुलाया जा सकता है। एसेम्बली के अधिवेशनो मे विविध अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ पर विचार किया जाता है, सुरक्षा परिषद् व अन्य उपसमितियो के लिये सदस्य निर्वाचित किये जाते हैं, और ससार मे शाति व व्यवस्था कायम रखने के लिये विविध योजनाओ का निर्माण किया जाता है।

(२) सुरक्षा परिषद् (Security Council)—सयुक्त राज्यसघ की सबसे शक्तिशाली सस्था 'सुरक्षा परिषद्' है। इसके कुल ग्यारह सदस्य होते हैं। ब्रिटन, अमेरिका, रूस, फ्रास और चीन ये पाँच राज्य इसके स्थिर सदस्य हैं। इनका एक-एक प्रतिनिधि स्थिर रूप से परिषद् मे रहता है। सघ के शेष सब सदस्य-राज्य मिलकर अपने म से छ प्रतिनिधि परिषद् के लिये निर्वाचित करते है। पाँचो प्रमुख राज्यो (ब्रिटेन, रूस, अमेरिका, फ्रास और चीन) को वीटो का अधिकार है। यदि परिषद् के किसी निर्णय से इन पाँच राज्यो मे से कोई भी एक असहमत हो, तो वह अपने वीटो के अधिकार का प्रयोग कर उसे रद्द कर सकता है। इस अधिकार के कारण सयुक्त राज्य सघ की अन्तर्राष्ट्रीय झगडो को निबटा सकने की शक्ति बहुत सीमित हो गई है। छोटे राज्यो के साधारण मामलो का फैसला करने म सघ अवश्य सफल हो जाता है, पर यदि कोई ऐसा मामला उसके सामने पेश हो, जिसके सम्बन्ध मे रूस और अमेरिका जैसे शक्तिशाली राज्यो मे मतभेद हो, तो सघ उसका कोई भी फैसला नही कर पाता।

सुरक्षा परिषद् सयुक्त राज्य सघ की ऐसी स्थिर सस्था है, जिसके अधिवेशन निरन्तर होते रहते हैं। परिषद् के सदस्य-राज्यो का एक एक प्रतिनिधि स्थिर रूप से सघ के केन्द्रीय कार्यालय मे रहता है। इस कारण जब कोई महत्त्वपूर्ण मामला पश हो, तो परिषद् का अधिवेशन सुगमता से किया जा सकता है। सुरक्षा परिषद् की स्थिति सघ की कार्यकारिणी समिति के समान है।

(३) कार्यालय—सयुक्त राज्य सघ के काय को चलाने के लिए एक केन्द्रीय कार्यालय (Secretariat) भी है, जिसका प्रधान सेक्रेटरी जनरल या प्रधान सचिव

कहाता है। सुरक्षा परिषद् की सिफारिश के अनुसार इसकी नियुक्ति पांच साल के लिए जनरल एसेम्बली द्वारा की जाती है। कार्यालय के आठ मुख्य विभाग हैं, जिन सबका एक-एक प्रधान अधिकारी होता है, जिन्हें सहायक प्रधान सचिव कहते हैं।

संयुक्त राज्य संघ के अधीन अनेक संस्थाएं व परिषदें इस उद्देश्य से कार्य करती हैं, कि विविध राज्यों में परस्पर सहयोग बढ़ सके और उनके झगड़ों का निर्णय शांतिमय उपायों द्वारा किया जा सके। इनमें से प्रमुख संस्थाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) **अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय**—यह न्यायालय हेग में स्थापित है, और इसमें कुल मिलाकर १५ न्यायाधीश हैं। इसके सम्मुख तीन प्रकार के मामले पेश किए जाते हैं—(क) सब राज्यों को अधिकार है, कि वे दूसरे किसी राज्य के साथ अपने किसी झगड़े को इस न्यायालय के सम्मुख विचारार्थ पेश कर सकें। (ख) अन्तर्राष्ट्रीय संधियों, समझौतों व परम्पराओं के सम्बन्ध में यदि कोई विवाद हो, तो उसका निर्णय भी इस न्यायालय द्वारा कराया जा सकता है। (ग) यदि कोई राज्य यह स्वीकार कर ले, कि वह सदा के लिए या कुछ समय के लिए अपने अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का फैसला इस न्यायालय द्वारा कराएगा, तो ऐसे राज्य के मामले स्वयमेव इसके सम्मुख पेश हो जाते हैं।

(२) **संयुक्त राज्य शिक्षा विज्ञान व सांस्कृतिक परिषद्**—(United Nations' Educational Scientific and Cultural Organisation)—शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति के क्षेत्र में विविध राज्यों का सहयोग उनकी आपस की विभिन्नताओं और विरोध के कारणों को मिटाने के लिए सबसे अधिक उपयोगी है। इस परिषद् का उद्देश्य यही है, कि शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति के क्षेत्र में विविध राज्यों के पारस्परिक सहयोग को प्रोत्साहन दे।

(३) **अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ** (International Labour Organisation)—इसका उद्देश्य संसार-भर के मजदूरों के हितों की रक्षा करना, उनके लिए हितकारी कानूनों का निर्माण करवाना और श्रम-सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करना है। यदि संसार भर के मजदूरों के प्रतिनिधि एक साथ मिलकर अपनी समस्याओं का हल करें, और केवल अपने राज्य के मजदूरों के हितों का ही नहीं अपितु संसार भर के मजदूरों के हितों को अपनी दृष्टि में रखें, तो सर्वसाधारण जनता में अन्तर्राष्ट्रीय भावना के विकास में बहुत सहायता मिल सकती है, और उसके कारण विविध राज्यों के विरोधों में बहुत कमी आ सकती है—इन्हीं विचारों से इस संघ की स्थापना की गई है।

(४) **आर्थिक व सामाजिक परिषद्**—इसका उद्देश्य यह है, कि विविध देशों की जनता के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाया जाए, बेकारी दूर हो, सबकी आर्थिक व सामाजिक उन्नति हो, और नसल, लिंग, भाषा व धर्म का भेदभाव किए

रखता हो। राष्ट्रीयता बहुत अच्छी बात है, क्योकि उसके कारण मनुष्य सामूहिक हितों के लिये अपने व्यक्तिगत हितो को कुर्बान कर देने की प्रेरणा प्राप्त करते हैं। पर ससार राष्ट्र की अपेक्षा भी अधिक बडा है। विज्ञान की असाधारण उन्नति के कारण वर्तमान समय मे जो स्थिति उत्पन्न हो गई है, उसमे ससार मे शाति स्थापित रहे बिना कोई भी राष्ट्र शान्तिपूर्वक अपनी उन्नति मे तत्पर नही रह सकता। अब मनुष्यों के लिए इस तथ्य को भली भाँति समझ लेना परमावश्यक हो गया है, कि हमारे व्यक्तिगत व राष्ट्रीय हित इसी बात पर निर्भर करते है कि ससार मे सर्वत्र शाति और व्यवस्था कायम रहे। अब कोई राज्य केवल अपने हितो को ही दृष्टि मे नही रख सकता। सब मनुष्य एक ही पृथिवी माता के पुत्र है, सब परस्पर भाई भाई हैं, सबकी उन्नति म ही अपनी उन्नति है—इन विचारो के बिना अब ससार मे शाति नही रह सकती। इन्ही विचारो को 'अन्तर्राष्ट्रीयता' कहा जाता है। इसे क्रिया म परिणत करने के लिये निम्नलिखित बातो की आवश्यकता है—

(१) सब लोगो को राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त हो, साम्राज्यवाद का अन्त हो जाए, और कोई देश किसी अन्य देश को अपनी अधीनता मे न रखे।

(२) सब राज्य युद्ध की सम्भावना से निश्चित होकर अपनी उन्नति म तत्पर हो और शक्तिशाली राज्य पिछडे हुए राज्यो की उन्नति के लिये सहयोग व सहायता प्रदान करें।

(३) ससार के सब राज्यो का एक ऐसा सगठन कायम हो, जो विविध राज्यो को अपने आदेशो का पालन करने के लिए विवश कर सके। विश्व मे शांति स्थापित रखने के लिये बीसवी सदी मे राष्ट्रसघ और सयुक्त राज्यसघ के रूप मे जो दो प्रयत्न हुए उन्हे अधिक पूर्णता तक पहुँचाया जाए। जिस प्रकार राज्य द्वारा व्यक्तियो की उच्छृङ्खलता मर्यादित की जाती है, और प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रता के साथ अपने व्यक्तित्व के विकास का अवसर प्राप्त होता है, वैसे ही एक विश्वसघ की स्थापना द्वारा राज्यो की उच्छृङ्खलता को मर्यादित किया जाए, और सब राज्यो को अपनी सभ्यता व सस्कृति का स्वतन्त्रतापूर्वक विकास करने का अवसर दिया जाए। वस्तुत, राज्यो की असली स्वतन्त्रता इस प्रकार के विश्वसघ की स्थापना द्वारा ही सुरक्षित रह सकती है।

इन्हीं कारणो से अब विश्व की एक सरकार का विचार निरन्तर जोर पकडता जा रहा है, और अनेक विचारक यह कल्पना करने लगे है कि शीघ्र ही सम्पूर्ण ससार एक राजनीतिक सगठन मे सगठित हो जायगा। सब राज्य इस विश्व सरकार की अधीनता मे होगे, और विश्व के इस सघ मे उनकी अपनी स्वतन्त्र स्थिति सुरक्षित रहेगी।

विश्व सरकार की स्थापना मे बाधाएँ—

ससार मे एक अन्तर्राष्ट्रीय सरकार की स्थापना होनी चाहिए, इस विचार को आजकल के राजनीतिज्ञ प्राय स्वीकार करने लगे हैं। पर अभी इस आदर्श को क्रिया मे परिणत करने मे अनेक बाधाएँ हैं—(१) अभी साम्राज्यवाद का पूरी तरह से अन्त नही हुआ है। अफ्रीका महाद्वीप के बडे भाग पर अब तक भी पाश्चात्य देशो का शासन विद्यमान है। फ्रास, ब्रिटेन, बेल्जियम आदि के साम्राज्य अभी अफ्रीका मे कायम हैं। एशिया भी अभी पूरी तरह से स्वाधीन नही हुआ है। सिंगापुर, हागकाग, गोआ आदि अनेक एशियन प्रदेश यूरोपियन राज्यो के सीधे शासन में हैं। हालैण्ड और फास के पुराने विशाल साम्राज्यो के अवशेष अभी तक भी एशिया मे विद्यमान हैं। अभी पाश्चात्य देश इस स्थिति मे हैं, कि ईरान, पाकिस्तान, तुर्की, फिलिप्पीन आदि के साथ सैनिक सन्धियाँ करके उन्हे अपने वशवर्ती बना सकें। माल्टा, साइप्रस, जिबराल्टर आदि के रूप मे यूरोप मे भी साम्राज्यवाद के खण्डहर अब तक विद्यमान है। जब तक ससार के सब देश पूर्णतया राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त नही कर लेंगे, और साम्राज्यवाद का पूरी तरह से अन्त नही हो जायगा, विश्व सरकार की स्थापना सम्भव नही होगी।

(२) विचारधाराओ का परस्पर विरोध भी विश्व सरकार की स्थापना मे एक भारी बाधा है। इस विरोध के कारण इस समय ससार के विविध देश दो गुटो मे विभक्त हो गये हैं। रूस कम्युनिस्ट व्यवस्था का पक्षपाती है। पोलैण्ड, चेकोस्लोकिया, हगरी आदि पूर्वी यूरोप के अनेक देशो ने भी कम्युनिस्ट व्यवस्था को अपना लिया है। एशिया मे चीन मे कम्युनिस्ट सरकार कायम हो चुकी है, और उत्तरी कोरिया व उत्तरी वियत-नाम भी कम्युनिज्म के अनुयायी है। ससार के प्राय सभी देशो मे कम्युनिस्ट पार्टियाँ कायम हैं, और वे अपने-अपने देशों मे कम्युनिस्ट व्यवस्था की स्थापना के लिए प्रयत्नशील हैं। कम्युनिस्ट देश रूस को अपना नेता मानते हैं। इसके विपरीत बहुत-से देश ऐसे है, जो लोकतन्त्रवाद के पक्षपाती हैं, और सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार को कायम रखना चाहते है। ये देश कम्युनिज्म के घोर विरोधी हैं, और उसे मानव सभ्यता के लिए अनर्थकारी समझते हैं। इन देशो का नेता सयुक्त राज्य अमेरिका है। रूस और अमेरिका के गुटो मे जब तक परस्पर विरोध व विद्वेष रहेगा, ससार मे एक सरकार की स्थापना का प्रश्न तो दूर रहा, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का विकसित होना भी सम्भव नही होगा।

(३) ससार मे कुछ देश अत्यन्त धनी व उन्नत है। विज्ञान और व्यवसाय के क्षेत्र मे वे बहुत आगे बढे हुए हैं। वे पिछडे हुए देशो की आर्थिक उन्नति मे सहायता तो करना चाहते हैं, पर उनकी सहायता साम्राज्यवाद का रूप भी ले सकती है। अमेरिका पाकिस्तान, ईरान, भारत आदि को व्यावसायिक उन्नति के लिए सहायता

देने को तत्पर है। पर इस सहायता के कारण इन देशों के आर्थिक और राजनीतिक जीवन पर अमेरिका का प्रभाव निरन्तर बढ़ता जा रहा है। रूस भी पिछड़े हुए देशों की सहायता के लिए उत्सुक है। चीन उसी की सहायता से अपनी उन्नति कर रहा है। भारत, बरमा आदि को सहायता देने के लिए भी रूस तैयार है। पर उसकी सहायता का रूप भी ऐसा हो सकता है, जिससे ये देश उसके प्रभाव म आ जाएँ। पिछड़े हुए देश अपनी उन्नति तभी कर सकते है, जबकि कोई सम्पन्न व उन्नत देश उनकी सहायता के लिए उद्यत हो। पर इस सहायता का रूप ऐसा होना चाहिए, जिससे पिछड़े हुए देशो की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को किसी भी प्रकार से क्षति न पहुँचे। ससार का अन्तर्राष्ट्रीय सगठन तभी हो सकता है, जब कि उसके सब सदस्य सम्पन्न व शक्तिशाली हो। इसके लिए यह आवश्यक है, कि उन्नत देश नि स्वार्थभाव से पिछड़े हुए देशों की सहायता के लिए अग्रसर हो, और धीरे-धीरे उन्हे अपना समकक्ष बना ल।

पञ्चशील का सिद्धान्त

इन सब बाधाओ को दूर करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे एक नवीन सिद्धान्त का आविष्कार हुआ है, जिसे 'पञ्चशील' कहा जाता है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सब से पूर्व इण्डोनीसिया और भारत ने किया था। पर बाद मे अनेक अन्य देशो ने भी उसे स्वीकार कर लिया। इस समय चीन, रूस, भारत, बरमा, इण्डोनीसिया आदि बहुत से देश इसे स्वीकार कर चुके हैं। इस सिद्धान्त के आधार पाँच है, जिन्हे पाँच शील कहा जाता है। ये पाँच शील निम्नलिखित है—

(१) सब राज्य एक दूसरे की प्रभुता और भौगोलिक सीमाओं को स्वीकार करें।

(२) कोई किसी पर आक्रमण करके उसकी राष्ट्रीय सीमाओ का अतिक्रमण न करे।

(३) कोई राज्य किसी अन्य राज्य के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप न करे।

(४) सब एक दूसरे को समान समझे व पारस्परिक हित मे सहयोग दे।

(५) सब राज्य शान्तिपूर्वक एक दूसरे के साथ रहे, और अपनी स्वतन्त्रता व पृथक् सत्ता को कायम रखें।

इन सिद्धान्तो मे महत्व की बात यह है, कि भिन्न प्रकार की आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्थाओ का अनुसरण करने वाले राज्यो द्वारा भी यह स्वीकार किया जाता है कि वे एक दूसरे की प्रभुता व राष्ट्रीय सीमाओ का आदर करेंगे, और कोई किसी के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप नही करेगा। चीन, बरमा, रूस, भारत, इण्डोनीसिया आदि राज्य पचशील के इस सिद्धान्त को स्वीकार कर चुके हैं, यद्यपि

इन सबकी आर्थिक व्यवस्था और शासन का ढंग एक सदृश नहीं है। चीन और रूस मे कम्युनिस्ट व्यवस्था कायम है, और भारत, बरमा आदि मे लोकतन्त्र शासन विद्यमान है। पर इन भेद की उपेक्षा करके ये राज्य इस बात के लिए तैयार हैं, कि शान्तिपूर्वक साथ-साथ रहें, और परस्पर मित्रता रखते हुए एक-दूसरे की सहायता भी करें।

१९५५ ईस्वी के प्रारम्भ मे बाडुग मे एशियन और अफ्रीकन देशो की एक कान्फ्रेन्स हुई, जिसमे २९ राज्यो के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इस कान्फ्रेंस ने भी पचशील के सिद्धान्त को कुछ थोडे से परिवर्तन के साथ स्वीकार कर लिया। चीन और भारत जैसे विशाल एशियन देश इस कान्फ्रेंस में सम्मिलित थे। अब रूस ने भी इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है। यदि सयुक्तराज्य अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रान्स आदि लोकतन्त्रवाद के पक्षपाती पाश्चात्य देश भी 'पचशील' के सिद्धान्त को स्वीकार कर लें और यह मान लें कि (१) परस्पर विरोधी विचारधाराओ व आर्थिक व्यवस्थाओ के अनुयायी देश भी ससार मे मित्ररूप से साथ-साथ निवास कर सकते हैं, और (२) किसी राज्य को किसी दूसरे राज्य की प्रभुता व राष्ट्रीय सीमाओ मे हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, तो ससार अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर बहुत तेजी के साथ पग बढा सकता है, और विश्व मे एक शासन व एक सरकार की स्थापना का स्वप्न भी पूरा किया जा सकता है।

नागरिकता का चरम आदर्श—

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, और सबकी उन्नति मे ही उसकी उन्नति है। इस तथ्य को दृष्टि मे रखकर यह कहा जा सकता है, कि नागरिकता का चरम आदर्श यह है, कि प्रत्येक मनुष्य अपने को विश्व का नागरिक समझे। जाति, धर्म, भाषा, रग, राष्ट्रीयता आदि के सकीर्ण भेदभाव की उपेक्षा कर पृथिवी के सब निवासी मनुष्य परस्पर मिलकर शान्ति के साथ अपनी सामूहिक उन्नति के लिए तत्पर हो। ज्ञान-विज्ञान की उन्नति ने अब वह समय ला दिया है, जब कि सकीर्ण राष्ट्रीयता की उपेक्षा कर मनुष्य को विश्व नागरिकता का आदर्श अपने सम्मुख रखना होगा, और मानव-समाज के हितों के सम्मुख राष्ट्रीय हितो को भी गौण मानना होगा।

मनुष्य के नागरिक जीवन का विकास धीरे-धीरे हुआ है। कोई समय था, जब कि मनुष्य छोटे-छोटे जनो (कबीलो) मे सगठित था। कबीले के प्रति वह अपने कर्तव्यों का पालन करता था, पर अपने कबीले से बाहर के लोगों को अपना शत्रु समझा करता था। बाद मे छोटे-छोटे जनपदो (राज्यो) का विकास हुआ, और उन जनपदो के निवासियों के प्रति मनुष्य अपने कर्तव्यों का पालन करने लगा। छोटे जनपदो के बाद महाजनपदो और साम्राज्यो का विकास हुआ। भारत के इतिहास पर

ही दृष्टि डालिए। महाभारत के समय मे इस देश मे सैकड़ो छोटे-छोटे राज्य थे। अठारहवी सदी मे जब अंग्रेजो ने भारत मे अपनी शक्ति का विस्तार शुरू किया, तब भी यहाँ बहुत से राज्यो की सत्ता थी। पर अब भारत एक देश है, एक राष्ट्र है। यहाँ के सब नागरिक अपने को भारतीय समझते है। धर्म, भाषा, नसल आदि के भेद अब उनमे विरोधभाव को उत्पन्न नही करते। हमारी नागरिकता की भावना अब पहले के मुकाबिले में बहुत अधिक व्यापक हो गई है। भारत के हितो के सम्मुख अब हम अपने कुटुम्ब, बिरादरी, धर्म, नगर, प्रान्त आदि के हितों को कुर्बान करने के लिए उद्यत हैं।

पर नागरिकता का चरम आदर्श हमें और आगे बढने के लिए प्रेरित करता है। हमे अब अपनी दृष्टि को और अधिक विशाल करना चाहिए। सकीर्ण राष्ट्रीयता से ऊँचा उठकर अब हमे मानव-समाज के प्रति अपने कर्तव्यो को समझना चाहिए, और विश्व के नागरिक के रूप मे हमारे जो कर्तव्य हैं, उन्हे भी दृष्टि मे रखना चाहिए।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ अन्तर्राष्ट्रीयता का क्या अभिप्राय है ? वे कौन-सी परिस्थितियां हैं, जिनके कारण अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास हो रहा है ?

२ क्या अन्तर्राष्ट्रीयता राष्ट्रीयता की विरोधी है ? अपने मत को युक्तियो द्वारा पुष्ट कीजिये।

३ राजनीतिक क्षेत्र मे अन्तर्राष्ट्रीयता की आवश्यकता किन कारणों से है ?

४ सयुक्त राज्यसघ (U N O) के सगठन व कार्यों का सक्षेप मे वर्णन कीजिये। क्या भारत सघ का सदस्य है ? (राजपूताना १९५२)

५ आप अन्तर्राष्ट्रीयता का क्या भविष्य समझते हैं ?

६ 'नागरिकता का चरम आदर्श क्या है ?' इस पर एक निबन्ध लिखिये।

७ विश्व सरकार की स्थापना मे कौन-सी मुख्य बाधाएँ हैं ? यह विचार किस प्रकार क्रिया मे परिणत किया जा सकता है ?

———